

102



ब्रह्मज्ञान और उसकी साधना



[श्रीमद्भगवद्गीताका तेरहवाँ अध्याय]

क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग



I

स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती



प्रथम संस्करण : ३०००

●
मूल्य : ६५० *21/04*

(छः रुपये पचास पैसे मात्र)

नवम्बर, १९६८

●
प्रकाशक

ब्र० प्रेमानन्द 'दादा'

'विपुल'

२८/१६

मालावार हिल

बम्बई-६

मुद्रक

विश्वम्भरनाथ द्विवेदी

आनन्दकानन प्रेस

सीके, ३६/२०

दुण्डिराज

वाराणसी-१



ब्रह्मज्ञान
और
उसकी साधना

श्रीमद्भगवद्गीताका तेरहवाँ अध्याय



महाराष्ट्र
राज्य
महाराष्ट्र
राज्य
महाराष्ट्र
राज्य

॥ श्रीहरिः ॥

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विभाग-योगः

(श्रीमद्भगवद्गीतायाः त्रयोदशोऽध्यायः)

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।

एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १ ॥

[पृष्ठ : १७]

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ २ ॥

[पृष्ठ : २५]

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।

स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥

[पृष्ठ : ३७]

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।

ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

[पृष्ठ : ३८]

महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।

इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥

[पृष्ठ : ४०]

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः ।

एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

[पृष्ठ : ४६]

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम् ।

आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मनिग्रहः ॥ ७ ॥

[पृष्ठ : ५१]

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च ।

जन्ममृत्यु-जराव्याधि-दुःखदोषा-ऽनुदर्शनम् ॥ ८ ॥

[पृष्ठ : ७३]

[ख]

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।

नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥

[पृष्ठ : ८८]

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।

विविक्तदेशसेवित्व - मरतिर्जनसंसदि ॥ १० ॥

[पृष्ठ : ९७]

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।

एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ ११ ॥

[पृष्ठ : ११०]

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ।

अनादिमत् परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ १२ ॥

[पृष्ठ : ११९]

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।

सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १३ ॥

[पृष्ठ : १३८]

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।

असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ १४ ॥

[पृष्ठ : १५१]

बहिरन्तरश्च भूतानामचरं चरमेव च ।

सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ १५ ॥

[पृष्ठ : १६६]

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।

भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं असिष्णु प्रभविष्णु च ॥ १६ ॥

[पृष्ठ : १८०]

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।

ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥ १७ ॥

[पृष्ठ : १८६]

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।

मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ १८ ॥

[पृष्ठ : १९७]

[ग]

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।

विकारांश्च गुणांश्चैव विद्वि प्रकृतिसंभवान् ॥ १९ ॥

[पृष्ठ : २०५]

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।

पुरुषः सुखदुःखनां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ २० ॥

[पृष्ठ : २०९]

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।

कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ २१ ॥

[पृष्ठ : २११]

उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।

परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥ २२ ॥

[पृष्ठ : २१६]

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।

सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ २३ ॥

[पृष्ठ : २२२]

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।

अन्ये साङ्ख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥ २४ ॥

[पृष्ठ : २२५]

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्यः उपासते ।

तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ २५ ॥

[पृष्ठ : २४४]

यावत्सञ्जायते किञ्चित् सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्वि भरतर्षभ ॥ २६ ॥

[पृष्ठ : २४५]

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।

विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥ २७ ॥

[पृष्ठ : २४६]

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।

न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥ २८ ॥

[पृष्ठ : २४७]

[घ]

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।

यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ २९ ॥

[पृष्ठ : २५१]

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।

तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ ३० ॥

[पृष्ठ : २५८]

अनादित्वाग्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।

शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥ ३१ ॥

[पृष्ठ : २५९]

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।

सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ ३२ ॥

[पृष्ठ : २६३]

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।

क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३३ ॥

[पृष्ठ : २६७]

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।

भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ ३४ ॥

[पृष्ठ : २७०]

ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे

श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगो

नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

भूमिका

गीता अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णका विज्ञानोद्गारी परम मधुर दिव्य संगीत । भागवत-संगीत अर्थात् भगवान्से उत्पन्न समग्र प्रजाके लिए आनन्द, प्रकाश और दिव्य जीवनका अनुभूतिमय सन्देश । यह सात्त्विक-राजस-तामस सम्पूर्ण प्रजाके लिए हितकारी है । स्वधर्ममें निष्ठा, उसका पालन और संवर्द्धन, साथ ही साथ फलकी उपलब्धि इस विद्याकी विशेषता है । भगवान् सच्चिदानन्द अव्यय हैं, उनके वचनके अर्थ भी वे ही हैं ।

आइये, इस संगीतके ताल-स्वरमें ही नहीं, इसके निभृत अन्तरंगमें प्रवेश करके देखें कि भगवान् किन दोषोंकी दूर करना चाहते हैं, हमारे जीवनमें किन गुणोंका आधीन करना चाहते हैं और हमारे अन्दर कौन-सी अपूर्णताएँ, हीनताएँ हैं जिन्हें निकालकर वे हमें सर्वांगपूर्ण बनाना चाहते हैं ।

प्रसंगप्राप्त तेरहवें अध्यायपर ही विचार करें । तेरहवाँ अध्याय एक सीधी-सादी सार्वजनीन अनुभूतिका अनुवाद करता हुआ प्रारम्भ होता है । शरीर क्षेत्र है और इसका ज्ञाता क्षेत्रज्ञ । जड़ और चेतन, यह और मैं, प्रकाश्य और प्रकाशक । क्षेत्रका विस्तार अत्यन्त विशाल है । एक नन्हें-से देहसे प्रारम्भ करके प्रकृति पर्यन्त । इच्छा, द्वेषादि क्षेत्रके स्वभाव हैं कि विकार हैं, इस प्रपञ्चमें पड़नेकी आवश्यकता नहीं । वे विकार हैं तो भी विकारी होना क्षेत्रका ही स्वभाव है, क्षेत्रज्ञका नहीं । कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंके त्रैकालिक उदय-विलयकी बीजभूता प्रकृति अपने वृद्धि-ह्रासके लिए प्रेरक संस्कार आदिकी अपेक्षा रखती है । वह सर्वथा सम्यक् ही होती है । जीव केवल सन्मा । जीवन है । बीज बक रसे प्रारम्भ होकर बहिर्मुख-अन्तर्मुख होता रहता है । जीव देहाकाल-विशेष-निरपेक्ष अन्तःस्थ अनन्त जीवन है । कर्म और फल बीजमें हैं, जीवमें नहीं । क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके हेतुफलात्मक बीज और हेतुफल-निरपेक्ष चेतनके विवेकके बिना जन्म-मरणरूप संसारसे मुक्ति नहीं हो सकती । संसार—संसरण, अनेक अवस्थाओंमें भटकना, जीवन-मरण चर-अचर, सुख-दुःख-यही द्वन्द्वात्मक संसार हैं । विज्ञेय-समाधि भी द्वन्द्व है, साधन-साध्य भी द्वन्द्व है, उपासक भी द्वन्द्व है । क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका विवेक द्वन्द्वों । अतीत होनेकी प्रथम निःश्रेणी है । क्षेत्रज्ञका शरीर केवल एक देह ही नहीं है, सम्पूर्ण प्रकृति और प्राकृत है । इसलिए श्रीकृष्णने क्षेत्रकी विशाल मर्यादाके अनुसार क्षेत्रज्ञको अपना स्वरूप बताया । समग्र समष्टि शरीर है और शरीरी हैं स्वयं भगवान् । क्या इससे यह ध्वनि नहीं निकलती कि छोटे-छोटे

शरीर और अनेक जीव स्वप्नके शरीर—और जीवोंके समान ही शरीराभास और जीवाभास हैं। अपरिच्छिन्न जीवन ही सच्चा जीवन है।

शिष्टाग्रणी भगवान् श्रीकृष्ण इस सिद्धान्तको केवल अपनी अनुभूति अथवा उद्भावा नहीं बताते, प्रत्युत छांदस अर्थात् वैदिक, आर्ष अर्थात् स्मार्त, ब्रह्मसूत्र और युक्तियोंके द्वारा सर्वथा निश्चित बतलाते हैं। यह केवल आदेश अथवा शासन करनेवाला शास्त्र नहीं है, यह यथार्थका शंसन करनेवाला शास्त्र है। इसे केवल वक्ताके प्रभावसे अभिभूत होकर मत मानिये, युक्ति-प्रमाणसिद्ध रूपमें हृदयंगम कीजिए।

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके निरूपणके अनन्तर साधनका निरूपण है। (वाधा-विघ्न न हों तो साधनकी आवश्यकता ही क्या ? इसलिए साधन और साधन-विरोधी—दोनोंका ही निरूपण है) क्षेत्र-ज्ञानके लिए साधनकी अपेक्षा नहीं है, परन्तु क्षेत्रज्ञके वास्तविक स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए साधनकी अपेक्षा है। यह दूसरेके घर जाना नहीं, अपने घरमें बैठना है, इसलिए यहाँ भी ज्ञान और अज्ञानका विभाग है। (अज्ञान-विभागमें वीस पदार्थ हैं—मातृ, दम्भ, हिंसा, दण्ड देना, कुटिलता, गुरुपर श्रद्धा न करना, अपवित्रता, चंचलता, इन्द्रियोंको न रोक सकना, विषयमें रागद्वेष होना, अहंकार करना, संसारमें दोषदृष्टि न होना—आसक्ति होना, संसारके संबन्धियोंमें उलझ जाना, इष्ट-अनिष्टकी प्राप्तिमें चित्तका एकरस न रहना, भगवद्भक्ति न होना, एकान्तमें रुचि न होना, भीड़ भाड़में रुचि होना, भौतिक ज्ञानमें ही लगे रहना, तत्त्वज्ञानके प्रयोजन, अनर्थ-निवृत्ति और परमानन्द प्राप्तिको न समझना। अज्ञानकी इन वीस संतानोंसे बचे बिना ज्ञानकी साधना नहीं होती। मूलमें यह बात स्पष्ट है।)

ज्ञेयका जैसा स्वरूप-वर्णन किया गया है वहाँ क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ अथवा ज्ञान-अज्ञानके उमान द्वन्द्वयुक्त नहीं है। वह अद्वितीय है। उसके ज्ञान-मात्रसे ही अमृतत्वकी प्राप्ति होती है। (वह देशकाल वस्तुकृत परिच्छेदके अत्यन्ताभावसे उपलक्षित बाह्यमनसगोचर प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न परब्रह्म परमात्मा ही है। सब शक्तियाँ और सब विषय उसीमें भास रहे हैं। वस्तुतः न उसमें कोई शक्ति है, न विषय। उसमें बाहर-भीतर और चर-अचरका भेद नहीं है। वह दूर भी है, निकट भी है। न घटादिके समान प्रत्यक्ष है, न स्वर्गादिके समान परोक्ष।) वह सब प्रकाशोंका प्रकाश है, अज्ञानकी छाया-मायासे रहित है। ज्ञान भी वही, ज्ञेय भी वही, चर भी वही, अचर भी वही; फिर इसके सिवा और क्या है ? वह प्रतिशरीरमें अन्वित, प्रत्यक् ही है। इस प्रसंगमें अतर्कित रूपसे इस ज्ञानके अधिकारीका निरूपण कर दिया गया है। यह अद्वितीय आत्मा ब्रह्म किसके अनुभवमें आता है, इसका विज्ञान किसे होता है ? मेरे भक्तको। वारहवें और तेरहवें अध्यायकी यही परस्पर संगति है। वारहवें अध्यायमें वर्णित भक्तको ही तेरहवें अध्यायमें प्रतिपादित वस्तुतत्त्वका साक्षात्कार होता है।

इस अध्यायमें वर्णित परमात्मा ज्ञान भी है और ज्ञेय भी। अभिप्राय यह हुआ कि क्षेत्राभिन्न ज्ञान ही परमात्माका स्वरूप है। वह सबके हृदयमें विराजमान है। इसका तात्पर्य यह है कि वह शारीरिक प्रत्यक्चैतन्य ही है। वही अस्तिष्णु, प्रभविष्णु और भर्ता होनेके कारण अभिन्ननिमित्तोपादान कारणरूपसे अद्वितीय है; प्रकाशक, ज्योति तथा ज्ञानस्वरूप

होनेके कारण विवर्ती है, क्योंकि चैतन्य परिणामी नहीं हुआ करता । आत्मासे अभिन्न होनेके कारण चैतन्य है, चैतन्य होनेके कारण अपरिणामी है; अपरिणामी, अद्वितीयमें प्रपञ्च भास मात्र है ।

(प्रकृति और पुरुष दोनों अनादि हैं । परन्तु पुरुष कूटस्थ, अपरिणामी और ब्रह्म है । इसलिए अनादि और अनन्त है) प्रकृति माया है, परन्तु विकारिणी और त्रिगुणमयी होनेके कारण नाशवान् और भेदरूप है । इसलिए इसकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है । भेद और विकार दोनों ही प्रकाश्य होते हैं । इसलिए अपनी सत्ता लाभ करनेके लिए उन्हें प्रकाशकसत्ता-सापेक्ष होना पड़ता है । (पुरुष एक है, प्रकाश है, निर्विकार है, निरपेक्ष है, अनादि-अनन्त है, निराधार है, अपना आत्मा है) प्रकृति अनेकरूपिणी है, प्रकाश्य है, विकारिणी है, सापेक्ष है, अनादि-सान्त है, साधार है, अनात्मा है । इसका अभिप्राय यह हुआ कि यह प्रकृति स्वतंत्रसत्ता नहीं है, अनिर्वचनीय मायामात्र ही है । जब तक ब्रह्मात्मैक्यबोध नहीं होता, तब तक यह अनादित्वेन कल्पित है । यह ब्रह्मज्ञान होनेपर बाधित हो जाती है । तब इसका अनादित्व भी बाधित हो जाता है । इसका अर्थ है कि अज्ञानियोंके लिए प्रकृतिका अनादित्व चरितार्थ है, ज्ञानियोंपर प्रकृतिकी भासमानताका कोई प्रभाव नहीं पड़ता । (यही प्रकृति कर्म करती है । पुरुष इसके साथ तादात्म्यापन्न होकर भोक्ता अथवा उपलब्धा बनता है । यही प्रकृतिके साथ तादात्म्यापत्ति प्रकृतिके गुणोंको पुरुषके साथ जोड़ देती है) और वह प्रकृतिके गुणोंको अपनेमें मानकर—इतर धर्मको अपनेमें मानकर अव्यस्त कर लेता है । यह अध्यास ही पुरुषको जन्म-मृत्यु, रागद्वेष, सुखदुःख और गमनागमनके चक्रमें डालता है । वस्तुतः ये सारी बातें मायामयी प्रकृतिमें ही हैं । पुरुषके साथ इनका कोई सम्बन्ध नहीं है । तत्त्वतः इस शरीरमें विद्यमान चेतन पुरुष इस शरीरसे सर्वथा परे है । महेश्वर, परमात्मा आदि उसीके नामविशेष हैं, कोई तात्त्विक भेद नहीं है ।

जब पुरुष अपनेको इस रूपमें जान लेता है और मायामयी प्रकृतिके नर्तन-कर्तन आदिको मिथ्या दृश्यके रूपमें देखता है, तब कोई वृत्ति-प्रवृत्ति, व्यवहार उसको प्रभावित नहीं करता । पुण्यपापादि परिपाकजन्य सुख-दुःखाद्याकारवृत्तिविशेष, प्रिय-अप्रिय विषयका स्फुरण अथवा प्रकृति-प्राकृत-सम्बन्ध उसको प्रभावित नहीं करता, क्योंकि उसकी अनुभूतिमें प्रकाशमानतासे पृथक् और कोई सत्ता नहीं है । इसी पुनर्जन्मरहित जीवन्मुक्त पुरुषका निरूपण चौबीसवें श्लोकमें किया गया है ।

साधनाका विचार करते समय कहा गया है—आत्मा ही आत्मासे आत्मामें आत्माको देखता है । इसके लिए ध्यान, सांख्ययोग, कर्मयोग और श्रद्धापूर्वक श्रवण हेतु है । सबका फल है जन्ममृत्युके चक्रसे मुक्ति । मृत्युसे मुक्ति अर्थात् परिच्छिन्नताके अभिमानसे मुक्ति । सम्पूर्ण प्राणियोंका शरीर क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ संयोगसे बना है और विवेकसे क्षेत्रज्ञको पृथक् कर लेनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि क्षेत्रज्ञ ब्रह्म है और क्षेत्रज्ञी केवल प्रातिभासिक सत्ता है । आप देखें कि गीतामें बताया गया है—

(१) परमेश्वर सबमें सम और कूटस्थ है ।

(२) वह देश-काल-वस्तुओंके विनाशरूप परिवर्तनमें अविनाशी है ।

: ४ :

(३) पहले कही हुई दोनों बातोंके ज्ञानसे अपने आपमें हीनता अर्थात् परिच्छिन्न-ताका भ्रम नहीं रहता । यही परागति है ।

(४) कर्मका सम्बन्ध आत्मासे नहीं है । यह मायामयी प्रकृतिका ही विलास है । अतएव भोगके साथ भी इसका कहीं सम्बन्ध नहीं ।

(५) यह कार्य-कारणात्मक सम्पूर्ण प्रपञ्च एकमें ही उदय-विलय, भावाभावको प्राप्त हो रहा है । वह एक अपना आत्मा ही है—स्वयंप्रकाश चैतन्य । वह कालसे तादात्म्य किये बिना नित्यानित्य नहीं होता, देशसे तादात्म्य किये बिना व्याप्य-व्यापक नहीं होता, द्रव्यसे तादात्म्य हुए बिना कार्य-कारण नहीं होता । अज्ञानको स्वीकृति दिये बिना अनेक नहीं होता । इसी अज्ञानके निवर्तक बोधका नाम ब्रह्मात्मैक्यविद्या है ।

(६) यह प्रतीयमान शरीरमें विद्यमान होनेपर भी शरीरके समान सादि नहीं, अनादि है; सगुण नहीं, निर्गुण है; विनाशी नहीं, अविनाशी है; जीव नहीं शिव है; यह कर्त्ता और भोक्ता भी नहीं ।

(७) वह आकाशके समान सर्वगत तो है; परन्तु यह भूताकाश या चित्ताकाश नहीं, चिदाकाश है । इसलिए अव्यक्त महत्त्वादिरूप प्रतीयमान समष्टि व्यष्टि शरीरमें यावदज्ञान, अनुवृत्त-व्यावृत्त प्रतीत होता हुआ भी वस्तुतः उन दोनोंसे निर्मुक्त ब्रह्म ही है । इसलिए सर्वथा निर्लेप है, जलमें कमलके समान नहीं, नीलिमामें आकाशके समान । वह आकाश ही नहीं, प्रकाश भी है । इसीसे तो चिदाकाश है ।

(८) ज्ञानदृष्टिसे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका विवेक करके जान लो कि प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्ममें भूतप्रकृतिका अर्थात् कारण-कार्यभावका नितांत अभाव है । वस, परमात्माकी प्राप्ति हो गयी ।

यह बात पहले ही कह चुके हैं कि क्षेत्र-विवेक करनेके लिए अन्तःकरण शुद्धिकी आवश्यकता नहीं है । परन्तु ब्रह्मज्ञानके लिए उसकी नितांत आवश्यकता है । इसीसे तेरहवें अध्यायमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विवेकके अनन्तर और ब्रह्मज्ञानके पूर्व साधनाका विवरण है । अब एक बार साधनाओंके क्रमपर सामान्य दृष्टि डाल लें ।

(१) कर्म, वचन और भोगमें नियन्त्रण लानेवाली साधना धर्म है । यह वासनानुसारी नहीं, शासनानुसारी कर्मका नाम है । राजशासन बहिरंग है और उसके शासक भी उद्दण्ड हो सकते हैं । परन्तु धर्मशासन लोक-परलोक एवं अन्तःकरणकी-शुद्धिको दृष्टिमें रखकर होता है । धर्मशासन भी शास्त्रानुसारी होनेपर अनुशासन हो जाता है । शास्त्रमें उदण्डताके लिए स्थान नहीं है । क्या हम जो चाहें वही करें, बोलें और भोगें ? तब तो पशु और मनुष्यमें कोई अन्तर नहीं रहेगा । इसलिए श्रद्धा और विचारके सहकारसे शिष्टानुशिष्ट जीवन व्यतीत करना मनुष्यके लिए अवश्य कर्तव्य है । कर्म-साधनाकी अनेक स्थितियाँ होती हैं ।

अ—कर्म न होना तमोगुण है । कर्म होना रजोगुण है ।

आ—कर्म होना परन्तु निषिद्ध होना या विहित होना ।

इ—कर्म विहित होना परन्तु सकाम या निष्काम होना ।

: ५ :

ई—कर्मका कर्तृव्यबुद्धिसे होना अथवा विराट्-साकार-निराकार ईश्वरके लिए होना ।

उ—कामना होना, परन्तु कर्म न होना—मिथ्याचार । ✓

ऊ—कामना न होना परन्तु कर्म होना—निष्काम कर्म । ✓

ए—कामना और कर्म दोनों होना—संसारी व्यवहार ।

ऐ—कामना और कर्म दोनों न होना—संन्यास । ✓

ओ—कामना और कर्म दोनोंके होने-न-होनेमें अहंकार होना ।

औ—दोनोंमें अहंकार न होना परन्तु अज्ञान होना ।

अं—अज्ञान न होना परन्तु समाधिस्थ होना या व्यवहारमें लगना ।

इन प्रकार हम ज्यों-ज्यों अन्तर्मुख होकर विचार करते जायेंगे साधनाकी गूढ़से गूढ़तम स्थिति प्रकट होती जायगी । यह जानकर आपको कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए कि हम एकाग्र होकर जिस विषयपर विचार करते हैं वह उसी विषयका आकार ग्रहण कर लेता है । इसका अभिप्राय यह है कि यदि हम समाधिके सम्प्रज्ञात-असम्प्रज्ञात, सवीज-निर्वीज आदिके स्वरूपपर विचार करेंगे तो समाधि लग जायगी । भृगवान्के स्वरूपपर विचार करेंगे तो भगवद्भावापत्ति होगी और ब्रह्मपर विचार करेंगे तो ब्रह्माकार वृत्ति हो जायगी । कर्म-साधना कर्त्तव्य अर्थात् होती है इसलिए वह कर्त्तव्यमें विशेषता उत्पन्न करती है, वस्तुके यथार्थ स्वरूपके बोधनमें समर्थ नहीं होती ।

(२) उपासना मनको शासनानुसारी बनानेमें है, वासनानुसारी नहीं । इसमें कर्त्ता गौण हो जाता है और इष्टदेव मुख्य । दोनों रहते हैं परन्तु प्रधानता उपास्यकी ही रहती है । इसके चार स्तर होते हैं—

अ—(किसी अल्प स्थानमें अल्प काल रहनेवाली अल्प वस्तुमें भावसे ईश्वरबुद्धि बनाना । अज्ञको सर्वज्ञ, परिच्छिन्नको पूर्ण, जड़को चेतन और सान्तको अनन्त मानकर अपनी वृत्तिको ईश्वराकार बनाया जाता है । यह कार्योपासना है । इसके अन्तर्गत मूर्तिपूजा, पतिपूजा, गुरुपूजा सबका समावेश हो जाता है । यह विराट्के एक अवयवमें पूर्णकी भावना है) ✓

आ—(विशालमें ईश्वरबुद्धि, स्थूल-समष्टि अथवा सूक्ष्म-समष्टिमें विराजमान चैतन्यके रूपमें ईश्वरकी भावना करना । देशसेवा, विश्वसेवा, मानवसेवा, जीवसेवा सब इसीके अन्तर्गत हैं) ✓

इ—देशकी विशालता, कालकी नित्यता और द्रव्यकी बीजरूपता तीनोंको एकमें मिलाकर कारणमें विद्यमान चैतन्यकी उपासना ईश्वरोपासना है । यही सम्पूर्ण जीवजगत्में भरपूर है ।

ई—ऊपर जिन तीनों अवस्थाओंका वर्णन किया गया है, उनका विशेष करके अद्वितीय ब्रह्मके साथ आत्माकी एकताकी भावना ब्रह्मोपासना है । यह तत् रूपसे, अहं रूपसे और दोनोंकी एकता रूपसे—तीनों प्रकारसे होती है ।

उ—इन चारों प्रकारकी उपासनाओंसे अन्तःकरणमें विशेषता उत्पन्न होती है । पहलीसे साकार इष्टमें प्रेम और उसका दर्शन होता है । दूसरीसे रागद्वेषकी निवृत्ति

: ६ :

होती है। तीसरीसे भगवद्-भावापत्ति होती है और चौथीसे ब्रह्मज्ञानकी योग्यताका उदय होता है। इन सभी उपासनाओंमें किसी न किसी प्रकारसे कर्त्तापिन जीवित रहता है, भले ही वह गौण रूपसे हो या लीनरूपसे हो। सायुज्य-मुक्तिमें भी भेदसहिष्णु अभेद ही होता है।

(३) प्रपञ्चके साथ संयोगकी स्फूर्ति-निवृत्ति हो जाना अर्थात् आत्माके साथ उसका योग न होना, दृष्टाका अपने स्वरूपमें स्थित होना—योग है। यह अभ्याससापेक्ष है। इसमें सम्प्रज्ञात समाधि चार प्रकारकी होती है—

अ—स्थूल वस्तुके आलम्बनसे ।✓

आ—सूक्ष्म वस्तुके आलम्बनसे ।✓

इ—आनन्दके आलम्बनसे ।✓

ई—अस्मिताके आलम्बनसे ।✓

इसके बाद असम्प्रज्ञात-समाधि होती है। उसके अनेक अवान्तर भेद होनेपर भी वह मुख्यरूपसे एक ही है। निर्विकल्प, निर्वीज, कैवल्यरूपा स्वरूपस्थिति।

इन समाधियोंमें भी जीवकी अनेकता और जगत्की सत्यताकी भ्रान्ति नहीं मिटती है। भ्रान्तिका निरोध अथवा लयमात्र होता है, बाध नहीं, क्योंकि इनमें अखण्ड अव्यय आत्मचैतन्यका बोध नहीं है। इसलिए अविद्याकी निवृत्तिमें समाधि साक्षात् साधन नहीं हो सकती।

इसलिए तेरहवें अध्यायमें साधनाके प्रसंगमें इन तीनोंका स्पष्ट रूपसे उल्लेख नहीं किया गया है, क्योंकि इन तीनोंका फल अन्तःकरण शुद्धि है, वस्तु-साक्षात्कार नहीं। बंदूककी नली साफ करना और वात है, गोली भरना और वात है तथा लक्ष्यवेध करना दूसरी वात है। ये साधन सीधे लक्ष्यवेध करनेके लिए नहीं हैं, अन्तःकरणकी प्रणाली शुद्ध करनेके लिए हैं। इनका फल है—कर्म-वचन-भोग-विक्षेप, वासनाविक्षेप तथा निरर्थक विक्षेप—इन तीनोंकी निवृत्ति।

गीतामें जिन साधनोंका उल्लेख है वे हैं अमानित्वादि। वे दोष-निवर्तक सद्गुणरूप हैं। उनकी व्याख्या आप मूलग्रन्थमें पढ़ेंगे। इनमें विवेक, वैराग्य, शमादि पटसम्पत्ति और मुमुक्षा व्याप्त हैं। वे पहले तीनोंकी अपेक्षा अन्तरंग होनेपर भी साक्षात् लक्ष्यके स्वरूपका बोध करानेकी अपेक्षासे बहिरंग ही हैं। ध्यान, सांख्ययोग, कर्मयोग इन साधनोंका उल्लेख मतान्तरके रूपमें किया गया है—‘केचित्’ श्रद्धापूर्वक उपासना मन्द अधिकारी अज्ञानीके लिए है। अज्ञानीके लिए इनका विभाग आप इस प्रकार बना लें—

(१) परम्परा साधन—कर्म, उपासना और योग हैं। इनमें बहिर्मुख प्रवृत्ति, अन्तर्मुख प्रवृत्ति और निवृत्ति रहती हैं। कर्ममें स्पष्टकर्ता, उपासनामें गौणकर्ता और योगाभ्यासमें अज्ञातकर्त्ता रहता है। इनके परिणाममें एक साध्य स्थितिकी प्राप्ति होती है; जिसका अन्ततोगत्वा टूटना अनिवार्य है। इसलिए ये ब्रह्मज्ञानमें परम्परासाधन हैं।

(२) बहिरंग साधन—विवेक, वैराग्यादि हैं। ये अन्तःकरणमें ही होते हैं और अन्तःकरणको ही शुद्ध करते हैं। इनमें बाह्य पदार्थ, क्रिया अथवा भावना नहीं है। ये दोष-निवृत्तिरूप हैं। निवृत्ति अपने अधिकरणसे भिन्न नहीं होती। फिर भी ये केवल करणके

शोधक हैं, वस्तुतत्त्वके बोधक नहीं हैं। तत्त्वकी अपेक्षा बहिरंग अन्तःकरणमें ही रहनेके कारण इन्हें बहिरंग साधन कहा जाता है।

(३) अन्तरंग साधन—श्रवण-मनन-निदिध्यासन हैं। ये वस्तुके स्वरूपको ही लक्ष्य करते हैं—तत् पदार्थका श्रवण, त्वं पदार्थका श्रवण, एकताका श्रवण। प्रतिबन्धरहित साधक श्रवणमात्रसे ही कृतार्थ हो जाता है, क्योंकि जहाँ वस्तु परोक्ष होती है वहाँ श्रवणसे परोक्षज्ञान होता है; अपरोक्ष हो और प्रतिबद्ध हो तो भी परोक्षज्ञान होता है, परन्तु बोध्यवस्तु यदि सदा अपरोक्ष स्वयं अपना आत्मा ही हो तो श्रवणसे तत्काल अबाध्य दृढ़ अपरोक्ष ज्ञानकी उत्पत्ति हो जाती है। अपने अद्वय स्वरूपमें अविद्या न कभी थी, न है, न होगी।

यदि अन्तःकरण शुद्ध न हो, प्रतिबन्ध हो तो श्रवणमात्रसे ज्ञान नहीं होता। उसके लिए प्रमाणगत और प्रमेयगत संशयकी निवृत्तिके लिए मनन करना पड़ता है। मननके द्वारा बारंबार संशयकी निवृत्ति होनेपर भी यदि विपर्यय होता हो तो निदिध्यासन करना चाहिए। इन दोनोंसे प्रतिबन्धरहित अखण्डार्थ- ही अविद्याको निवृत्त कर देती है। इसमें भ्रामतीप्रस्थान और विवरण-प्रस्थानका थोड़ा-सा भेद है। शब्दसे अपरोक्षज्ञान अथवा वृत्तिसे। उपहितका अथवा शुद्धका। दोनों ही अद्वैत समुदायमें और युक्तियुक्त हैं—अपनी-अपनी प्रक्रियाकी दृष्टिसे।

(४) साक्षात् साधन—अपने-आपको अद्वितीय ब्रह्मरूप न जानना ही अज्ञान है। इस अज्ञानकी पूर्णतया निवृत्ति करनेवाला ज्ञान ही साक्षात् साधन है। यही संपूर्ण साधनोंका फल है। इस अज्ञानकी निवृत्ति स्वयं कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं है। आत्माके अतिरिक्त अज्ञान निवृत्तिका कोई स्थान, काल या आकार नहीं है। अज्ञानकी निवृत्ति अर्थात् आत्म-चैतन्यस्वरूप ब्रह्म। इसमें बन्धन-मुक्तिकी कोई कल्पना नहीं है।

कर्म, उपासना और योग, ये तीनों साधन-साध्यरूप हैं। ये हेतुफलात्मक हैं। इनके फलका भी एक विज्ञान है। कर्म अनेक प्रकारकी सामग्री और क्रियासे साध्य है। इसलिए उसके फलमें भी अनेकत्व और तारतम्य देखनेमें आता है। जैसे इस लोकमें अल्पसुखी और अधिकसुखी। परलोकमें भी सुखमें न्यूनाधिकता होती है। फल भी नन्दनवन, अप्सरा, विमान, देवशरीरका सौन्दर्य आदि अनेक रूप ही होता है। अभिप्राय यह है कि विशेषयुक्त वैध कर्मसे साध्य स्वर्गादिरूप फल भी विशेषयुक्त ही होता है।

उपासनार्थ वृत्तिकी एकाग्रता होती है क्योंकि इष्टदेव एक ही होता है। एकाग्रतामें भी तारतम्य होनेके कारण उपासनाजन्य फलमें भी तारतम्य होता है। शक्तिविशिष्ट ईश्वरमें तादात्म्य होनेपर जीवको सृष्टि-स्थिति-संहारके कर्तृत्वका एक अंश प्राप्त हो जाता है। इसीको पुराणोंमें साष्टिमुक्तिके नामसे कहा गया है। (सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य और सायुज्य भी एकाग्रताकी विशेषता और न्यूनाधिक्यसे ही प्राप्त होते हैं। इनमें कुछ न कुछ भेद बना रहता है, जीवत्व शेष रहता है और कर्तृत्व-भोक्तृत्व भी ज्ञाताज्ञात रूपसे रहता ही है। कहनेका अभिप्राय यह है कि साधनाके अनुरूप ही फल मिलता है।)

यह पहले ही कह चुके हैं कि योगाभ्यासमें कर्तृत्वपूर्वक अभ्यास होनेके कारण निरोध कालमें भी वह लीन रहता है। लय और अज्ञानका विरोध नहीं है। ज्ञान और

अज्ञान का भी विरोध नहीं है। अज्ञान भासता भी है और लीन भी रहता है। इसलिए अज्ञानकी निवृत्तिके लिए द्रष्टाकी अपने स्वरूपमें अवस्थिति अविच्छिन्नकर है। इसके लिए तो वृत्तिकी शान्ति नहीं, ब्रह्माकारता चाहिए। आर्विधिक भेदग्रन्थिकी निवृत्ति चाहिए।

इन तीनों साधनोंसे जो स्थिति प्राप्त होती है वह परमार्थके आवरणको भंग नहीं करती, क्योंकि परमार्थ घड़ेकी तरह कोई दृश्य पदार्थ नहीं है। घड़ेको बना सकते हैं, गंदा कर सकते हैं, पवित्र कर सकते हैं, दूसरेके घरसे माँगकर ला सकते हैं और तोड़-फोड़ सकते हैं; परन्तु अपना आत्मा ऐसा नहीं है। कर्मका विषय सदा दूसरा होता है, अपना आपा नहीं। कर्म पदार्थका निर्माण करता है, सिद्ध पदार्थके बोधनमें प्रमाण नहीं है। इसलिए यथार्थ वस्तुका अनुभव प्राप्त करनेके लिए साधन-साध्यका व्यवहार अपेक्षित नहीं है, प्रमाण-प्रमेयका विज्ञान अपेक्षित है। सत्यके ज्ञानकी शैली और होती है और मकान बनानेकी और।

आपने तेरहवें अध्यायमें यह देखा है कि ज्ञानसे अमृतत्वकी प्राप्ति होती है। विज्ञानसे मद्भावाकी उपलब्धि होती है, यही भगवान्का स्वमत है। 'प्रवक्ष्यामि' तथा 'मद्भावाय' ज्ञेय-ज्ञानका फल है अमृतव्याप्ति। अधिकारी मद्भूत ब्रह्मविज्ञानसे मद्भावको प्राप्त होता है। इसके पूर्व क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ ज्ञानको भी 'मम मत' कहा है। भगवान् विवेक, ज्ञान और विज्ञानको मुक्तिका हेतु मानते हैं। इसका अर्थ है कि जो वस्तु अज्ञानसे अप्राप्त और ज्ञानसे प्राप्त होती है उसकी प्राप्ति-अप्राप्ति मिथ्या होती है। वह स्वतः प्राप्त ही होती है। वस्तुके अन्य होनेपर भी जब यह नियम लागू है तब स्व होनेपर तो कहना ही क्या है? अन्यका ज्ञान होनेपर तो किञ्चित् प्रयत्न भी अपेक्षित होता है, परन्तु स्वका ज्ञान होनेपर तो उसकी भी अपेक्षा नहीं है। स्व और ज्ञान दो नहीं हैं। 'ज्ञान' और 'ज्ञेय' एक ही हैं।

मूलमें ब्रह्मका निरूपण करते समय 'अविज्ञेय' और 'ज्ञेय' दोनों ही पदोंका प्रयोग किया गया है। यह एक विलक्षण बात है। वही वस्तु अविज्ञेय और विज्ञेय दोनों कैसे हो सकती है? बहुत सीधी बात है, यही तो स्वयंप्रकाशका लक्षण है। जो वस्तु अवेद्य होकर अपरोक्ष हो उसे स्वयंप्रकाश कहते हैं। अपनेसे अन्य जितने पदार्थ हैं वे वेद्य हैं, जाने जाते हैं, परन्तु स्वयंप्रकाश नहीं हैं, क्योंकि उन्हें प्रकाशित होनेके लिए आत्माकी अपेक्षा होती है। परन्तु आत्माको प्रकाशित होनेके लिए उनकी अपेक्षा नहीं होती। घटादि प्रत्यक्ष ज्ञानके विषय हैं, स्वर्गादि परोक्ष ज्ञानके विषय हैं, बुद्ध्यादि एवं सुषुप्ति-समाध्यादि अपरोक्ष ज्ञानके विषय हैं। ये सब विज्ञेय हैं और आत्मा उनसे विलक्षण होनेके कारण अविज्ञेय है। अविज्ञेयता केवल इसीलिए है कि वह वेद्यसे विलक्षण, अतिसूक्ष्म प्रत्यगात्मा है। वह साक्षिभास्य न होनेसे भी अविज्ञेय है। इसी अविज्ञेयताको लेकर बैठ जाना अविद्या है; परन्तु क्या आत्मा केवल अविज्ञेय है? वह स्वयं सर्वाविभासक, बुद्धि-सुषुप्ति आदिके पीछे बैठकर उनको प्रकाशित करता है, इसलिए स्वयंप्रकाश है। यह स्वयंप्रकाशता शब्द द्वारा साक्षात् अथवा बुद्धिमें प्रतिबिम्बित रूपसे जब आत्मत्वेन अपरोक्ष होती है तब उसको विद्या कहते हैं। बुद्धिमें अविज्ञेयताका प्रतिबिम्बन अविद्याका विरोधी नहीं है, वह केवल नेतिनेति-निषेधमात्र है। तत्त्वमस्यादि महावाक्यजन्य वृत्तिमें प्रत्यगात्मत्वेन ब्रह्मका ज्ञान ही विद्या है। यह विद्या अविद्याको निवृत्त करती है। ब्रह्ममें

: ६ :

जेयतामूलक विद्या और अजेयतामूलक अविद्या है। यह भेद भी अविद्यामें बैठकर ही किया जाता है, स्वयं ब्रह्ममें नहीं है। अविद्या निवृत्त हो जानेपर व्यावहारिक या प्रातिभासिक भेदका परमार्थपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। गीताके 'सर्वथा वर्तमानोऽपि' का यही अभिप्राय है। प्राचीन महात्मा यह बात बराबर दुहराते हैं, कि अध्यस्तके गुणदोषका कोई प्रभाव अधिष्ठानपर नहीं पड़ता। रज्जु-सर्पके विषका प्रभाव रज्जुपर नहीं पड़ता, भ्रान्त पुरुषके मनपर पड़ता है। इसलिए भ्रान्त अन्तःकरणमें ही भ्रान्तिका सम्पूर्ण प्रभाव रहता है। इससे अधिष्ठान स्वरूप आत्माका कुछ बनता-विगड़ता नहीं। यह बात श्रुति, स्मृति, शास्त्र एवं ब्रह्मसूत्रानुमोदित है। तेरहवाँ अध्याय तत्त्वज्ञान द्वारा इसी भ्रान्तिका समूलोन्मूलन करता है।

अन्तमें सार रूपसे इन बातोंपर ध्यान दीजिये—

१. प्रकृति-विकृति अथवा कारण-कार्यरूप दृष्टि-समष्टि-प्रपञ्च अर्थात् क्षेत्र आप नहीं हैं।

२. क्षेत्रज्ञ क्षेत्रका अभिमानी—विकार, संस्कार, आकार, प्रकार आदिके रूपमें प्रतीयमान दृश्यका धर्मी नहीं है। परिच्छिन्नता और पूर्णता दोनों ही औपाधिक हैं, वास्तविक नहीं।

३. उपाधि और औपाधिक अधिष्ठान-ज्ञानसे मिथ्या हैं। उपाधि भी वास्तविक नहीं है। भेदमात्र ही अपने अत्यन्ताभावके अधिष्ठानमें भासमान होनेसे मिथ्या है।

भासमानता दो प्रकारकी होती है—एक टूट-टूटकर और दूसरी अखण्ड। पहली बाधित है, दूसरी अबाधित। बाधित मिथ्या है, अबाधित आत्मा ब्रह्म। आत्मा ही अद्वितीय ब्रह्म है। यही बन्धमोक्षकल्पनाका प्रकाशक स्वयंप्रकाशक अधिष्ठान ब्रह्मात्मा है। 'ये विदुर्यान्ति ते परम् ।'

THE FIRST PART OF THE HISTORY OF THE
INDIAN NATION, FROM THE FIRST
SETTLEMENT OF THE INDIANS IN
AMERICA, TO THE PRESENT
STATE OF THE NATION, AS
DESCRIBED BY THE
INDIANS THEMSELVES, AND
BY THE WRITERS OF THE
HISTORY OF THE NATION.

THE SECOND PART OF THE HISTORY OF THE
INDIAN NATION, FROM THE FIRST
SETTLEMENT OF THE INDIANS IN
AMERICA, TO THE PRESENT
STATE OF THE NATION, AS
DESCRIBED BY THE
INDIANS THEMSELVES, AND
BY THE WRITERS OF THE
HISTORY OF THE NATION.

THE THIRD PART OF THE HISTORY OF THE
INDIAN NATION, FROM THE FIRST
SETTLEMENT OF THE INDIANS IN
AMERICA, TO THE PRESENT
STATE OF THE NATION, AS
DESCRIBED BY THE
INDIANS THEMSELVES, AND
BY THE WRITERS OF THE
HISTORY OF THE NATION.

ब्रह्मज्ञान और उसकी साधना

उपक्रम

पार्थाय प्रतियोधितां भगवता नारायणेन स्वयं
व्यासेन ग्रथितां पुराणमुनिना मध्ये महाभारतम् ।
अद्वैतामृतवर्षिणीं भगवतीमष्टादशाध्यायिनी-
मस्य त्वामनुसन्दधामि भगवद्गोते भवद्वेषिणोम् ॥

वक्तृत्वाभिमानयुक्त पुरुष जहाँ नहीं बोलता, जहाँ वस्तु स्वयं बोलती है— किसी प्रकारकी सीमा स्वीकार किये बिना असीम वस्तु जहाँ स्वयंको प्रकाशित करती है उसे श्रुति कहते हैं। जैसे सूर्य कहता है—‘मैं प्रकाशस्वरूप हूँ। तुम्हारे नेत्र देखें या न देखें।’ इस प्रकार तत्त्वकी वाणी श्रुति है, उपनिषदें श्रुति हैं।

वक्ताके श्रुतिसम्मत अनुभूत वक्तव्यका नाम ‘स्मृति’ है। ‘गीता’ स्मृति है। ‘ब्रह्मसूत्र’में गीताको भगवान् वेदव्यासने ‘स्मृति’ स्वीकार किया है। स्मृतियोंमें भी गीता श्रेष्ठ है, क्योंकि उसके वक्ता स्वयं भगवान् हैं। वक्ताके प्राधान्यसे वाणीको प्रधानता प्राप्त है।

प्रश्न : अन्य स्मृतियों और गीता-स्मृतिमें क्या अन्तर है ? इसे प्रधानता क्यों हो ?

उत्तर : अन्ततः सभी ऋषि-मुनि अन्तःकरणविशिष्ट वक्ता ही होते हैं, किन्तु श्रीकृष्ण अन्तःकरणविशिष्ट वक्ता नहीं हैं। वे मायोपाधिक वक्ता—स्वयं ईश्वर हैं। वे अपना तत्त्व जानते हुए ही बोलते हैं। वे अन्तःकरणकी किसी विषयानुभूतिका अनुवाद नहीं करते।

भगवान् श्रीकृष्ण स्वयंको किसी सम्प्रदायमें अन्तर्भुक्त करके नहीं बोलते। अपने भीतर कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंको समाविष्ट करनेवाले श्रीकृष्ण सबके साथ तादात्म्य करके सबके लिए बोलते हैं। गीता विश्वरूप श्रीकृष्णकी वाणी है। यह सात्त्विक, राजस, तामस तीनों प्रकारके अधिकारियोंके लिए है।

जो सबके हितके लिए बोले, सबको अपना मानकर प्यार करे, वही भगवान् है। गीता उस भगवान्की वाणी है। यह भगवद्वाणी देश-विशेष, काल-विशेष अथवा जाति-विशेषकी सीमासे आवद्ध नहीं है और न क्रिया-विशेषमें ही आवद्ध है।

किसी भी ग्रन्थका कोई श्लोक, एक पद या एक प्रसङ्ग ग्रन्थसे पृथक् करके प्रमाण नहीं होता। ग्रन्थके पूर्वापरका विचारकर उस प्रसङ्गका तात्पर्य निकालनेपर ही वह प्रसङ्ग प्रमाण होता है। गीताको ही देखें। भगवान् धर्म-निष्ठाके सम्बन्धमें एक स्थानपर कह रहे हैं :

‘स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।’ (३।३५)

अर्थात् ‘अपने धर्मपर मर मिटना श्रेयस्कर है, भले ही उस स्वधर्ममें कुछ दोष हों । लेकिन दूसरेका धर्म निर्दोष जान पड़नेपर भी भयप्रद है । दूसरे स्थानपर गीतामें भगवान् कहते हैं :

‘सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।’ (१८।६६)

अर्थात् ‘सब धर्मोंका परित्याग करके अकेले मेरी शरणमें आ जाओ ।’

गीताके इन वचनोंको लेकर एक व्यक्ति कहता है : ‘भगवान् धर्मसे, अपने वर्णाश्रमविहित धर्ममें दृढ़ रहनेकी आज्ञा देते हैं’ तो दूसरा आग्रह करता है : ‘भगवान् सब धर्मोंको त्याग कर अपनी भक्ति करनेको कहते हैं ।’ अब यदि आप दोनों वचनोंकी संगति लगाकर अभिप्राय न निकालें तो कहना होगा कि आप न गीताको जानते हैं और न मानते हैं ।

एक सज्जन कहीं यात्रापर निकले । साथमें सेवक था, रसोइया था । गर्मीके दिन थे, पवन वेगसे चल रहा था । वह कहीं ठहर गये और भोजन बनानेका ढंग बंठाने लगे । वहाँ एकने रसोइयेसे कहा—‘आग जलाओ, भोजन बनाओ; किन्तु अन्तमें भलीभाँति आग बुझा देना ।’ अब रसोइयेने पूछा : ‘जब आग बुझा ही देनी है, तो जलायें ही क्यों ?’ इसीका नाम नासमझी है । भोजन बनानेके लिए अग्नि जलाना आवश्यक है; तो भोजन बन जानेपर उसे बुझा देना भी उतना ही आवश्यक है, जिससे कहीं आग न लग जाय । एक ही व्यक्तिने आग जलाने और बुझानेकी बात कही और दोनोंका तात्पर्य श्रोताकी भलाई ही है ।

इसी प्रकार ग्रन्थका तात्पर्य समझनेके लिए भी इस बातकी एकवाक्यता आवश्यक है कि कौन-सी बात किस अधिकारीके लिए, किस देश, किस काल, किस अवस्थामें, किस ढंगसे कही गयी है ।

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विभागयोग गीताका तेरहवाँ अध्याय है । बारहवें अध्यायके पश्चात् यह तेरहवाँ अध्याय क्यों ? इसके पूर्व यह भी सोचना आवश्यक है कि सम्पूर्ण गीताका ही उपदेश किसलिए ?

उपदेश कोई भी हो, वह होता है श्रोताकी बुद्धिमें परिवर्तन करनेके लिए । अतएव यदि कर्मविषयक बुद्धिमें उपदेशके द्वारा परिवर्तन होगा तो उपदेशके पश्चात् श्रोताके द्वारा कर्मका सम्पादन होगा । यदि तत्त्वविषयक बुद्धिमें परिवर्तनके लिए उपदेश होगा तो वह बुद्धिमें स्थित तत्त्वविषयक अज्ञान निवृत्त करेगा :

शास्त्रं ज्ञापकं न तु कारकम् ।

शास्त्र ज्ञापक होता है, कारक या करनेवाला नहीं । जैसे सेनामें सेना-अधिकारी रणस्थलमें सैनिकोंको आदेश देते हैं कि ‘युद्ध करो ! अन्यथा गोली मार दी जायेगी ।’ इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको आदेश नहीं देते । वे अर्जुनकी बुद्धिमें परिवर्तन करते हैं । गीताका उपदेश कर भगवान्ने अर्जुनकी बुद्धिमें परिवर्तन कर दिया ।

अर्जुन अपने बहुतसे सम्बन्धी मानकर और अपनेको बहुतसे सम्बन्धियोंका

सम्बन्धी मानकर शोक तथा मोहसे ग्रस्त है। वह आत्माको कर्त्ता-भोक्ता मानता है, स्वर्ग-नरकमें जानेवाला बताता है। वह कहता है :

‘पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः । (१।४२)

अर्जुनकी इस बुद्धिमें परिवर्तनके लिए गीताका उपदेश है। गीताका अर्थ करते समय यह बात ध्यानमें रखकर ही ग्रन्थके तात्पर्यका विचार करना चाहिए।

गीताके बारहवें अध्यायमें भक्तिका साङ्गोपाङ्ग निरूपण हुआ है। बारहवाँ अध्याय मानों द्वादशात्मा आदित्य-स्वरूप है। उसके पश्चात् तेरहवें अध्यायका प्रारम्भ क्यों हुआ ?

एक आचार्यका मत है कि ‘गीताके बारहवें अध्यायमें भक्तिका प्रतिपादन है। उस भक्ति द्वारा भजनीय भगवान्का स्वरूप ही तेरहवेंमें वर्णित है।’

बारहवें अध्यायमें भगवत्प्रेमका वर्णन है तो तेरहवेंमें उस प्रेमके पात्र भगवान्की पहचान बतलायी गयी। चौदहवेंमें भगवान्के अतिरिक्त सब कुछ त्याग देनेकी बात कही गयी। पन्द्रहवेंमें उस भजनीय तत्त्वसे मिलनका वर्णन है।

स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत । (१५।१९)

अर्थात् ‘वह सर्वविद् होकर सर्वभावसे मेरा ही भजन, सेवन करता है।’ इस प्रकार वे अध्याय परस्पर सम्पृक्त हैं।

एक दूसरी संगति भी ध्यान देने योग्य है। भगवान्ने बारहवें अध्यायमें प्रतिज्ञा की है :

‘तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।

भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ (१२।७)

अर्थात् ‘अर्जुन ! जिनका चित्त मुझमें ही लगा है, इस मृत्युरूपी संसार-सागरसे मैं उनका अविलम्ब उद्धार कर देता हूँ।

‘मृत्युसंसारसागरात्’—मृत्युका नाम ही संसार-सागर है। वस्तुतः अविद्या ही मृत्यु है। अविद्याके कारण ही संसार-सागर भास रहा है। आत्मा मरनेवाला न होकर भी अविद्याके कारण ही अपनेको मरणधर्मा मान रहा है। यह अपरिच्छिन्न होनेपर भी अविद्याके कारण स्वयंको परिच्छिन्न मानता है। यह है तो स्वयं अकर्त्ता; किन्तु अपनेको मानता है कर्त्ता, पापी, पुण्यात्मा। है तो यह साक्षी, पर मान बैठा है सुखी-दुःखी। यह निरी भ्रान्ति है, भूल है। भगवान् इस भूलको मिटाये तो कैसे ? इस भ्रान्तिसे, अविद्यासे बचाना तत्त्वज्ञानका उपदेश करके ही संभव है। इसलिए भगवान्ने जो बारहवें अध्यायमें अपना भजन करनेवालोंके उद्धारकी बात कही—मृत्यु-संसार-सागरसे उनको बचानेको कहा, उसी उद्धारके लिए, भ्रान्ति-निवारणके लिए तेरहवें अध्यायमें वे तत्त्वज्ञानका उपदेश करते हैं, क्योंकि श्रुति कहती है कि ‘ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः’—‘ज्ञानके बिना मुक्ति हो ही नहीं सकती।’

एक तीसरी संगति भी है। बारहवें अध्यायमें अर्जुनने भगवान्से पूछा कि ‘इस प्रकार निरन्तर चित्त लगाकर जो भक्त आपकी भलीभाँति उपासना करते

हैं और जो अक्षर, अव्यक्तमें लगते हैं, दोनोंमें योगवित्तम—(योगको जाननेवालों-में श्रेष्ठ) कौन है ?

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते ।

ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥ (१२।१)

इसके उत्तरमें भगवान्ने यह नहीं कहा कि सगुण उपासना श्रेष्ठ है या निर्गुण उपासना । यही कहा कि सगुण-साकारका उपासक 'युक्ततम' है ।

भगवान्के स्वरूपमें श्रेष्ठ-कनिष्ठ क्या ? कोई व्यक्ति हरे, नीले, श्वेत, पीले आदि रंगोंके वस्त्र पहननेसे श्रेष्ठ या कनिष्ठ नहीं हुआ करता । वस्त्र किसी रंगका पहने, उसके कारण उसका व्यक्तित्व थोड़े ही बदल जायगा । पैर दवाने तथा सिर दवानेमें कौन-सी सेवा श्रेष्ठ है ? दोनों ही सेवाएँ हैं । भगवान् नारायणका सिर दवाना है तो शेषकी फूत्कार सहनी होगी और चरण दवाने हों तो ते लक्ष्मीजीकी कृपासे सुलभ होंगे । भगवान्ने कहा :

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम् ।

अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिराप्यते ॥ (१२।५)

'उन अव्यक्तमें चित्तको लगानेवालोंको बहुत अधिक कष्ट होता है; क्योंकि देहधारीकी बड़े कष्टसे अव्यक्तमें गति हो पाती है ।

भगवान्ने कहा कि निर्गुणोपासना करनेमें कठिन है । फलमें, स्वरूपमें भेद (श्रेष्ठता, कनिष्ठता) नहीं । ऐसी अवस्थामें सगुणोपासनाके साथ निर्गुणोपासनाका भी वर्णन किया जाना चाहिए । बारहवें अध्यायमें भगवान्ने सगुणोपासनाका विस्तारसे वर्णन किया; जब कि निर्गुणोपासनाका वर्णन केवल दो श्लोकमें किया था । अब तेरहवें अध्यायमें उन्हीं दो श्लोकों द्वारा सूचित निर्गुणोपासनाका विस्तारसे वर्णन करते हैं । इस प्रकार बारहवें अध्यायके उन दो श्लोकोंका तेरहवें अध्यायमें विशदीकरण है ।

अब सम्पूर्ण गीतापर एक दृष्टि डालें । गीताके प्रारम्भमें (दूसरे अध्यायमें) भगवान्ने कहा :

गतासूनगतासूँश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः । (२।११)

अर्थात् 'जिन्हें सच्चा पाण्डित्य प्राप्त हो जाता है, वे इस बातके लिए शोक नहीं करते कि कौन जीवित है और कौन मृत ।'

(मनुष्य जब किसी कामको अपने तक ही सीमित रखकर सोचता है, तब भूल करता है । प्रत्येक क्रियामें उसके साथ समाजका—पूरे विश्वका सहयोग है । हमारी प्रत्येक क्रियाका प्रभाव—प्रतिबिम्ब न केवल हमारे समाजपर, अपितु पूरे विश्वपर पड़ता है ।)

इसी प्रकार जब हम विगत (भूत) अथवा भविष्यके विषयमें सोचने लगते हैं, तब वर्तमानका—उपस्थितका—तिरस्कार करते हैं । आपके घर कोई अतिथि आया; पर आप उसकी ओर तो ध्यान नहीं देते, 'अमुक अमुक क्यों नहीं आये' इसके लिए रोने बैठते हैं । तो जो आया है, उसका भी तिरस्कार ही तो

हुआ ! आपकी दृष्टिमें उसकी कोई महत्ता ही नहीं रही । अतः जो पण्डित हैं वे 'गत-अनागत' के लिए शोक नहीं करते ।

पाण्डित्य क्या है ? गीता कहती है :

ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः । (४।१९)

(गीतामें 'पण्डित' शब्द पारिभाषिक है । ज्ञानकी अग्निसे जिनके कर्म भस्म हो चुके, जिनमें कर्त्तापन, भोक्तापनकी भ्रान्ति नहीं रह गयी, बुद्धिमान् लोग उन्हें 'पण्डित' कहते हैं । पण्डित वह, जिसने अपनेको नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त और अद्वितीय जान लिया) अन्यत्र भी कहा है :

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥ (५।१८)

(जो विद्या तथा विनयसे सम्पन्न ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल-में स्थित एक ही आत्माका दर्शन करते हैं वे पण्डित होते हैं)

यहाँ प्रश्न यह कि वह ज्ञान-पाण्डित्य-कौनसा है, जिससे वह समदर्शी हुआ ? इसका उत्तर वहीं दूसरे अध्यायमें ही है :

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।

तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥ (२।२५)

'यह आत्मा अव्यक्त है अर्थात् यह स्थूल देह या स्थूल सृष्टि नहीं, स्थूल या व्यक्तसे विलक्षण है । तब क्या सूक्ष्म है ? नहीं, 'अचिन्त्योऽयम्' यह अचिन्त्य है अर्थात् सूक्ष्म देह और सूक्ष्म सृष्टि भी नहीं है । चिन्त्य सूक्ष्मसे भी विलक्षण है । तब कारण-देह होगा ? सो वह भी नहीं । 'अविकार्योऽयम्' यह विकारवाला नहीं है । कारण-देह और कारणात्मिका सृष्टि भी नहीं है । जो विकारी होता है, वह 'कारण' होता है । जो चिन्त्य होता है, वह 'सूक्ष्म' होता है । जो व्यक्त होता है, वह 'स्थूल' होता है । यह आत्मा स्थूल, सूक्ष्म या कारण किसी उपाधिसे ग्रस्त नहीं । जब यह पाण्डित्य प्राप्त हो जायगा, तब—'नानुशोचितुमर्हसि' शोकका कोई कारण ही नहीं रह जायगा । यहाँ भगवान् ने यह निरूपण किया कि आत्मा अविद्या और अविद्याके कार्यरूप क्षेत्रसे विलक्षण है ।

इस प्रकार यह 'त्वं' पदार्थका वर्णन है । इसी प्रकार गीतामें 'तत्' पदार्थका वर्णन है :

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।

अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनंजय ।

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥ ७।४-७ ॥

अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार यह

मेरी अष्टधा अपरा प्रकृति है। महाबाहो ! इससे भिन्न मेरी पराप्रकृति है, जो जीवरूपा है, जिसने इस जगत्को धारण किया है। मेरी इन अपरा और परा प्रकृतियोंको ही समस्त प्राणियोंको उत्पन्न करनेवाली समझो। एक मात्र मैं ही इस सम्पूर्ण जगत्का उत्पत्ति तथा प्रलयस्थान हूँ। धनञ्जय ! मुझसे परे कुछ भी नहीं। सूत्रमें मणियोंके समान मुझमें ही यह सब पिरोया हुआ है।

जहाँ अपरा प्रकृति स्थूल विश्व है वहीं परा प्रकृति चिदाभास। परमात्माका कोई विशेष शरीर नहीं। गीतामें परमात्माका वर्णन करते हुए कहा गया है :

‘नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।’ (२।२४)

यह परमात्मा नित्य अर्थात् कालसे अपरिच्छिन्न, सर्वगत अर्थात् देशसे अपरिच्छिन्न, स्थाणु—एकरस, अचल—निर्विकार, सनातन—त्रिकालावाधित है।

कुछ आचार्योंका मत है कि गीताके पहले छह अध्यायोंमें ‘त्वं’ पदार्थका शोधन है, दूसरे छह अध्यायोंमें ‘तत्’ पदार्थका शोधन तो तीसरे अन्तिम छह अध्यायोंमें ‘असि’ पदका निरूपण अर्थात् दोनोंका एकत्व-प्रतिपादन है।

गीताके प्रथम अध्यायमें रोते हुए ‘त्वं’ पदार्थका वर्णन है। दूसरे अध्यायमें ‘त्वं’ पदार्थकी जिज्ञासा है तथा वह उपदेश श्रवण करता है। तीसरे अध्यायमें ‘त्वं’ पदार्थको कर्मका उपदेश है। चतुर्थ अध्यायमें ‘त्वं’ पदार्थके हितार्थ भगवान्-के अवतार लेनेका वर्णन है। पञ्चम अध्यायमें संन्यास लेता ‘त्वं’ पदार्थ है और छठे अध्यायमें योगाभ्यास करके द्रष्टा स्वरूपमें बैठा ‘त्वं’ पदार्थ है।

सातवें अध्यायमें परापर प्रकृतिसे विलक्षण ‘तत्’ पदार्थ-निरूपण है। आठवें अध्यायमें लोकातीत परम पुरुष रूपमें ‘तत्’ पदार्थका वर्णन है। नवम अध्यायमें सर्व करण-कारण ‘तत्’ पदार्थ बतलाया गया है। दशम अध्यायमें विभूति उपाधिक ‘तत्’ पदार्थ और ग्यारहवें अध्यायमें विराट् स्वरूप ‘तत्’ पदार्थ का वर्णन किया गया है। बारहवें अध्यायमें ‘तत्’ पदार्थके उपास्य होनेका निरूपण है।

इस प्रकार प्रथमसे षष्ठ पर्यन्त ‘त्वं’ पदार्थ और सप्तमसे द्वादश पर्यन्त ‘तत्’ पदार्थका शोधन करके अब दोनोंके एकत्वका प्रतिपादन करनेके लिए यह तेरहवाँ अध्याय प्रारम्भ हुआ है। इसमें महावाक्यका अर्थतः प्रतिपादन है।

‘अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।’ द्वारा दूसरे अध्यायमें भगवान्ने जिस आत्माका वर्णन किया उसीको यहाँ तेरहवें अध्यायमें उन्होंने ‘क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि’ कहा है। क्षेत्रज्ञ ‘त्वं’ पदार्थ है और ‘मां’ ‘तत्’ पदार्थ है। दोनोंके एकत्व-प्रतिपादनार्थ इस तेरहवें अध्यायकी प्रवृत्ति हुई है।

तेरहवें अध्यायका यह उपदेश भगवान्की भक्तिमें भी उपयोगी है; क्योंकि इसमें भगवान्के स्वरूपका वर्णन है। यह निर्गुणोपासना और वाक्यार्थ ज्ञानमें भी उपयोगी है। निर्गुणोपासना परिपक्व होकर पहले ‘तत्’ पदार्थसे भावात्मक ऐक्य कराती है, फिर यथार्थ ज्ञानसे अविद्याकी निवृत्ति होती है। वाक्यार्थ ज्ञान अविलम्ब साक्षात् अविद्या-निवर्तक है।



ब्रह्मज्ञान और उसकी साधना

[गीताका तेरहवाँ अध्याय]

● विशेष

तेरहवें अध्यायके प्रारम्भके सम्बन्धमें एक विकल्प है। किसी-किसी टीकाकारने 'इदं शरीरं कौन्तेय' से पूर्व एक श्लोक और माना है। उनके अनुसार तेरहवाँ अध्याय इस प्रकार प्रारम्भ होता है :

अर्जुन उवाच

प्रकृतिं पुरुषं चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च ।

एतद् वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयं च केशव ॥

अर्जुनने कहा :—केशव ! प्रकृति और पुरुष, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ, तथा ज्ञान और ज्ञेय इनको मैं जानना चाहता हूँ ।

भगवान् श्रीशङ्कराचार्य, श्रीरामानुजाचार्य आदि आचार्योंने इस श्लोकको नहीं माना है ।

श्रीभगवानुवाच

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।

एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥ १ ॥

श्री भगवान्ने कहा : कौन्तेय ! इस शरीरको ही 'क्षेत्र' कहा जाता है और इस क्षेत्रको जो जानता है, उसको 'क्षेत्रज्ञ' कहते हैं ।

प्रश्न : यहाँ प्रश्न उठता है कि भगवान् क्यों बोले ? यदि जिज्ञासारूप पिपासा श्रोताके मनमें नहीं तो उसे उपदेश क्यों दिया जाय ?

उत्तर : यह नियम उनके लिए होता है जो कभी-कभी बोलते हैं । भगवान्की वाणी तो नित्य है । अर्थात् अन्तर्मुखताके स्तर विशेषमें ये शब्द प्रकाशित होते रहते हैं । जैसे रक्त और प्राण निरन्तर गतिशील होते हैं, वैसे ही प्रकृतिके अन्तरतममें कोई ऐसा स्तर है, जिसमें भगवान्की वाणी स्वयं उच्चरित होती रहती है । श्रुति कहती है :

“वाचा विरूपनित्यया”

हम भगवान्की उस नित्यवाणीको सुन नहीं पाते, यह अलग बात है। हम तो रक्तकी गति, श्वासकी गतिसे जो ध्वनि होती है, उसे भी सुन नहीं पाते। वैसे रक्त और श्वासकी गतिसे ध्वनि तो होती ही है। जहाँ गति होगी, वहाँ उसके कम्पनका शब्द अवश्य होगा। हम बाह्य शब्दोंमें आसक्त हैं, अतः इन आन्तरिक ध्वनियोंको सुन नहीं पाते। जब मनुष्य बाह्य शब्दोंको सुनना बन्दकर मौन हो जाता है, मनके शब्द संकल्प-विकल्प भी रोक देता है, तब (शब्दोच्चारण त्याग करनेपर) पहले ‘पश्यन्ती’ वाणीके रूपमें और फिर ‘परा’ वाणीके रूपमें भगवान्की वेदमयी नित्यवाणी प्रकाशित होती है। जैसे भगवान्में रूपाभिव्यक्ति नित्य है, उनका रूप नित्य है, वैसे ही उनमें नामाभिव्यक्ति भी नित्य है। भगवान्की इस नित्यवाणीको ‘तुरीयां वाचम्’ कहते हैं।

बारहवें अध्यायके अन्तमें भगवान्ने जो भक्तिकी स्थापना की—भक्तका लक्षण बतलाया, उसमें कहा है :

अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः । (१२।१९)

भक्तका लक्षण है ‘स्थिरमति’ होना। आगे कहते हैं :

ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।

श्रद्धधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥ (१२।२०)

इस प्रकार आप देखते हैं कि भगवान् स्थिरमति, श्रद्धालु और भक्तको अपना प्रिय बतलाते हैं। गीताके बारहवें अध्यायका श्रवणकर अर्जुन श्रद्धालु, स्थिरमति और भक्त बन गया। अब यह नियम भी आप जानते ही हैं :

श्रद्धालु लभते ज्ञानम् । (४।३९)

श्रद्धालु ज्ञान प्राप्त करता है। अर्थात् श्रद्धालु होना ज्ञानप्राप्तिका अधिकारी होना है।

जो लोग बहुत तर्क करते हैं; उन्हें विद्वान् मिलते हैं। विद्वान् उनसे शास्त्रार्थ करनेमें रस लेते हैं। महात्माका स्वभाव शास्त्रार्थ करना नहीं है। श्रुति कहती है :

पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत्

बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ

मुनिरमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः (वृहदा० ३।५।१)

(अर्थात् पाण्डित्य सम्प्राप्त करके बालकके समान सहज भावसे रहते हैं। ज्ञानबल भावसे सम्प्राप्तकर मौन हो जाते हैं। मौन और अमौन दोनोंको सम्प्राप्तकर अपने ब्रह्मस्वरूपमें स्थित होते हैं। किसीके विचारपर अपना विचार लादना, किसीके संकल्पपर अपना संकल्प थोपना, किसीकी क्रियापर अपनी क्रिया चढ़ाना, किसीकी वस्तुपर अपना समत्व स्थापित करना महात्माको प्रिय नहीं होता) अतएव महात्मा शास्त्रार्थ करनेवाले—तर्क करनेवालेको अपना ज्ञान नहीं देते। वे श्रद्धालु, संयतेन्द्रिय, और साधनपरायणको ज्ञानदान करते हैं।

आप एक विद्वान्को शास्त्रार्थमें तर्क करके पराजित कर सकते हैं; किन्तु तर्ककर उससे ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते। ज्ञानकी प्राप्तिके लिए अभिमान त्यागना ही पड़ता है।

परमात्मा यदि कोई ऐन्द्रियक पदार्थ होता तो आप उसे ऐन्द्रियक तीक्ष्णतासे—यन्त्रोंद्वारा इन्द्रियोंकी शक्ति बढ़ाकर प्राप्त कर सकते। मानसिक तत्त्व होता तो मनकी एकाग्रतासे उपलब्ध करते। बौद्धिक तत्त्व होता तो बुद्धिकी तीक्ष्णतासे जान लेते। किन्तु परमात्माको जाननेके लिए तो इस क्षेत्रको—देहेन्द्रिय मन-बुद्धि आदिको ही पृथक् करना पड़ता है। कहा भी है :

‘स्वयं च तत्त्वं स्वयमेव बुद्धम् ।’

स्वयं आप वह परमात्म-तत्त्व हैं और स्वयं ही उसे जानेंगे।

श्रीभगवान्ने कहा ! (वे बोलते तब हैं, जब आप चुप हो जाते हैं)। अर्जुन बारहवें अध्यायका श्रवण करके स्थिर बुद्धि, श्रद्धा, भक्तिका माहात्म्य सुनकर इनको धारण कर लेता है, तब उसे ज्ञानका अधिकारी देखकर श्रीभगवान् कहते हैं।)

‘श्रीभगवान्’—‘भ’का अर्थ है भवन—होना भ = भरण। अर्थात् सम्पूर्ण विश्वका होना—उद्भव तथा भरण या स्थिति जिसके हाथमें हो। ग = गमनागमन, सम्पूर्ण गति-आगति, स्वर्ग-नरक-ब्रह्मलोक जिसके हाथमें हों। व = वेदनावेदन, विशेष-विशेष वस्तुओंका जानना, न जानना जिसके हाथमें हो। अ = अध्यारोप और अपवाद जिसके हाथमें हों। न = सबका निषेध करके, अध्यारोपापवादका भी बाध हो जानेपर जो शेष रहे। श्री = सर्वश्रेष्ठ, सर्वोपरि। ऐसे ‘श्रीभगवान्’ उवाच अर्थात् कहते हैं। उनका कथन चल रहा है। उनकी वाणी आदि-अन्त रहित है। मनुष्यका देह आदि-अन्त वाला है, अतः मनुष्यकी वाणी भी आदि-अन्त वाली है। भगवान्का श्रीविग्रह तो अनादि, अनन्त, नित्य, है, अतः उनकी वाणी भी अनादि, अनन्त, नित्य। परमात्मा वह है जो बिना बोले ही नित्य बोल रहा है। जैसे बिना बोले सूर्य कहता है : ‘मैं प्रकाश स्वरूप हूँ’ :

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।

तमभिधीयते नाम विषयी क्रियते, अर्थात् हम ऐसी वस्तुका वर्णन कर रहे हैं, जो अभिधानका विषय है। नाम रखकर आत्माका वर्णन तो नहीं हो सकता; किन्तु क्षेत्रका वर्णन नाम रखकर किया जा सकता है। सन्धेयों द्वारा जिसका वर्णन होता है उसका नाम है ‘क्षेत्र’।

‘इदं’ इदन्तासे आक्रान्त जो कुछ है, सब ‘क्षेत्र’ है। दूसरे हम किसी घड़ेको, हाथीको या और कोई पदार्थ देखें तो पहले सामान्य ज्ञान होता है—‘यह कुछ है।’ फिर ध्यानसे देखनेपर, समीप पहुँचनेपर, उस वस्तुकी पहचान होती है। जब शुक्तिमें रजत या रज्जुमें सर्प दिखायी देता है, तब जो रजत या सर्प दीखता है, वह ‘इदं’में दीखता है। ‘इदं’का ठीक-ठीक ज्ञान न होनेसे ही रजत

या सर्प दीखता है। इसी प्रकार अधिष्ठानका ज्ञान न होनेसे ही यह विश्व सच्चा दीख रहा है।

‘अहं’ चैतन्यका प्रकाश-स्थान है; तो ‘इदं’ विषयका प्रकाश-स्थान। चैतन्य ‘अहं’ द्वारा ही विषयको जानता है।

‘इदं शरीरम्’—‘इदं’ इसका स्वरूप है और शरीर इसका स्वभाव है। ‘क्षेत्र’ इसका नाम है। ‘इं = मायां ददाति इति इदम्’—‘इ’ कहते हैं मायाको। जो मायाको देता या प्रतीत कराता है, वह सब ‘इदं’ है। जो नानात्वका प्रतिभास देता है, उसे ‘इदं’ कहते हैं। घट, शराव (सकोरा) आदि सबमें ‘इदं’ सामान्य है। स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी, देव-दानव आदि शरीर, जिसमें वनते हैं, वह ‘इदं’ है।

क्षेत्रका पहला लक्षण है—इदंता स्कन्दितत्व। क्षेत्र ‘इदं’ प्रत्ययात्मक ही होता है। जहाँ इदन्त्व (‘यह’ पना) आया, वह क्षेत्र है। ‘इदं’ वृत्ति सदा ‘अहं’ के आश्रित ही होती है। ‘इदं’ वृत्ति परिवर्तनशील है, काल-परिच्छिन्न रहेगी। उसकी अपेक्षा ‘अहं’ वृत्ति स्थायी रहेगी। ‘इदं’ वृत्ति अन्तर्देशमें भी होती है और बहिर्देशमें भी; किन्तु ‘अहं’ वृत्ति बहिर्देशमें कभी नहीं होती। ‘अहं’ अध्यात्म ही होता है, अधिभूत या अधिदेव नहीं।

‘शरीरम्’—‘शृञ् शरणे’ धातुसे ‘शरीर’ शब्द बना है। ‘शीर्यत इति शरीरम्’ जो सड़े, विकारी हो, बिखर जाय उसे ‘शरीर’ कहते हैं।

‘शृ हिंसायाम्’ इस धातुसे भी शरीर शब्द बनता है, जिसका अर्थ है, जो निरन्तर मरता-क्षय होता रहे और मारता रहे। जो आपके ‘मैं’ के साथ मिलकर आपको मार रहा है, वह शरीर है। शरीरकी मृत्युको आप अपनी मृत्यु समझते हैं।

शरीर सदा मरता, क्षीण होता रहता है। इससे स्वेद, रोम, नख, मल, मूत्र, कफादि निकलते ही रहते हैं। शरीरके साथ नित्य षड् विकार लगे हुए हैं, जो इस प्रकार हैं : १. यह उत्पन्न होता है। रज-वीर्यके संयोगसे, अशुचि तत्त्वसे बना है। यह स्पर्श करने, सूँघने, भोगने योग्य नहीं। यह अश्रव्य है—इसकी चर्चा भी सुनने योग्य नहीं, २. यह है, ३. बढ़ता है, ४. परिवर्तित होता रहता है, ५. क्षीण होता है और ६. मर जाता है। इस अशुचि शरीरमें शुचि, अनित्यमें नित्य, दुःख रूपमें सुख, अनात्मामें आत्मबुद्धि हो रही है, यह विभ्रम है।

‘क्षेत्रम्’ का अर्थ भगवान् शंकराचार्य करते हैं :

‘क्षतात् त्राणात् क्षयात् क्षरणात् क्षेत्रवद् वा अस्मिन् सर्वफलनिर्वृत्तये क्षेत्रमिति ।’

अर्थात् क्षतसे त्राण करनेके कारण, क्षरणशील-विनाशी होनेके कारण, खेतके समान समस्त कर्मबीज इसीमें उत्पन्न होते हैं इसलिए भी इसे क्षेत्र कहते हैं।

‘क्षिणोति त्रायते च इति क्षेत्रम्’ यह हमें क्षीण भी करता है और हमारी रक्षा भी करता है, इसलिए इसे क्षेत्र कहते हैं।

‘क्षिणोति इति क्षेत्रम्’—इसने हमें काट दिया। हम ब्रह्म थे, इसने हमें जीव बना दिया। हम अविनाशी थे, इसने हमें विनाशी बना दिया। हम परिपूर्ण थे, इसने हमें परिच्छिन्न कर दिया।

‘त्रायते च इति क्षेत्रम्’—यदि इसीको हम धर्माचरणसे शोधनकर, भक्तिके भावितकर, निरोधसे मनकी चंचलताको दूरकर, तत्त्वज्ञानी गुरुकी शरण ग्रहण कराकर श्रवण, मनन, निदिध्यासनमें लगायें तो यह हमारी रक्षा भी करता है।

‘क्षयात् क्षेत्रम्’—दिनोंदिन इसका क्षय हो रहा है। हर क्षण यह मृत्युकी ओर बढ़ रहा है। पल-पल इसके कण नष्ट हो रहे हैं। अतः गयी सो गयी अब राख रही को।

‘क्षरणात् क्षेत्रम्’—दिन-रात इसमेंसे स्वेद, मल, मूत्र, कफ, कीच, नख, केश क्षरित होते रहते हैं। स्वेद, मल, मूत्र, कफादि किसीका क्षरण-निकलना रुक जाय तो मृत्यु ही हो जाय।

‘क्षेत्रवद् वा कर्म निर्वृत्तये’—जैसे खेतको जोतकर उसमें बीज बोते हैं और उसकी खेती काटते हैं, वैसे ही इस देहकी खेतमें कर्मका बीज बोया जाता है। उस पाप-पुण्यरूप कर्मका फल सुख-दुःख रूपमें भोगा जाता है। इस प्रकार यहाँ गीतामें शरीरको क्षेत्र कहा गया है।

कठोपनिषद्में शरीरको अन्न कहा है :

सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः । (१।६)

‘जैसे वृक्षसे बीज उत्पन्न होता है और बीजसे पुनः वृक्ष उत्पन्न होता है, बीजसे घास उगती है और बीज देकर कट जाती है, वैसे ही प्राचीन कर्म-संस्कारसे शरीर उत्पन्न होता है और नवीन देहके लिए कर्म संस्काररूप बीज बनाकर नष्ट हो जाता है।

इस प्रकार ‘इदं’ प्रत्ययका विषय प्रतिक्षण क्षीण होनेवाला, अपनी उत्पत्ति-अवनतिका मूल कारण एवं शब्दका विषय यह ‘क्षेत्र’ है।

‘कौन्तेय !’—भगवान्ने इस नामसे इस श्लोकमें अर्जुनको सम्बुद्ध किया है। इसका भी गूढ़ तात्पर्य है। यथा :

‘कुन्त्याः अपत्यं कौन्तेयः’ कुन्तीके पुत्र होनेसे अर्जुन कौन्तेय हैं। भगवान् संकेत करते हैं कि ‘तुम मेरी बुआके पुत्र हो, मेरे भाई हो, अतः मुझे प्रिय हो।’

‘कुन्त कहते हैं संगीनको। कुन्तके समान तीक्ष्ण बुद्धिशालिनी कुन्ती मेरी बुआ है। उसके पुत्र होनेसे तुम परम बुद्धिमान् हो। अतएव इस तत्त्वको समझ सकते हो। हृदयमें स्थित भ्रान्तिरूप दोष नष्ट करनेमें तुम पूर्ण समर्थ हो।’

श्रुति भी कहती है :

दृश्यते त्वग्रयया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥ कठ० (१।३।१२)

अर्थात् ‘सूक्ष्मदर्शी जनों द्वारा अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धिसे इस परमार्थ तत्त्वको देखा जाता है।’ भगवान् ‘कौन्तेय’ शब्द द्वारा मानो अर्जुनसे कहते हैं : ‘तुम कुण्ठाहीन सूक्ष्मबुद्धिवाले हो।’

एतद् यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः : इसके स्थानपर भगवान् यदि कहते : 'एतद् यो वेत्ति स क्षेत्रज्ञ इत्यभिधीयते', तब भी तो बात पूरी हो जाती। फिर 'तं प्राहुः' और 'तद्विदः' अनावश्यक प्रयोग क्यों किये गये ?

वात यह है कि क्षेत्रज्ञ इदं प्रत्ययका विषय नहीं है। वह शरीर नहीं, पापपुण्यका उत्पत्तिस्थान नहीं है और न अभिधानका ही विषय है। पहचान क्षेत्रज्ञकी करवानी है, इसीलिए क्षेत्रका वर्णन किया गया। इसमें चार सूत्र हैं।

१. जो इदंका विषय है, वह क्षेत्र है। जो 'इदं' का विषय नहीं है, वह क्षेत्रज्ञ है। २. जो शरीर है; शीर्ण होनेवाला; षट् भावविकारयुक्त है, वह क्षेत्र है। जो शीर्ण नहीं होता; निर्विकार है, वह क्षेत्रज्ञ है। ३. क्षेत्र वह है जिसमें कर्मकी खेती होती है। आत्मा अक्षेत्र है—कर्मभोग संबंधसे रहित है। उसमें कर्मकी खेती नहीं होती। ४. अभिधीयते क्षेत्रका वर्णन होता है, क्षेत्रज्ञका वर्णन नहीं होता, वह अनाम है।

एतद् यो वेत्ति यः एतद् वेत्ति—'एतद् इदं शरीरं क्षेत्राभिधानविषयं वेत्ति' जो 'इदं'के विषय क्षेत्र नामधारी शरीरको, कर्ता-भोक्ताको, अभिधानके विषयको जानता है, वह क्षेत्रज्ञ है :

ममेदं अहमिदं एवं यो विजानाति ।

'यह शरीर मेरा है, मैं शरीर हूँ' ऐसा जो जानता है, उस जाननेवालेको क्षेत्रज्ञ कहते हैं, कोई ऐसा कह सकते हैं। लेकिन खेतको जाननेवाला खेतसे पृथक् होगा। हम मार्गमें चलते हैं, तो जानते हैं कि 'यह खेत है' किन्तु 'यह खेत मेरा है' अथवा 'यह खेत मैं हूँ', ऐसा तो नहीं समझते। अतः क्षेत्रको क्षेत्रके रूपमें जानना ही क्षेत्रज्ञ होना है। उस क्षेत्रको 'मैं-मेरा' के रूपमें जानना क्षेत्रज्ञ होना नहीं है। यहाँ क्षेत्रके विस्तारपर ध्यान देना चाहिए :

‘महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।

पञ्चमहाभूत, अहंकार, बुद्धि (महत्तत्त्व) एवं प्रकृति भी क्षेत्र ही हैं। जब क्षेत्र इतना विशाल है, तब क्षेत्रको 'मैं-मेरा' जाने, वह क्षेत्रज्ञ, यह बात कैसे बनेगी। हम प्रकृति महत्तत्त्व, अहंकार, पञ्चमहाभूतोंको 'मैं-मेरे' के रूपमें कहाँ जानते हैं। अतएव क्षेत्रको 'मैं-मेरे' के रूपमें जानना क्षेत्रज्ञका लक्षण नहीं हो सकता। केवल क्षेत्रको जानना ही क्षेत्रज्ञका लक्षण है। यह 'त्वं' पदार्थका शुद्ध लक्षण है ।

एक विषय है 'इदं' और एक विषयी है जो 'इदं' को जाननेवाला है। 'इदं' जड़ है तो उसे जाननेवाला चेतन। अर्थात् अपनेसे जो अन्य है, वह विषय है और अपना आपा है विषयी। 'मैं' चेतन हूँ और मेरे अतिरिक्त जो कुछ प्रतीत होता है, वह दृश्य जड़ प्रकाश्य विषय और ज्ञेय है। मैं उसका ज्ञाता हूँ, पहला विवेक यही है।

जो 'यह' होता है, वह नित्य होता है। जो जाना जायगा, वह परिवर्तनशील होगा, शरीर होगा।

• शरीर अनित्यं तज्ज्ञो नित्यः ।

शरीर अनित्य है। उसे जाननेवाला नित्य होगा, अविकारी होगा। देश अनित्य है। यह पुस्तक अभी हमसे पूर्व रखी है, अब हम दूसरी ओर बैठ जाते हैं तो पुस्तक हमसे पश्चिम हो गयी, यद्यपि पुस्तक अपने स्थानपर ही रखी है। इसका अर्थ हुआ कि दिशाकी और स्थानकी कल्पना अनित्य है। कालकी कल्पना भी परिवर्तनशील होनेसे अनित्य है। अभी आठ वजे हैं, फिर सवा आठ वजेंगे, फिर साढ़े आठ वजेंगे। इस प्रकार कालकी कल्पना परिवर्तित होती रहती है। लेकिन जिसने पूर्व जाना, उसीने पश्चिम जाना। जिसने आठ वजे समझा, उसीने सवा आठ वजना समझा। जिसने घड़ी देखी, उसीने पुस्तक भी देखी। देश, काल, वस्तुएँ तो परिवर्तित होती रहती हैं; किंतु इनका द्रष्टा परिवर्तित नहीं होता। ज्ञान सदा आत्मपर्यवसायी होता है। दृश्य विकारी होता है। द्रष्टा निर्विकार होता है।

येन रूपेण यन्निश्चितं तद्रूपं न व्यभिचरति ।

जिसका जिस रूपमें निश्चय कर लिया, वह अपने रूपको नहीं छोड़ता, तब उसे तत्त्व कहते हैं। जैसे स्वर्ण—कड़ा, हार, नूपुर, कुंडल बनकर भी स्वर्ण ही रहता है। जो वस्तु विकारी होती है, वह स्वरूपशून्य होती है। जो निर्विकार होती है, उसीका सच्चा स्वरूप होता है। क्षेत्र विकारी है। इसमें वचपन आया, चला गया। यौवन आया चला गया। बुढ़ापा आया, मृत्यु उसे भी ले गयी। जिसमें आकार आते-जाते हैं, वह वस्तु विकारी कही जाती है। जो बनते-बिगड़ते विकारोंका साक्षी है, वह निर्विकार है।

‘क्षेत्रं मिथ्या प्रकाश्यत्वात् पराश्रितत्वात् दृश्यत्वात् ।’

क्षेत्र मिथ्या है, क्योंकि यह स्वतः सिद्ध नहीं होता, दूसरेके द्वारा उसकी सिद्धि होती है, दूसरा इसे प्रकाशित करता है, यह दृश्य है :

यद् दृश्यं यदनित्यं यद्विकारि तन्मिथ्या—जो दृश्य होता है, जो अनित्य होता है, जो विकारी होता है। वह मिथ्या होता है—वस्तुतः होता ही नहीं।

अतएव क्षेत्रं भासमानत्वेऽपि मिथ्या—इसलिए क्षेत्र भासमान होनेपर—प्रतीत होनेपर भी मिथ्या है।

मिथ्या वह नहीं है जो कभी दीखे ही नहीं जैसे वन्ध्यापुत्र। वेदान्तमें इस अर्थमें मिथ्या शब्दका प्रयोग नहीं होता। ‘मिथ्या मिथः सिद्धत्वं’ जो परस्पर सिद्ध हो, वह मिथ्या। जैसे भोजन और रसनाके संयोगसे स्वाद मिला। स्वाद न अकेली रसनामें है, न अकेले भोजनमें। अतः स्वाद तत्त्व नहीं है, स्वाद मिथ्या प्रतीति है।

आजकल वैज्ञानिक कहते हैं—‘आक्सिजन और नाइट्रोजनके योगसे जल बना है, अतः जल तत्त्व नहीं है।’ इसी नियमसे द्रष्टा और दृश्यके संयोगसे उत्पन्न कर्तृत्व-भोक्तृत्व मिथ्या हैं।

लोग कहते हैं—‘अमुक मिथ्याभाषण करते थे ।’

‘वे भाषण करते थे या नहीं ?’

‘भाषण तो करते थे ।’

‘तब भाषण करना मिथ्या कैसे हो गया ?’

‘उनके भाषणका जो अर्थ था, वह अर्थ सत्य नहीं था ।’

इसी प्रकार प्रपञ्चके मिथ्या होनेका अर्थ है, प्रपञ्च दीखता तो है; किन्तु उस चेतन अधिष्ठानमें दीखता है, जिसमें यह प्रपञ्च है नहीं। किसीका मिथ्या होता, उसके दीखनेका विरोधी नहीं है। स्वरूपतः उसके सत्य होनेका विरोधी है।

‘यस्मिन् यदध्यस्तं तस्मिन् तत् स्वाधिष्ठानात् पृथङ् न भवति ।—मिथ्या वस्तु जिस अधिष्ठानमें प्रतीत होती है, उससे भिन्न नहीं होती। इसका अर्थ है कि प्रपञ्च ब्रह्मातिरिक्त कुछ नहीं है। देश, काल और वस्तुके परिच्छेदसे शून्य जिसमें यह प्रपञ्च प्रतीत होता है, उससे भिन्न नहीं है।

‘अभिधीयते’—प्रपञ्च तो वाचारम्भ मात्र है। श्रुति कहती है :

वाचारम्भणं विकारो नामधेयम् ॥ (छा० ६।१।४)

अर्थात् ‘भिन्न-भिन्न पदार्थोंके जो नाम हम लेते हैं, वे नाममात्र हैं, वस्तु नहीं।’ जैसे अनन्तमें पूर्व-पश्चिमका भेद नहीं होता, आज-कलका भेद नहीं होता, यह ‘पूर्व-पश्चिम’ और ‘आज-कल’ नाममात्र हैं, वैसे ही ‘यह, यह’, का भेद भी नाममात्र है।

‘एतद् यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः’ ‘एतद् इदं वेत्ति, शरीरं वेत्ति, क्षेत्रं वेत्ति, अभिधानं वेत्ति तद्वेत्ता पृथक्’—जो ‘इदं’ को, शरीरको, क्षेत्रको अभिधानको जानता है, वह वेत्ता इनसे पृथक् है।

‘यस्यामतं तस्य मतं-मतं यस्य न वेद सः ।’

मतिका साक्षी आत्मा मतिद्वारा गृहीत नहीं होता। ‘आत्मा हमारी बुद्धिका विषय नहीं हुआ’ इसके लिए दुःख एवं आग्रह अज्ञानमूलक है।

‘तद्विदः—तौ क्षेत्र-क्षेत्रज्ञौ ये विदन्ति इति तद्विदः ।’

उन क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनोंको जो जानते हैं, वे तद्विद् हैं। जीव, ईश्वर और जगत्—ये तीनों जिनके ज्ञानका ही विज्ञास है, वे महात्मा तद्विद् हैं।

प्राहुः—उन तद्विद् महात्माओंने इस क्षेत्रज्ञका प्रवचन अज्ञान-निवृत्तिके लिए किया है।



● संगति

‘एतद् यो वेत्ति’ इस क्षेत्रको जो जानता है, वह क्षेत्र है और ‘इदं शरीरं’ यह शरीर ही क्षेत्र है, जब ऐसा कह दिया तो स्वभावतः यह लगने लगा कि प्रत्येक शरीरमें उस-उस शरीरको जानने वाला है, क्षेत्रज्ञ भिन्न-भिन्न है। इस भ्रान्तिको दूर करनेके लिए श्रीभगवान् कहते हैं :

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मत मम ॥ २ ॥

भारत ! सब क्षेत्रोंमें मुझे ही क्षेत्रज्ञ जानो। यह क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका जो ज्ञान है, मेरे मतमें यही वास्तविक ज्ञान है।

भारत—‘भा = प्रतिभा-प्रतिभा तस्य रतः = भारतः’ तुम प्रतिभामें रत—प्रतिभाशाली हो। भारत वंशमें उत्तन्न हुए हो, अतः शूर हो। अतएव अज्ञान-रूप शत्रुको मारो। गीतामें भगवान्ने अन्यत्र भी कहा है :

तस्मादज्ञानसम्भृतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।

छित्त्वेन संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥ (४।४२)

भारत ! अज्ञानसे उत्पन्न हुए इस अपने हृदयमें स्थित सन्देहको ज्ञानकी तीक्ष्ण तलवारसे काटकर उठो, योग का अनुष्ठान करो।

‘क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु’—एक क्षेत्रज्ञ वह है, जो सब क्षेत्रोंमें पृथक्-पृथक् जान पड़ता है। जो एक शरीरको जन्म-मृत्युसे अपनेको जन्मने-मरने वाला, शरीरकी प्रवृत्तिसे अपनेको प्रवृत्तिवाला, सुखी-दुःखी मानता है। यहाँ भगवान् कहते हैं कि वह क्षेत्रज्ञ जो सब क्षेत्रोंमें पृथक्-पृथक् प्रतीत होता है, पृथक्-पृथक् नहीं है। मैं ही वह हूँ।

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ परस्पर विलक्षण हैं। वस्तु एक होनेपर भी यदि उनकी आकृतिमें भेद हो तो लक्षणमें भेद हो जाता है। स्वर्णसे ही कुण्डल भी बने और हार भी; किन्तु इनके लक्षण भिन्न-भिन्न हैं लेकिन इस भेदका निरूपण होनेपर भी मूल धातुमें भेद नहीं होता। लक्षण तो आकृतिका पार्थक्य बतलाने-के लिए होता है। लक्षणके भेदसे तात्त्विक भेद नहीं होता।

‘क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि’ यहाँ ‘च’ तथा ‘अपि’ ध्यान देने योग्य हैं।^० इनके द्वारा मानों भगवान् कहते हैं :

‘पूर्वं क्षेत्रं विद्धि, ततः क्षेत्रज्ञं विद्धि ततः क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि ।’

अर्थात् ‘पहले तुम क्षेत्रको जानो, फिर क्षेत्रज्ञको जानो और फिर वह क्षेत्रज्ञ भी मुझे ही जानो।’

वैष्णव-सम्प्रदायोंमें देहको ‘अचित्’, जीवको ‘चित्’ और परमात्माको ‘चिदचिद्विशिष्ट’ कहते हैं। शरीर अचित् है; क्योंकि यह हमें ज्ञानस्वरूप नहीं जान पड़ता। इस शरीरको जाननेके लिए हमारी आवश्यकता होती है।

मेरे एक मित्र भौतिकवादके जानकार हैं। उनका कहना है : 'जिनकी इन्द्रियाँ काम करती हैं, वह चेतन है। जिनमें इन्द्रियाँ काम नहीं करती, वह जड़ है। सेन्द्रिय चेतन है और निरिन्द्रिय जड़।'

पर हमारी जड़-चेतनकी परिभाषा ऐसी नहीं है। हम कहते हैं :—'जिनके लिए इन्द्रियाँ काम करती हैं, जो इन्द्रियोंके काम करने-न करने, दोनों अवस्थाओंको जानता है, उसे 'चेतन' कहते हैं। जो जाना जाता है, दृश्य है, उसे 'जड़' कहते हैं।'

द्रष्टा—ज्ञाताका नाम चेतन है। जो लोग केवल सेन्द्रियावस्थाको ही चेतन मानते हैं, वे तो वस्तुतः जड़की ही एक अवस्थाको चेतन मानते हैं। सेन्द्रियत्व तो जड़की ही एक अवस्था है। जो निरिन्द्रिय रहकर सेन्द्रिय एवं निरिन्द्रिय दोनों अवस्थाओंको जानता है, वह चेतन है। जाग्रत् एवं स्वप्न सेन्द्रिय अवस्था हैं; निद्रा, समाधि, मूर्छा निरिन्द्रिय अवस्था हैं। चेतन आत्मा इन सब अवस्थाओंका साक्षी है।

वह चेतन कौन है ? वह अपनेसे पृथक् दूसरा नहीं हो सकता। ज्ञानकी सिद्धि 'मैं' से अतिरिक्तके विषयमें नहीं हो सकती। ज्ञान हमारी प्रत्यक्ता छोड़कर अन्यत्र नहीं रह सकता। जगत् है, ईश्वर है आदिको कौन जानता है ? 'मैं' ही तो जानता हूँ। अतः चेतनका पता लगानेके लिए 'मैं' की सूक्ष्म दशाका पता लगाना होगा।

(हममें ज्ञानेन्द्रियोंकी उपाधिसे भोक्तापन भासता है और कर्मेन्द्रियोंकी उपाधिसे कर्तापन, देहकी उपाधिसे काला, गोरा, मोटा, पतलापन आदि लगते हैं। इस प्रकार क्षेत्रके गुण क्षेत्रज्ञने अपनेमें मान लिये हैं। यही अन्योन्याध्यास बन्धन तथा दुःखका कारण है।)

अब क्षेत्रसे क्षेत्रज्ञको पृथक् करें। शरीर जन्मता-मरता है पर मैं जन्मता-मरता नहीं। पुरञ्जनोपाख्यानमें यही बात तो कही गयी है कि पुरञ्जनने पुरञ्जनीका चलना-बैठना, खाना-पीना, सोना-जागना सब अपनेमें आरोपित कर लिया था। इस प्रकार क्षेत्रसे तादात्म्य करनेके कारण ही जितने शरीर, उतने क्षेत्रज्ञकी भ्रान्ति हो रही है। क्षेत्रज्ञ अनेक नहीं हैं, यह बात भगवान् वतला रहे हैं।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि हम विभु होते तो एक साथ सब अन्तःकरणोंसे सम्बन्ध होता। लेकिन प्रत्यक्ष तो यह देखनेमें आता है कि हमारा एक ही अन्तःकरणकी अवस्थाओंसे सम्बन्ध है।

किन्तु ध्यान देनेकी बात यह है कि एक ही देहमें हम कर्णसे एक होते हैं तो मुन पाते हैं, नासिकासे एक होते हैं, तो सूँघ पाते हैं, त्वचासे एक होते हैं तो स्पर्शानुभव कर पाते हैं, रसनासे एक होते हैं तो रसका (स्वादका) अनुभव कर पाते हैं, नेत्रसे एक होते हैं तो देख पाते हैं। एक साथ हम एक समयमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धका अनुभव कर लें, यह सम्भव नहीं। यद्यपि हम समस्त देहमें व्यापक हैं; फिर भी उन-उन गोलकोंसे तादात्म्य करनेपर ही हमें उनके

विषयोंका अनुभव होता है। इसी प्रकार विभु आत्मा एक है, उसके ये एक-एक अन्तःकरण रूप गोलक हैं। इससे तादात्म्यापन्न होकर ही वह इनके गुण-धर्मका अनुभव कर पाता है।

‘सर्वक्षेत्रेषु’ क्षेत्र तो सब हैं। जैसे एक कृषकके अनेक खेत होते हैं। क्षेत्र बहुत हैं; किन्तु क्षेत्रज्ञ एक है। वह क्षेत्रज्ञ सब शरीरोंमें रहता हुआ बुद्धिकी वृत्तियों तथा बुद्धिकी सुषुप्तिसे न्यारा है। सुषुप्ति आती-जाती है, बुद्धि सोती-जागती है। बुद्धि बाह्य विषयोंसे ज्ञान एकत्र करने तथा पुनः उन्हें क्रियाशील करनेका काम करती है। जैसे डाक्टर ओषधिमें क्या गुण-दोष है, यह रोगियोंको ओषधि देकर अनुभव करता है और फिर उस अनुभवके अनुसार चिकित्सा करता है। लेकिन आत्मदेव तो स्वयंप्रकाश हैं। बुद्धि तो वासनाक्रान्त है। बुद्धिकी क्रियाशीलता तथा निष्क्रियता-सुषुप्तिका जो द्रष्टा है, वह क्षेत्रज्ञ है।

एकवार गंगा-किनारे भेरियाघाट (बुलन्दशहर) पर श्री उड़ियावावाजी महाराज, श्री अच्युत मुनिजी महाराज, श्री स्वामी शास्त्रानन्दजी महाराज प्रभृति अनेक उत्तर भारतके प्रसिद्ध महात्मा एकत्र थे। उनमें इस प्रश्नपर विचार चला कि ‘ईश्वर किसीको प्रेरणा देता है या नहीं ? यदि देता है तो सबको देगा। यदि किन्हीं विशेष व्यक्तियोंको ही प्रेरणा देता है तो वह उन विशेष व्यक्तियोंके अन्तःकरणकी विशेषता हुई, ईश्वरकी कहाँ ?

किसीकी भी बुद्धि कभी वासना-विनिर्मुक्त नहीं होती। अन्तःकरण संस्कार खून्य नहीं हो सकता। अतः इस बुद्धिको सोने-जागने दो। इसका द्रष्टा जाग्रत रहता है। बुद्धिके रहते ही उसमें देश, काल एवं वस्तुकी वासना रहती है। यह हमारा देश है, यह बात बुद्धिमेंसे आयी। इसी प्रकार कालमें सूर्य-चन्द्रकी उपाधिसे हम दिन, सप्ताह, मासादिकी कल्पना करते हैं। ध्रुवप्रदेशमें तो छह महीनेका दिन और छह महीनेकी रात्रि होती है। कभी बर्मा और लंका भारत कहा जाता था। पाकिस्तान तो अब बना है। ये सब देश और कालके भेद हमारी बुद्धिमें रहते हैं। बुद्धिमें स्थित संस्कारोंका उदय-विलय होता रहता है। जैसे खेतमें कभी गेहूँ उगाया जाता है, कभी मटर या ज्वार; किन्तु किसान खेत नहीं है। वह खेतको जाननेवाला है। ऐसे ही क्षेत्रज्ञ देशसंस्कार-संस्कृत, कालसंस्कार-संस्कृत, वस्तुसंस्कार-संस्कृत अन्तःकरणको जाननेवाला है। क्षेत्रज्ञ क्षेत्रमें आने-जानेवाली वस्तुओंको अपनी मानकर उनमें फँस गया है, इसीसे बुद्धिमें दुराग्रह आया है।

भगवान् कहते हैं : ‘सब देश और काल तुम्हारी बुद्धि ही सोदमें कल्पित होते और मिटते हैं। सुषुप्तिकालमें तुम किस देशमें रहते हो ? स्वप्नमें जो देश, जो काल तुम देखते हो, उस देश, कालका क्या अर्थ है ?’

प्रश्न उठा : ‘जब मैं बुद्धिसे पृथक् हूँ तो मैं क्या हूँ।’ इसका उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं : ‘क्षेत्रज्ञ चापि मां विद्धि’ क्षेत्रज्ञ परमात्माका स्वरूप है। वह परमात्मासे एक है। परमात्माका अकाट्य स्वरूप अपना आत्मा ही है। विश्वास-से परमात्मा हमारे पीछे प्रत्यक् है और आरोपित रूपसे सामने है। शालग्राम

परमात्मा, प्रतिमा परमात्मा, सूर्य परमात्मा, माता-पिता परमात्मा, पति परमात्मा, गुरु परमात्मा, ये परमात्माके आरोपित रूप हैं। तुम देखते तो हो पाषण, धातु या व्यक्ति और कहते हो—‘यह सर्वज्ञ, अनन्त, जगत्कारण है।’ प्रत्यक्षके विरुद्ध कल्पना या भावनाका नाम ही आरोप है। जिस अनदेखेकी तुम भावना करते हो, वह भावना तो तुम्हारे अन्तःकरणमें ही है। ईश्वरवादीको यह बात भली भाँति समझ लेनी चाहिए कि ईश्वरकी सत्ता, महत्ता, चेतनता तभी सिद्ध हो सकती है, जब ईश्वर हमारे ‘मैं’ से एक हो। ईश्वरसे पृथक् होकर हम दुःखी अपूर्ण एवं परिच्छिन्न हो गये। ईश्वर हमसे पृथक् होकर परिच्छिन्न एवं जड़ हो जायगा।

‘सर्वक्षेत्रेषु’ : जो क्षेत्र पृथक्-पृथक् प्रतीत हो रहे हैं, उन सबमें जो पृथक्-पृथक् क्षेत्रज्ञ—चिदाभास हैं, उन सबमें एक ही परमात्मा है।

गीताकी शंकरानन्दी टीकामें इस श्लोकमें आये ‘चापि’ पर ध्यान दिलाया गया है। श्रीशंकरानन्दजी कहते हैं : ‘इसमें कहा गया ‘क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि’ क्षेत्रज्ञ भी मुझे समझो अर्थ है : ‘कुछ और भी है, जिसे भी ‘मुझे समझो’ यह भगवान् सूचित कर रहे हैं :

क्षेत्रमपि मां विद्धि क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि

क्षेत्र भी मुझे समझो और क्षेत्रज्ञ भी मुझे ही समझो।

भगवान्ने बतलाया कि ज्ञाता और ज्ञेय तो पृथक्-पृथक् हैं; किन्तु वस्तुतः मैं ही उन दोनोंके रूपमें हूँ।

‘क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि’ श्रुति कहती है :—

‘सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन’

यहाँ संसारमें नानात्व कुछ है ही नहीं। जो कुछ है, सब ब्रह्म ही है। यदि हम अपने ‘मैं’ में परिच्छिन्नताका अध्यास न करें तो ‘यह’ की पृथक् प्रतीति न हो। वस्तुतः ‘मैं’ और ‘यह’ दोनों ज्ञानके ही विवर्त हैं। एक अखण्ड ज्ञान ही ‘मैं’ के रूपमें भासमान है और ‘यह’ के रूपमें भी भासमान है। देहमें ‘मैं’ यह वाघ सामानाधिकरण्यसे क्षेत्र परमात्माका स्वरूप और मुख्य सामानाधिकरण्यसे क्षेत्रज्ञ परमात्माका स्वरूप अर्थात् परमात्माके अतिरिक्त कुछ नहीं है।

सामानाधिकरण्य क्या ? जैसे कोई कहे—‘सर्प रज्जु ही है।’ अथवा ‘पुरुष ठूँठ ही है।’ यहाँ वस्तु दो नहीं हैं, वस्तु एक ही है। अन्यत्व है ही नहीं। रज्जुमें प्रतीत होता सर्प है ही नहीं तो सर्प रज्जु ही है, यह कहनेका अभिप्राय सर्पके अस्तित्वका निषेध करना मात्र है। यह वाघ सामानाधिकरण्य है। जब कहते हैं—‘घटाकाश और मठाकाश दोनों एक ही हैं।’ अथवा ‘कंकण और कुण्डल एक ही हैं।’ तो इसे मुख्य सामान्याधिकरण्य कहते हैं; क्योंकि यहाँ घटाकाश अथवा कंकण-कुण्डलके निषेधमें तात्पर्य नहीं है। मुख्य तत्त्व आकाश अथवा आभूषणरूपमें स्वर्ण एक ही है, यह बतलानेमें तात्पर्य है।

‘क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि’ : भिन्न-भिन्न क्षेत्रोंकी उपाधिसे क्षेत्रज्ञ पृथक्-पृथक् जान पड़ता है। क्षेत्रके सम्बन्धसे ही क्षेत्रज्ञमें परिच्छिन्नताकी प्रतीति होती है। क्षेत्रका सम्बन्ध त्याग देनेपर क्षेत्रज्ञमें परिच्छिन्नता नहीं है।

तुम्हें जो यह प्रतीत होता है—मैं शरीरवाला, मैं काला या गोरा, मैं मोटा या पतला, मैं लम्बा या ठिगना, मैं ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य या शूद्र, मैं ब्रह्मचारी-गृहस्थ-वानप्रस्थ या संन्यासी, मैं पापी या पुण्यात्मा, मैं सुखी या दुःखी, ‘मैं’ के इन विशेषणोंको त्याग दो। विशेषणोंका त्याग कर देनेपर जो ‘मैं’ रह जाता है, वह संसारी, सुखी-दुःखी, पापी-पुण्यात्मा नहीं है। वह साक्षात् परमात्मा है।

‘मां विद्धि’ का अर्थ है—सम्पूर्ण उपाधि—ब्रह्मासे लेकर कीटपर्यन्तकी उपाधिका निरसन कर दो तो उनमें जो चेतन क्षेत्रज्ञ है, वह मैं हूँ।

‘निरस्तसर्वोपाधिभेदं सदसदादिशब्दप्रत्ययागोचरं ब्रह्मैव’—समस्त उपाधियोंके भेदको त्याग देनेपर ‘सत्-असत्’ आदि शब्द प्रत्ययसे अगोचर ब्रह्म ही रहता है।

अब कोई कहे—‘सब उपाधिभेद पृथक् कर दें तो सब जड़ ही शेष रहेगा।’ तो यह बात अनुभवके विपरीत है, क्योंकि सब चेतन ही रहता है, यह अनुभव है और सब जड़ ही रहता है, यह अनुमान है। जगत्के मूलमें सब जड़ ही है, यह बात आप देहमें ‘मैं’ करके अनुमान करते हैं। जब सृष्टिका प्रारम्भ हुआ तब क्या था. अथवा जब प्रलय हो जायेगा, तब क्या रहेगा, यह आपने देखा तो है नहीं। उस समय क्या रहता है, यह आप केवल अनुमान करते हैं।

दूसरी ओर आप यह अनुभव करते हैं कि सृष्टिमें जब सृष्टिका मान नहीं रहता, तब भी मैं रहता हूँ। व्याप्तिग्रह हुए बिना अनुमान सच्चा नहीं होता। जिसने रसोई-घरमें अग्नि और धुँका सम्बन्ध देखा है, वही धुआँ देखकर पहाड़में अग्नि होनेका अनुमान कर सकता है। सारी सृष्टिके न रहनेपर जड़ ही रहता है, यह अनुमान देखे बिना आप कैसे करते हैं। जिसने देखा है सृष्टिको वह तो चेतन है। अतः सृष्टिका मूल जड़तत्त्व है, यह अनुभवका विषय कभी नहीं हो सकता। अनुमानाभासके बलपर जगत्के मूलमें जड़-सत्ता सिद्ध की जाती है।

‘क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम’

‘क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं’ ज्ञान वह है, जिस ज्ञानसे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ दोनों जाने जाते हैं। ज्ञान वह है, जिससे जीव, जगत् ईश्वर सब जाने जायें। कारणोपाधिसे ईश्वर जाना जाता है और कार्योपाधिसे जगत्। व्यष्टिकी उपाधिसे जीव जाना जाता है। जो जाना जाता है, वह विषय है। जानना सदा अपने साथ रहता है। जानना—ज्ञान ही अपना स्वरूप है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ ये दोनों ज्ञानके विषय हैं। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं : ‘मेरे मतमें ज्ञान है क्षेत्र क्षेत्रज्ञ दोनोंका प्रकाशक होना—दोनोंका अधिष्ठान होना।’

‘यत् क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं तत् मम ज्ञानं मतम् ।’—जो क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका प्रकाशक ज्ञान है, वह मेरा स्वरूपभूत ज्ञान है—वही मैं हूँ।

आप अपने नेत्रोंसे यह तुलसीपत्र भी देख रहे हैं और यह घड़ी भी । तुलसीपत्र और घड़ीके पृथक्-पृथक् होनेपर भी आपका ज्ञान पृथक्-पृथक् नहीं है । जिस प्रकाशमें घड़ी देखी जा रही है, उसी प्रकाशमें तुलसीपत्र भी । जिन नेत्रोंसे घड़ी देखी जा रही है, उन्हीं नेत्रोंसे तुलसीपत्र भी । जो मैं नेत्रोंके द्वारा घड़ी देख रहा हूँ, वही मैं उन्हीं नेत्रोंके द्वारा तुलसीपत्र भी देख रहा हूँ । यहाँ प्रकाशमें, नेत्रमें और 'मैं' में भेद नहीं है । इससे सिद्ध हुआ कि विषयमें भेद होनेसे ज्ञानमें भेद नहीं होता ।

आपके पास तराजू है । उसपर आप दस ग्राम तौलें, पच्चीस ग्राम तौलें, आधा किलो तौलें, एक किलो तौलें, तराजू एक ही रहेगी । इस प्रकार इन्द्रिय-भेदसे भी ज्ञानमें भेद नहीं होता । जो मैं नेत्रों द्वारा तुलसीपत्रकी हरीतिमा देख रहा हूँ, वहीं मैं नासिका द्वारा उसकी गन्ध भी सूँघ रहा हूँ । देखनेवाला ही सूँघनेवाला है । रंग एवं गन्ध पृथक्-पृथक् हैं, इनके अनुभव इन्द्रियाँ पृथक्-पृथक् करती हैं; किन्तु ज्ञान पृथक्-पृथक् नहीं है ।

जब सात बजा था, तब मैंने घड़ी देखी थी । जब आठ बजा तब भी मैंने घड़ी देखी । समय पृथक्-पृथक् है; किन्तु देखनेवाला एक है । समय बदलता जा रहा है, किन्तु ज्ञान एक है । कालके परिवर्तनसे ज्ञानमें भेद नहीं होता । सृष्टि-के आदिकाल और प्रलयकालकी कल्पना करनेवाला एक ही है ।

मैंने तुलसीका बीज देखा, तुलसीको अंकुरित होते देखा, बढ़ते देखा और अन्तमें मञ्जरी सहित देखा । तुलसीके आकार बदलते रहे, पर मैं नहीं बदला । अतः आकारके भेदसे ज्ञानमें भेद नहीं होता ।

मैं पूर्व दिशाको जानता हूँ । मैं ही उत्तर, दक्षिण, पश्चिम, ईशान, वायव्य, ऊपर, नीचेकी दिशाओंको भी जानता हूँ । इस प्रकार दिशाओंके भेदसे भी ज्ञानमें भेद नहीं होता ।

जो मैं जागता था, वही मैं स्वप्न देखता था और वही मैं गह्र निद्रामें सो गया था । जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाके भेदसे भी ज्ञानमें भेद नहीं होता ।

तुमने एक बार निषिद्ध कर्म किया, पापी हो गये । एकवार अच्छा कर्म किया तो पुण्यात्मा हो गये । लेकिन अपनेको पापी या पुण्यात्मा जाननेवाले तुम ही हो, अतः पाप या पुण्यके कर्मभेदसे तुममें भेद नहीं होता ।

मैंने अमुक व्यक्तिसे मित्रता की । मैंने अमुक व्यक्तिसे शत्रुता कर ली । लेकिन राग-द्वेषमें भेद होनेपर भी ज्ञानमें भेद नहीं होता । अन्तःकरण तो दर्पणके समान है । दर्पणके सम्मुख लाल वस्त्र आया तो उसमें लाल दीखा, हरा सम्मुख आया तो हरा दीखा । इसी प्रकार शत्रु सम्मुख आया तो अन्तःकरणमें द्वेष प्रकाशित हुआ, मित्र सम्मुख आया तो राग प्रकाशित हो गया ।

सुखका भी ज्ञान तुम्हें ही होता है और दुःखका भी ज्ञान तुम्हें ही होता है । सुखी-दुःखीपना, ये ज्ञान नहीं हैं । यह भावनामात्र है । अन्तःकरणमें विक्षेप आया, एकवार शान्ति आयी; किन्तु विक्षेप और शान्ति दोनोंका ज्ञान तुम्हें

होता है। विक्षेप या शान्तिके भेदसे ज्ञानमें भेद नहीं होता। विक्षेप भी तुम्हारे ज्ञानसे प्रकाशित होता है। विक्षेप या समाधिसे ज्ञानमें भेद नहीं होता। समाधि कालमें होती है। घण्टेभरको, दो घण्टेको या दिन दो दिनको—कुछ काल समाधि होगी। किन्तु जब कालका ही ज्ञानपर प्रभाव नहीं पड़ता तो समाधिका ज्ञानपर कैसे प्रभाव पड़ सकता है !

स्मृति-विस्मृतिसे भी ज्ञानका नाश नहीं होता। अभी आपको घड़ेका स्मरण नहीं था, तो क्या घड़ा नष्ट हो गया था या आपका घड़ेका ज्ञान नष्ट हो गया था ? दोनों नष्ट नहीं हुए थे। ज्ञान ऐसा तथ्य है जो विषय, इन्द्रिय, अवस्था, देश, काल, पाप-पुण्य, सुख-दुःख, विक्षेप-समाधि, स्मृति-विस्मृति किसीसे भी नष्ट नहीं होता ।

भिन्न-भिन्न शरीरोंमें भिन्न-भिन्न अन्तःकरण होनेपर भी उनमें जो ज्ञान है, उसमें भेद नहीं होता। यही मुख्य बात समझनेकी है। प्रत्येक अन्तःकरणमें पृथक्-पृथक् जो 'अहं' है—'मैंने यह देखा, यह पाया, यह खाया, यह जाना' उस 'अहं'के पृथक्त्वसे भी ज्ञानमें भेद नहीं होता। क्योंकि सबमें 'अहं' 'अहं' हो रहा है, यह बात भी ज्ञानके द्वारा ही ज्ञात हो रही है। इसका अर्थ है कि ज्ञान व्यष्टि-समष्टि दोनोंसे और सबके अहंकारसे भी पृथक् है :

‘महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च’

पृथिवी, जल, वायु, अग्नि और आकाश ये पाँचों महाभूत, अहंकार, बुद्धि-महत्तत्त्व तथा प्रकृति ये सब तो क्षेत्रके ही अन्तर्गत हैं। अतः ज्ञानमें भेद डाल सके, ऐसा कोई देश, काल, वस्तु, अवस्था आदि सृष्टिमें नहीं है। ऐसा असंसारी ज्ञान न स्वर्ग जाता, न नरकमें पड़ता। उसकी मुक्ति भी नहीं होती; क्योंकि बन्धन ही उसमें नहीं है।

ऐसा ज्ञान अपना स्वरूप है। इसी ज्ञानमें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड—उनकी उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय स्फुरित होते हैं। अनन्त देश, अनन्त काल, ब्रह्मासे कीट-पर्यन्त समस्त प्राणी इसी ज्ञानमें स्फुरित होते हैं। कोटि-कोटि क्षेत्र एवं कोटि-कोटि क्षेत्रज्ञ जिस अखण्ड, अद्वय ज्ञानमें प्रकाशित होते हैं—भगवान् कहते हैं : 'इस ज्ञानको मैं ज्ञान कहता हूँ। यह मेरा ज्ञान है। इसीका नाम मेरा साक्षात्कार है।'

शंका : जब सब क्षेत्रोंमें एक ही ईश्वर है और उसके अतिरिक्त कोई भोक्ता नहीं है तो ईश्वर ही सुखी-दुःखी, संसारी हो रहा है ? अथवा यह कहे कि स्वर्ग-नरक, पुनर्जन्म, जीव-ईश्वरका विभाग है ही नहीं। लेकिन दोनों बातें ठीक नहीं लगतीं, क्योंकि संसारकी सिद्धि तो प्रत्यक्ष ही हो रही है। समस्त शास्त्र-बन्धनकी निवृत्ति, मोक्षप्राप्ति, अधर्मत्याग, धर्माचरणका विधान करते हैं। वे सब व्यर्थ हो जायेंगे। संसारमें लोग सुखी-दुःखी, सम्पन्न-दरिद्र, स्वस्थ-अपंग, सबल-निर्बल देखनेमें आते हैं। यदि आत्मा और ईश्वर एक ही है तो यह भेद कैसे है ?

समाधान : एक बात ज्ञानीकी दृष्टिमें दीखती है, उससे भिन्न बात अज्ञानीकी दृष्टिमें दीखती है। शास्त्र ज्ञानी-अज्ञानीकी दृष्टिका अनुवाद करके भेदका प्रतिपादन करते हैं। शास्त्र सचमुच भेदका प्रतिपादन नहीं करते।

यदि कोई वैज्ञानिक विश्लेषण करके वर्णन करे कि नम्बर दो ऋणशक्तिका चश्मा लगानेवालेको संसार ऐसा बिना चश्मेके दीखेगा, नम्बर चार ऋणशक्तिका चश्मा लगानेवालेको बिना चश्मा लगाये ऐसा दीखेगा, नम्बर छह शक्तिका चश्मा लगानेवालेको बिना चश्मेके ऐसा संसार दीखेगा, तो इस वर्णनके द्वारा वह वैज्ञानिक नेत्रके दौर्वल्यका निरूपण करेगा, उसका वर्णन यह नहीं कहता है कि बाहर अन्धकार घटता-बढ़ता है।

जिसे अखण्ड, अद्वय, अनन्त ब्रह्मतत्त्वका ज्ञान है, उसे यह संसार कैसा दीखता है और जिसे तत्त्वज्ञान नहीं है, उसे सृष्टि कैसी दीखती है, यह जो वर्णन शास्त्रमें है, वह तो मनुष्यके ज्ञान—समझके तारतम्यसे वर्णित है।

ईश्वर सामान्य रूपसे स्वर्ग, नरक सर्वत्र व्यापक है। एक भक्त कहता है :

‘सरग नरक अपवरग समाना।

जहँ तहँ दीख धरे धनु बाना ॥’

दिवि ज्ञा भुवि वा ममास्तु वासो नरके वा नरकान्तकप्रकामम् ।

अवधीरितशारदारकिन्दौ चरणौ ते मरणेऽपि चिन्तयामि ॥

हे नरकान्तक प्रभो ! आपकी इच्छानुसार मेरा वास स्वर्गमें हो, पृथ्वीपर हो या नरकमें हो। जहाँ आप रखना चाहें, रखें। लेकिन मैं तो जीवनमें ही नहीं, मृत्युमें भी आपके शरत्कालीन सुविकसित सरोजके समान आपके चरणोंका चिन्तन करूँगा।

एक भक्तके हृदयमें भावनात्मक भक्तिका उदय होता है तो उसे नरकमें भी ईश्वरका दर्शन होने लगता है। ऐसी अवस्थामें आधिष्ठान दृष्टिसे देखने वालेको नरक-स्वर्ग परमात्मामें आरोपित नहीं दीखेगा ?

अज्ञानीको लगता है कि ईश्वर भला नरकमें कैसे हो सकता है; किन्तु ‘यहाँ-वहाँ, जहाँ-तहाँ, यह-वह, मैं, अब-तब जब, यह सब ईश्वरमें ही है। ईश्वरमें भेद नहीं है। यदि प्रपञ्च ईश्वरसे अभिन्न दीखने लगे तो प्रपञ्च अपनी प्रपञ्चता छोड़ देगा। कोई कहे—‘रस्सीमें सर्प है तो वह काटेगा नहीं।’ अरे भाई, रस्सीका ज्ञान होनेपर सर्प रहेगा नहीं। ईश्वरकी दृष्टिसे तो अज्ञान और अज्ञानकी कृति यह सृष्टि है ही नहीं। अज्ञानके कारण ही सृष्टिमें सृष्टिपना है :

‘दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येतिज्ञाता’ कठ० १।२।४

शास्त्रमें विद्या और अविद्याकी दृष्टिसे भेदका वर्णन है वस्तुतः भेद नहीं है :

द्वाविमौ च पन्थानौ

ये दो मार्ग हैं। वस्तुतः तो मार्ग अविद्वान्के लिए ही है। विद्वान्को तो कहीं आना जाना ही नहीं है। उसके लिए मार्गका प्रश्न ही नहीं उठता।

नियम यह है कि ज्ञानसे मुक्ति होती है और अज्ञानसे बन्धन। अज्ञानसे जो होता है, वह होता ही नहीं और ज्ञानसे जो होता है, वह पहलेसे रहता है। ज्ञानसे मोक्षका अर्थ है कि तुम नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त ही हो। अज्ञानसे बन्धनका

अर्थ है कि तुम वस्तुतः बद्ध नहीं हो, अपनेको तुम जानते नहीं हो, इसलिए बद्ध मानते हो। सच्ची वस्तु ज्ञानसे हटती, बदलती सुधरती या बिगड़ती नहीं है। कर्ममें वस्तु हटती, बदलती, सुधरती या बिगड़ती है। घड़ीको हटाना या सुधारना है तो कर्म करना पड़ेगा। यदि जाननेसे घड़ी यहाँसे हट जाय तो इसका अर्थ होगा कि घड़ी यहाँ थी ही नहीं, वह किसी जादूके प्रभावसे दीख रही थी। न जाननेसे कोई वस्तु है तो वह है ही नहीं। अज्ञानसे बन्धन है और ज्ञानसे वह कटता हैका अर्थ है—बन्धन है ही नहीं। मुक्ति स्वतःसिद्ध है। बन्धन निवर्त्य नहीं है। मोक्ष उत्पाद्य नहीं है। केवल अज्ञान ही निवर्त्य है :

तमेव विदत्वातिमृत्युमेति—श्वेता० ३।८

केवल परमात्माको जाननेसे मृत्युका अतिक्रमण हो जाता है, इसका अर्थ ही है कि मृत्यु नहीं है :

‘तमेवं विद्वानमृतमिह भवति—नृसिंह० १।६

उस परमात्माको जान लिया तो यहीं—इस संसारमें ही अमृत हो गये। इसका तात्पर्य है कि हम पहलेसे ही अमृतस्वरूप हैं।

जो अपनेको नहीं जानते वे अविद्याके चक्करमें पड़े पशु हो गये हैं—डरते हैं। ऐसी सहस्रों श्रुतियाँ हैं। महाभारतमें एक स्थानपर कहा गया है :

‘अज्ञानतश्चैव पतन्ति केचिद् ज्ञाने फलं पश्य यथा विशिष्टम्’

मनुष्यको जब पता होता है कि यहाँ सर्प है तो वहाँसे हट जाता है; जहाँ पता है कि यहाँ गड्ढा है या कुश-कण्टक है, वहाँ पैर नहीं रखता; पता लग जाता है कि इस मार्गमें नदी या नाला है तो उस मार्गसे नहीं जाता। जो नहीं जानता वह कण्ट पाता है, गिरता है। इस प्रकार ज्ञानका फल प्रत्यक्ष है।

बन्धन और मुक्ति केवल जानने-न-जाननेपर निर्भर हैं। एक व्यक्तिको भ्रम हुआ कि पीपलके वृक्षपर भूत है। वह अपने घरका द्वार बन्द करके बैठ गया। समाधि ऐसी ही स्थिति है। लेकिन घरका द्वार बन्द करके वह कब तक बैठा रहेगा ? जब द्वार खोलेगा तो भूतका भय लगेगा। समाधि टूटेगी तब प्रपञ्च विक्षेप करेगा। यदि वह व्यक्ति ठीक जाँच करले कि पीपलपर भूत है या नहीं तो पता लग जायेगा कि खड़खड़ाहटका शब्द पत्तोंके हिलनेसे होता है। पत्तोंपर जुगुनू होनेसे वहाँ चमक दीखती है। यह पता लग गया तो निर्भय हो गया। इसी प्रकार तुम समाधिस्थ रहोगे तो भूतका भ्रम नहीं मिटेगा। जिज्ञासा करोगे तो भ्रम मिट जायेगा।

मनुष्य स्थूल या सूक्ष्म देहमें तादात्म्य करके मान लेता है कि ‘यह मैं हूँ।’ यद्यपि वह परिच्छिन्नका अधिष्ठान है, परिच्छिन्न उसमें अध्यस्त है; किन्तु परिच्छिन्नको ‘मैं’ मान लेनेके कारण वह राग-द्वेष, सुख-दुःख, पाप-पुण्यका कर्ता-भोक्ता बन जाता है।

पृथक्-पृथक् केवल आकृतियाँ देखनेमें आती हैं। इनके भीतर जो मूल धातु पंच तत्त्व हैं, वे तो एक ही हैं। अतः क्षेत्रको अनेक प्रतीतिकी दृष्टिसे कहा गया है। सब क्षेत्रोंमें एक-एक क्षेत्रज्ञ कहा, यह भी प्रतीतिका ही अनुवाद है। जैसे स्वप्नमें एक सहस्र मनुष्योंकी भीड़ दीख पड़ी। वे सब, उनकी आकृतियाँ, उनकी जाति, गुण, स्वभाव सब पृथक्-पृथक् दीखते थे। इस प्रकार स्वप्नमें क्षेत्र बहुत दीखते थे। उन सब क्षेत्रोंमें एक-एक पृथक्-पृथक् क्षेत्रज्ञ भी जान पड़ता था। परन्तु तत्त्वतः स्वप्नके सब पशु-पक्षी, कीट-पतंग, देवता-दानव ऋषि-मानवमें आत्मा तो एक ही है। स्वप्नमें तत्त्व-दृष्टि नहीं थी। स्वप्नकालमें यह भी लगता था कि ये जीव अनादिकालसे जन्म-मरणके चक्रमें पड़े हैं। इस समय ये राग-द्वेषमें फँसे हैं; सुख-दुःख भोग रहे हैं। आगे पता नहीं कितने जन्मोंमें ये मुक्त हों? स्वप्नमें कोई महात्मा, कोई साधक, कोई पापी लगते थे। उस समय हम जिनको मूढ़, सहस्रों जन्म लेनेवाला, पापी या महात्मा समझते थे, उन सबके रूपमें हम स्वयं ही तो थे।

ज्ञानकी चतुर्थ भूमिकामें यह प्रपञ्च स्वप्नवत् प्रतीत होता है। जैसे स्वप्न देखते समय यह जान पड़े कि यह स्वप्न है। यह निश्चय हो जाता है कि अपना और दूसरोंका देह भी कर्ता-भोक्ता नहीं है।

आत्माके अज्ञानसे जगत् सत्यवद् भासता है। भान आत्मासे पृथक् नहीं है। ज्ञाताको अज्ञानी मानना, यही तो सबसे विपरीत प्रत्यय है। अविद्या यही है कि हम ज्ञानस्वरूप होकर भी अपनेको अज्ञानी मानते हैं।

लोग पूछते हैं : 'अज्ञानी कौन ?'

'जिसे यह भी पता नहीं कि अज्ञानी कौन, वही अज्ञानी।' ज्ञाता जब यह नहीं समझता कि 'मैं ही अज्ञानका भी ज्ञाता हूँ, मेरा अज्ञानसे सम्बन्ध नहीं है' तब वही अज्ञानी है :

यः पृच्छति स संशयेनैव पृच्छति ।

जो पूछता है, वह संशयके कारण ही पूछता है। अतः जो पूछता है : 'अपने अधिष्ठान एवं प्रकाशक होनेका अज्ञान कहाँ है?' वह अपने अधिष्ठान-प्रकाशक होनेके विषयमें सन्दिग्ध है :

उभयकोट्यवगाहि ज्ञानं संशयः ।

यह वस्तु है या नहीं? यह ऐसी है या नहीं? इस सन्दिग्ध वृत्तिका—दोनों ओर जानेवाली वृत्तिका नाम संशय है। बिना अज्ञानके संशय नहीं होता। इसीलिए भगवान्ने कहा :

'तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः ।

छित्तैर्न संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥' ४।४२

संशय कहाँ उत्पन्न होता है? 'हृत्स्थं' हृदयमें। कैसे उत्पन्न होता है—'अज्ञानसम्भूतं' अज्ञानके कारण। यह संशय अज्ञानके कारण हृदयमें उत्पन्न होता है, अतः इसे ज्ञानकी तलवारसे हृदयमें ही काटो।

जो अज्ञ है, वह ज्ञाता नहीं हो सकता और जो ज्ञाता है, वह अज्ञ नहीं हो सकता। तुम क्या हो ? यदि तुमने अपनेको अज्ञ जाना तो अज्ञान तुम्हारा विषय हो गया।

कोई-कोई कहते हैं : 'अज्ञानको जानना ही ज्ञान है।' लेकिन यह बात ठीक नहीं है। अज्ञानको जानना ही ज्ञान नहीं है। अज्ञान किसमें ? किस विषयमें ? यह जानना चाहिए। जैसे कोई कहे—'अमुक सज्जन इस गाँवमें रहते तो हैं; किन्तु उनके विषयमें मैं कुछ नहीं जानता।' यह 'कुछ नहीं जानता' इतना जानना ही तो उस सज्जनका ज्ञान नहीं हो गया।

वस्तुतः तुम तो ज्ञाता हो, ज्ञानस्वरूप हो, स्वयं-प्रकाश हो। तुममें अज्ञान नहीं है। स्वयंप्रकाश ब्रह्ममें अज्ञान नहीं है।

'तव अज्ञान कहाँ है ?'

अज्ञानका न कोई आश्रय है, न विषय। तुम ही तुम हो। इसीका नाम ग्रन्थिभेद है कि अज्ञान न था, न है और न होगा। तुम ज्ञानस्वरूप ब्रह्म हो। तुममें ग्रन्थि कहाँसे आयी। वह तो प्रसिद्ध है। यह तो तुमको सिद्ध हो गया कि ग्रन्थि नहीं है ? तब अज्ञान मिट गया।

जगत् भावात्मक ज्ञानस्वरूप आत्मासे अपृथक् है; किन्तु आत्माके अज्ञानसे पृथक् प्रतीत होता था। आत्माका ज्ञान होनेपर आत्मासे पृथक् जगत् कोई सत्य है, ऐसा नहीं भासता।

'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।

तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।

सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥

गीता ६।३०-३१

भगवान् कहते हैं : जो सर्वत्र मुझे देखता है और सबको मुझमें देखता है, मैं उसके लिए कभी लुप्त नहीं होता और वह मुझसे कभी लुप्त नहीं होता। जो सम्पूर्ण भूतोंमें एकत्व रूपमें स्थित मेरा भजन करता है वह योगी सर्वथा व्यवहारमें लगा हुआ होनेपर भी मुझमें ही वर्तन कर रहा है।

सबमें अपना आत्मा है। सब अपने आत्मामें हैं। आत्मा और जगत्का वस्त्रमें सूत जैसा ओतप्रोत भाव है। यह 'त्वं' पदार्थका वर्णन हुआ।

'यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।'

सबमें ईश्वर और सब ईश्वरमें, यह 'तत्' पदार्थ हुआ। ये दोनों वर्णन तभी ठीक होने सम्भव हैं, जब आत्मा और ईश्वर दोनों शब्दोंका अर्थ एक हो।

सब भूतोंमें आत्मा-परमात्मा और सब भूत आत्मा-परमात्मामें—इस प्रकार 'एकत्वमास्थितः' जो परमात्मा सो मैं, जो मैं सो परमात्मा, इस प्रकार चिन्तन-भजन करनेकी बात कही गयी।

एकने कहा : 'घटमें मिट्टी और मिट्टीमें घट है।'

दूसरेने कहा : पृथ्वीमें घट और घटमें पृथिवी है ।

यहाँ 'मिट्टी' और 'पृथिवी' दोनों शब्दोंका अर्थ एक हो गया । इसी प्रकार यहाँ आत्मा और परमात्मा शब्द एकार्थक हो गये हैं ।

'सर्वथा वर्तमानोऽपि' वह ब्रह्माके समान सृष्टिकर्ता, रूद्रके समान संहारकर्ता, विष्णुके समान पालनकर्ता, शुक्रदेवादिके समान विरक्त अथवा जनकादिके समान राज्य करता हुआ भी—सर्वथा व्यवहार करता हुआ भी, वह योगी 'मयि वर्तते' उसका व्यवहार मेरा स्वरूप है । उसका चलना-डोलना, उठना-बैठना, मौन-बोलना, खाना-पीना, सोना-जागना, सब ब्रह्मस्वरूप है । यह 'तत्त्वमसि' महावाक्यका निरूपण ही गीताके इस तेरहवें अध्यायके पहले तीन श्लोकोंमें हुआ है ।

'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' इसका स्पष्टार्थ हुआ—'मां विद्धि क्षेत्रज्ञं विद्धि उभयोरैक्यं विद्धि' मुझे जानो, क्षेत्रज्ञको जानो और इनके ऐक्यको जानो । क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनोंका प्रकाशक ज्ञान है । संसारमें ज्ञानका प्रतिनिधि है शब्द । ज्ञानका प्रतिनिधि यन्त्र नहीं है । एक व्यक्तिका ज्ञान दूसरे व्यक्तिपर शब्दके माध्यमसे ही संचारित होता है । जैसे एक राज्यका प्रतिनिधि दूसरे राज्यमें जाता है तो वहाँ अपने राज्यकी ओरसे बोलता है । ज्ञानस्वरूप भगवान् गरुड़पर चढ़कर आते हैं । गरुड़ शब्दस्तोम हैं ।



• संगति

दो श्लोकोंमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका सूत्रात्मक वर्णन करके अब विस्तारसे इन दोनोंको पृथक्-पृथक् पूरा समझानेके लिये भगवान् वर्णन प्रारम्भ करते हैं :

तत्क्षेत्रं यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।

स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ॥ ३ ॥

वह क्षेत्र जो है, जैसा है, जैसे विकारवाला है, जिस कारणसे बना है, जो कार्य है और वह क्षेत्रज्ञ जैसा है, उसका जो प्रभाव है, वह संक्षिप्त रूपसे मुझसे सुनो ।

‘यच्च तत् क्षेत्रं’ वह क्षेत्र जो है, ‘यादृक् च’ उसका स्वभाव जैसा है, ‘यद्विकारि’ वह जिस प्रक्रियासे विकृत होकर जो-जो बनता है ‘यतश्च’ जिस कारणसे वह उत्पन्न होता है और ‘यत्’ जो कार्य वह बना है, यह सब तथा ‘स च’ वह क्षेत्रज्ञ ‘यत् प्रभावश्च’ जो प्रभाव रखनेवाला है ‘तत् समासेन’ यह सब संक्षिप्त रूपसे ‘मे शृणु’ मुझसे सुनो । विस्तारसे जाननेके लिये तो समस्त शास्त्र हैं ही । सम्पूर्ण शास्त्रोंमें क्षेत्रका वर्णन, क्षेत्रज्ञका वर्णन तथा उनके ऐक्यका वर्णन ही है । ‘शृणु’ यह श्रवणका ही विषय है । अपनी बुद्धिसे शोध करके इसका यथार्थ ज्ञान नहीं होता—अतः सुनो ।



● संगति

‘मे शृणु’ कहनेसे यह सन्देह न हो जाय कि श्रीकृष्णचन्द्र अपनी ओरसे कोई नवीन बात कह रहे हैं, इसलिये भगवान् यह सूचित करते हैं कि वे श्रुति, स्मृति प्रतिपादित, ऋषि-परम्परासे आये सनातन सत्यको ही अपने वर्णनका विषय बनाने जा रहे हैं

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।

ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥ ४ ॥

श्रुतिके अनेक मन्त्रोंके द्वारा ऋषियोंने पृथक्-पृथक् बहुत प्रकारसे इसका गान किया है और ब्रह्मसूत्रके पदों—सूत्रोंमें कारण देकर इसका सम्यक् निश्चय किया गया है । ‘ऋषिभिर्बहुधा गीतं’ यह क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ तथा क्षेत्रज्ञ एवं परमात्माकी एकताका वर्णन ऋषियोंने बहुत प्रकारसे किया है । गौतम, कणाद, पतञ्जलि, कपिल आदि महर्षियोंने न्याय, वैशेषिक, योग, सांख्य-दर्शनोंमें इसका निरूपण किया है । ‘छन्दोभिर्विविधैः पृथक्’ अनेकों श्रुतियोंमें इसका निरूपण हुआ है ।

‘ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव’ ब्रह्मके सूचक पदों (ब्रह्मसूत्र) में ‘हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः’ कारण देकर इसका विनिश्चय किया गया है ।

‘अथातो ब्रह्मजिज्ञासा’ : यह ब्रह्मसूत्रका प्रथम सूत्र यदि ‘अथातो विष्णु-जिज्ञासा’ अथवा ‘अथातो शिव जिज्ञासा’ जैसा कुछ होता तो वह एक आकृतिमें ले जाता । ‘ब्रह्मजिज्ञासा’ होनेसे यह हुआ कि शिव, विष्णु, देवी, सूर्य, गणपति, आदिमें आकृति भिन्न-भिन्न होनेपर भी सबमें एक अखण्ड सत्य है, उसकी जिज्ञासा हुई । अद्वितीय ब्रह्मतत्त्व-जिज्ञासा करनेके लिए ब्रह्मसूत्रकी प्रवृत्ति है । इसी प्रकार श्रीमद्भागवतका प्रथम श्लोक है :

जन्माद्यस्य यतोऽन्वयादितरतश्चार्थेष्वभिन्नः स्वराट्
तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये मुह्यन्ति यत् सूरयः ।
तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा
धास्ता स्वेन सदा निरस्तकुहकं सत्यं परं धीमहि ॥

इस श्लोकके अन्तिम चरणमें ‘सत्यं परं धीमहि’ के स्थानपर ‘विष्णु’ परं धीमहि’ ‘शम्भु’ परं धीमहि’ ‘रामं परं धीमहि’ ‘कृष्णं परं धीमहि’ ‘देवीं परं धीमहि’ आदिमेंसे भी कुछ होता तो श्लोक ठीक ही रहता; किन्तु ‘सत्यं परं धीमहि’ का प्रयोग यह बतलानेको आया है कि इसमें सत्य शब्द ब्रह्मके स्थानपर है । ‘हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः’ ब्रह्मसूत्र हेतुमान् एवं विनिश्चित हैं, कारण बतलाकर, विनिश्चय करके बात कहते हैं । पूर्वपक्ष उपस्थित करके फिर उसका समाधान किया गया है । पहले संशय किया, फिर उसका समाधान करके सिद्धान्त स्थापित किया । जैसे न्यायाधीशके सम्मुख कोई अभियोग हो । उसमें वादी और

प्रतिवादी अपने-अपने पक्षकी युक्तियाँ देते हैं। न्यायाधीश दोनोंकी युक्तियोंका परीक्षण करके तब निर्णय करता है।

‘ऋषिभिर्वहुधा गीतं’—ऋषियोंने अनेक प्रकारसे इस आत्मतत्त्वका गान किया है, जैसे श्रीमद्भागवतमें :

आत्मा नित्योऽव्ययः शुद्ध एकः क्षेत्रज्ञ आश्रयः ।

अविक्रियः स्वदृग् हेतुर्व्यापकोऽसंग्यनावृतः ॥

एतैर्द्वादशभिर्विद्वानात्मनो लक्षणैः परैः ।

अहं ममेत्यसद्भावं देहादौ मोहजं त्यजेत् ॥ —७।७।१९-२०

आत्मा नित्य अव्यय, शुद्ध, एक (अद्वितीय), क्षेत्रज्ञ, सबका आश्रय, अविकारी, स्वयं प्रकाश, सबका मूल कारण, व्यापक, असङ्ग और अनावृत है। परम तत्त्व आत्माके इन बारह लक्षणोंको हृदयमें धारण करके विद्वान् पुरुषको चाहिए कि देहादिमें जो मोहके कारण अहंता-ममता रूप असत्-भाव हो गया है, उसे त्याग दे। अन्यत्र भी ऋषियोंने इस आत्माका वर्णन नाना प्रकारसे किया है :

पिण्डः प्राणगतः पुंसः शिरः पाण्यादिलक्षणः ।

ततोऽहमिति पुत्रैतां संज्ञां राजन् करोम्यहम् ॥

इस प्राणवान् देहमें पुरुषका सिर, हाथ, पैर आदि अंग हैं। यह देह तो इन अंगोंका एक पिण्ड है। इसमें ‘मैं’ नामकी वस्तु कौन-सी है। ‘यह मैं हूँ’ ऐसी कल्पना ही तो मनुष्य करता है :

‘एतत् तव शिरः किन्तु उरः पाणिस्तथोदरम् ।

किमु पादादिकं त्वं वै तवैतत् किं महीपते ॥’

राजन् ! यह सिर तुम्हारा है या तुम सिर हो ? हृदय तुम्हारा है या तुम हृदय हो ? पेट तुम्हारा है या तुम पेट हो ? इसी प्रकार हाथ-पैर आदि अंग तुम्हारे हैं या तुम इनमेंसे कोई अंग हो ? यह जो तुम ‘अहं’ बोल रहे हो, वह तुम्हारा ‘अहं’ क्या है ?

‘समस्तावयवेभ्यस्त्वं पृथक्स्थितः ।

देहात्पृथक् कोऽहमिति भूत्वा चिन्तय पार्थिव ॥’

राजन् ! तुम सब अंगोंसे पृथक् स्थित हो। अतः इस देहसे पृथक् होकर सोचो कि ‘मैं कौन हूँ।’ ‘छन्दोभिर्विविधैः पृथक्’ श्रुतियोंने भी नानाप्रकारसे इस आत्मतत्त्वका वर्णन किया है : ‘अदृष्टं द्रष्टुं अश्रुतं श्रोतुं अमनं मन्तुं ।’ वह दृश्य नहीं है द्रष्टा है। वह श्रुत नहीं है श्रोता है। वह मत नहीं है, मन्त है :

‘ब्रह्मसूत्रपदैश्चैवं’ ब्रह्मसूत्रमें इस आत्मतत्त्वके वर्णनके अनेक सूत्र हैं : ‘न वियदश्रुतेः’ : आकाश आत्मा नहीं है—श्रुतिसे यह अप्रतिपादित है। यहाँसे प्रारम्भ करके : ‘नात्माश्रुते नित्यत्वाच्च ताभ्यः ।’ ‘ज्ञोऽत एव ।’

इस सूत्र पर्यन्त आत्मतत्त्वका ही वर्णन है और वहाँ कारण बतलाकर ‘विनिश्चय’—पक्का निश्चय किया गया है।



● संगति

अब पहले क्षेत्रका वर्णन प्रारम्भ करते हैं। क्षेत्रके वर्णनमें न अधिकारीकी आवश्यकता है, न प्रमाणकी। क्षेत्र प्रत्यक्ष-असुमानका विषय है। इसे सब समझ सकते हैं। क्षेत्रके निरूपणमें कोई विवाद भी नहीं है। क्षेत्रज्ञके निरूपणके लिये ऋषियोंने, श्रुतियोंने भी क्षेत्रका पहले वर्णन किया है :

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।

इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥ ५ ॥

पञ्चमहाभूत, अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त प्रकृति, दस इन्द्रियाँ, एक मन, इन्द्रियोंके पाँच विषय । (यह थोड़ेमें विकारवान् क्षेत्रका वर्णन है ।)

‘महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।’

इसमें आठ नाम भगवान्ने लिये। ये आठ वे ही हैं जो अपनी अष्टधा प्रकृतिके वर्णनमें भगवान्ने बतलाये हैं :

‘भूमिरापोऽनलोवायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।

अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ७।४

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश ये पञ्चमहाभूत, अहंकार, बुद्धि अर्थात् महत्तत्त्व और अव्यक्त प्रकृति ये आठ हो गये। दूसरी अर्धालीमें सोलह तत्त्व गिनाये हैं :

‘इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ।

(दस इन्द्रियाँ—पाँच ज्ञानेन्द्रिय कर्ण, नेत्र, त्वचा, रसना और नासिका तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ—वाणी, हाथ, पैर, उपस्थ और गुदा। एक मन तथा ज्ञानेन्द्रियोंके पाँच विषय—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। इन पाँच विषयोंको ही तन्मात्रा कहते हैं। सांख्यशास्त्रमें २४ तत्त्व माने गये हैं) वे कहते हैं—‘एका तु प्रकृतिः’ एक प्रकृति है। प्रकृति कारण है। वह किसीका कार्य नहीं है। उनके मतसे चौबीस तत्त्वमेंसे १६ तत्त्व विकार हैं : ‘षोडश तु विकाराः ।’

‘महाभूतानि’—महाभूत सब विकारोंमें व्यापक हैं। ये अन्तिम कार्य हैं। वृक्ष, पशु-पक्षी, कीट, मनुष्यादि सब पञ्चमहाभूतोंसे ही बनते हैं।

हम रूप देखते हैं, इसमें रूप बाहर होता है। वह नेत्रमें आकर मनमें पहुँचता है; तब हमें रूपका ज्ञान होता है। पञ्चतन्मात्राएँ तीन स्थानोंमें दीख पड़ती हैं—विषयमें, इन्द्रियमें और मनमें। इसमें आध्यात्मिक रूप नेत्र और मन है। आधिभौतिक रूप विषय बाहर हैं। आधिदैविक रूप रूपतन्मात्राका सूर्य है। इसी प्रकार हम पाँच ज्ञानेन्द्रियोंसे पाँच तत्त्व देखते हैं। वैज्ञानिक लोग पदार्थोंकी छानबीन करके उनका रूप निश्चित करते हैं; किन्तु हमारी प्राचीन भारतीय प्रणाली यह है कि हम अपने अनुभवकी छानबीन करके पदार्थोंका रूप निश्चय करते हैं। वैज्ञानिक प्रणाली आधिभौतिक प्रणाली है और हमारी प्रणाली आध्यात्मिक प्रणाली है।

जैसे नासिकासे गन्ध उपलब्ध होती है, अतः गन्धके विषयमें नासिका ही प्रमाण है। जिह्वा कहे—‘यह पदार्थ खट्टा है।’ नेत्र कहे—‘इसमें खट्टापन दीखता नहीं।’ तो नेत्रकी बात प्रमाण होगी ? जिह्वा अन्य इन्द्रियोंसे अननुभूत एवं अन्य इन्द्रियोंसे अबाधित वस्तुका ज्ञान कराती है, इसलिए जिह्वा प्रमाण है। इसी प्रकार नासिका, कर्ण, नेत्र और त्वचा हैं। ये पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच विषयोंका भोग उपलब्ध कराती हैं। विषयमें भले पाँचों मिश्रित हों; किन्तु इन्द्रियोंमें वे मिले नहीं हैं। जैसे गुलाबका पुष्प है। नासिका उस पुष्पमें सुगन्धि बतलाती है। नेत्र उसका रंग बतलाते हैं। त्वचा उसका स्पर्श बतलाती है। रसना उसका स्वाद बतलाती है। कर्ण यह बतलाते हैं कि उसे फटकारने—ठोंकनेपर शब्द कैसा निकलता है। बाह्य पदार्थ पञ्चभौतिक होते हैं, अतः उनमें पाँचों तत्त्व मिले रहते हैं; किन्तु ज्ञानेन्द्रियाँ अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतोंमेंसे एक-एकसे बनी हैं, अतः वे एक-एक महाभूतको ग्रहण करती हैं।

मन पाँचों तन्मात्राओंको ग्रहण करता है। मनके द्वारा हम शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—इन पाँचोंका ही चिन्तन करते हैं। इन्द्रियाँ केवल प्रत्यक्ष—वर्तमानको ही बतलाती हैं; किन्तु मन भूत-भविष्यके पदार्थोंको भी कल्पनासे बतलाता है। इन्द्रियोंकी अपेक्षा मनमें कल्पना और स्मृति विशेष हैं। मन यद्यपि शब्द, स्पर्शादि पाँचोंको बतलाता है; किन्तु एक साथ एकको ही ग्रहण करता है। मनमें अपञ्चीकृत पञ्चमहाभूतका संघात है।

पञ्चमहाभूतोंकी सात्त्विक तन्मात्रासे मन तथा इन्द्रियाँ बनती हैं, तामस तन्मात्रासे विषय—बाह्य पदार्थ बनते हैं तथा राजस तन्मात्रासे क्रिया होती है।

कर्मेन्द्रियाँ ज्ञानेन्द्रियोंकी अनुपूरक हैं। कर्ण सुनना चाहता है, जिह्वा बोलती है। दोनोंमें आकाशकी शब्द तन्मात्रा है। सुनना सत्त्व-प्रधान कर्मेन्द्रियसे होता है। बोलना रजसुप्रधान वाणीसे होता है। जिह्वाका स्थूलरूप तामस-प्रधान है। त्वचासे स्पर्श करना चाहते हैं तो हाथ स्पर्शमें सहायता करते हैं। दोनोंमें वायुकी स्पर्श तन्मात्रा है। नेत्र रूप देखना चाहते हैं तो पैर वहाँतक ले जाते हैं। दोनोंमें अग्निका तैजस तत्त्व है। रसनासे रस ग्रहण किया जाता है तो मूत्रेन्द्रियसे विसर्जन होता है। दोनों जलके रस तत्त्वसे बनी हैं। नासिका गन्ध ग्रहण करती है और गुदा अपानवायु विसर्जित करती है। दोनोंमें पृथिवीकी गन्ध तन्मात्रा है।

भौतिक-यन्त्र करण बनकर कोई वस्तु नहीं दिखलाते हैं। वे उपकरण हैं। जैसे नेत्र तो करण हैं और चश्मा, दूरबीक्षण या सूक्ष्मबीक्षण यन्त्र नेत्रके उपकरण हैं। उपकरण हमारे करणोंके द्वारा ही ज्ञान-प्राप्तिमें सहायक होते हैं :

पञ्चमहाभूतान्यात्मा न भवन्ति पञ्चत्वाद् ज्ञेयत्वात् ।

पञ्चमहाभूत आत्मा नहीं हो सकते, पाँच होनेके कारण; क्योंकि आत्मा तो एक है। ज्ञेय होनेके कारण भी ये आत्मा नहीं हो सकते; क्योंकि आत्मा तो ज्ञाता है।

संघातस्य परार्थत्वात् ।

संघात—समूह तो किसी अन्यके लिए होता है। पंचभूतसे बना देह, पंचभूतसे बने विषय, पंचभूतोंको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियाँ, पंचभूतोंके गुण पंचतन्मात्राएँ, पंचतन्मात्राओंका संघात तथा वह मन, यह सब महाभूतोंका ही विस्तार है। ये महान् भी हैं और भूत भी, इसीसे इन्हें महाभूत कहते हैं। महान् इसलिए कि बहुत व्यापक हैं और भूत इसलिए कि उत्पन्न हुए हैं—‘भवन्ति इति भूताः’ इनका लय सुषुप्तिमें देखा जाता है, अतः ये उत्पन्न हुए हैं। व्यवहारमें भी कार्यका कारणमें लय देखा जाता है। इन पंचभूतोंसे बना पूरा विस्तार आत्मा नहीं हो सकता।

पञ्चमहाभूतोंका यह विस्तार—यह तो भगवान् शंकरका महाश्मशान जाग रहा है। उद्भिज्ज, स्वेदज्ज, अंभज्ज और जरायुज्ज जितने भी शरीर हैं, सब पञ्चमहाभूतोंसे ही बनते हैं और मरकर पञ्चमहाभूतोंमें ही लय हो जाते हैं। अतः ये सब शरीर पञ्चमहाभूत ही हैं। पञ्चमहाभूतोंके कार्य होनेसे ये आत्मा, क्षेत्रज्ञ, द्रष्टा नहीं हैं। ये क्षेत्र हैं, दृश्य हैं।

तुम देह नहीं हो। तुम देहके उपादान, पञ्चमहाभूत नहीं हो। सर्वत्र ही कार्य अपने कारणमें लौटता है। जैसे घड़ा फूटगा तो अपने कारण मिट्टीमें मिल जायेगा। घड़ेके समान शरीर भी बनता-बिगड़ता है। इसपर एकने शंका की—‘दूध उपादान है। उससे दही बना। लेकिन दही फिर दूध तो नहीं बन सकता। अतः कार्य अपने कारणमें ही लीन होता है, यह नियम सर्वत्र कैसे लागू हो सकता है?’

इसका उत्तर यह है कि दूध, दहीमें कोई भी उपादान कारण नहीं है। पंचभूत ही दूध-दही दोनोंके उपादान कारण हैं। अतः दूध, दही दोनों पंचभूतोंमें ही मिलते हैं। पंचभूत स्वयं अन्तिम कार्य हैं, सब दार्शनिकोंने यह माना है। पञ्चमहाभूतोंका कार्य कोई नहीं है। ससारके पदार्थ पञ्चमहाभूतोंके तारतम्यज संघातमात्र हैं। अतः उनमें कार्य-कारणभावकी कल्पना असंगत है। ये पञ्चमहाभूत क्षेत्र हैं, आत्मा नहीं हैं।

‘अहंकारः’—पञ्चमहाभूतोंका जब कोई कार्य नहीं है, तब ये विभिन्न अनुपातोंमें मिश्रित होकर देहाकृति कैसे धारण करते हैं? इनको इस आकारमें कौन एकत्र करता है? वह तत्त्व अहंकार है। जैसे लौह-चूर्णमें चुम्बक डाल दो तो चूर्णके कण चुम्बकमें लिपट जाते हैं, वैसे ही महाभूतोंको देहाकार देनेवाला चुम्बक अहंकार है।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि बात ‘अहं’की नहीं कही जा रही है। बात ‘अहंकार’की कही जा रही है। अर्थात् उस अहंकारकी बात कही जा रही है जो क्रियायुक्त है, कर्मजन्य है और कर्मका अभिमानी है। जो कर्म संस्कारोंको धारण करनेवाला है। लेकिन यह भी ध्यानमें रखना चाहिये कि यहाँ व्यष्टि अहंकारकी चर्चा नहीं है। यह वर्णन समष्टि अहंकारका है।

ये पंचमहाभूत अहंकारमें ही लीन होते हैं। यह अहंकार भी कार्य है, अतः क्षेत्र है। कियाँ तो सहस्रों होती हैं। सब कियाँ पुरुषके लिए होती हैं। पुरुष क्रियाके लिये नहीं होता। महाभूतोंसे लक्ष-लक्ष वस्तुएँ बन रही हैं। इस क्रियाके मूलमें कर्तृत्व शक्ति क्या है? अहंकार है। अहंकारके बिना क्रियाके द्वारा व्यवस्थित कर्म नहीं हो सकता।

‘बुद्धि’ : कर्ता तो हो, किन्तु उसके बुद्धि न हो तो उसके कर्म कैसे व्यवस्थित होंगे। सृष्टिकी इस क्रियाके मूलमें जो कर्ता अहंकार है, उसका कारण बुद्धि—महत्तत्त्व है :

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे ।

श्रुति कहती है कि पहले हिरण्यगर्भ ही था। यहाँ पूछा जा सकता है—‘क्या महत्तत्त्व-बुद्धि सदा क्रियाशील ही रहती है? इसका उत्तर है—नहीं।

‘अव्यक्तमेव च’—एक ऐसी अवस्था आती है, जहाँ सब अव्यक्त हो जाता है। जैसे आपकी गाढ़ सुषुप्ति है; जहाँ न समयका मान है, न बाह्य वस्तुका, न देशका, कि मैं कहाँ हूँ। वहाँ यह कुछ स्फुरित नहीं होता। यह महत्तत्त्वकी दशा है। मैं कौन हूँ, क्या हूँ, कहाँ हूँ आदि स्फुरित होना अहंकारकी दशा है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धका पता लगने लगा—यह पंचतन्मात्राओंके उदय होनेकी अवस्था है।

ये कुल चार दशाएँ हैं—प्रव्यक्त, महत् और अहंकार, और पंचमहाभूत। इनमेंसे अव्यक्त, महत् और अहंकार ये तीन और पंचमहाभूतोंके पाँच मिलकर आठ हो गये। ये सब क्षेत्र हैं।

महाभूतोंकी उपाधिसे युक्त जो चेतन है, उसे विश्व-विराट् कहते हैं। वही अहंकार है। चैतन्यकी दृष्टिसे अहंकार ही विराट् है। यह स्थूल प्रकृतिका भोक्ता है। महत्तत्त्व-बुद्धिमें जो चैतन्य है उसे सूत्रात्मा-तैजस-हिरण्यगर्भ कहते हैं। वह सूक्ष्मका भोक्ता है। अव्यक्तमें चैतन्यको ईश्वर कहते हैं। इस प्रकार प्राज्ञ और ईश्वर अव्यक्तकी उपाधिसे, सूत्रात्मा और हिरण्यगर्भ महत्तत्त्व (बुद्धि) की उपाधिसे एवं विश्व-विराट् अहंकारकी उपाधिसे चैतन्यके नाम होते हैं।

नियम है कि ज्ञानका ज्ञान नहीं होता। ज्ञान कभी ज्ञेय नहीं बनता। जो ज्ञेय होता है, वह जड़ होता है। ज्ञान केवल प्रकाशक है। न्यायादिमें प्रत्यक्षिज्ञा रूपमें ज्ञानका ज्ञान होना मानते हैं; किन्तु वेदान्तको यह मत मान्य नहीं है। वेदान्तके अनुसार ज्ञान केवल प्रकाशक है, प्रकाश्य नहीं है। इसका अर्थ है कि अहंकारमें जो चैतन्य है, महत्तत्त्वमें जो चैतन्य है, अव्यक्तमें जो चैतन्य है, वह एक ही है। प्रकृतिकी बीजात्मकता-रूप उपाधिसे उसका नाम ईश्वर, बुद्धिकी उपाधिसे उसका नाम हिरण्यगर्भ और स्थूल विश्वकी उपाधिसे उसका नाम विराट् है। नाम-भेद उपाधि-भेदसे ही है। चेतन एक ही है।

पुराणोंमें अहंकारके भी तीन भेद माने गये हैं—वैकारिक, तैजस और तामस। इनकी कियाँ भी पृथक्-पृथक् हैं। तामस अहंकारसे पञ्चमहाभूत, तैजस (राजस) अहंकारसे प्राण, क्रिया-शक्ति एवं कर्मेन्द्रियाँ, तथा वैकारिक

(सात्त्विक) अहंकारसे ज्ञानात्मक मन एवं ज्ञानेन्द्रियोंकी उत्पत्ति हुई है। इन सबके परिवर्तनशील तथा ज्ञेय होनेसे ये सब क्षेप हैं :

‘इन्द्रियाणि दशैकञ्च पञ्च चेन्द्रियगोचराः।’

पृथिवी-तत्त्व—जिसकी प्रधानतासे शरीर बनते हैं, वह पृथिवी न मैं हूँ, न पृथिवी मेरी है। पृथिवीका गुण—गन्ध न मैं हूँ, न गन्ध मेरी है। गन्धतन्मात्रासे बनी नासिका-न मैं हूँ, न नासिका मेरी है। गन्धकी कल्पना करनेवाला मन-न मैं हूँ, न मन मेरा है। उस गन्धसे आनन्द आया, यह अहंकार आया कि मैंने सुगन्धि—इत्र बनाया, उस सुगन्धिका भोग, सुगन्धि है यह बुद्धि, सुगन्धिकी बीजावस्था—यह सब या इनमेंसे कोई न मैं हूँ, न ये मेरे हैं। इसी प्रकार जल, अग्नि, वायु और आकाश तथा इनके गुण, इनकी इन्द्रियाँ, मन, अहंकार, बुद्धि आदि—न मैं हूँ, न ये मेरे हैं। **‘गुणक्रियाश्रयत्वं द्रव्यत्वम्’** रूप-रसादि द्रव्यके गुण हैं। द्रव्य गुण और क्रियाका आश्रय होता है। ऐसा न्याय और वैशेषिक दर्शन मानते हैं। वेदान्ती कहते हैं :

गुणक्रियाश्रयं द्रव्यमिति मूढप्रतारणा ।

द्रव्य गुण और क्रियाका आश्रय है, यह बात तो मूर्खोंको ठगनेकी बात है। यह तथ्य नहीं है।

सांख्यदर्शन कहता है—ये शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध तो विषयोंसे भी सूक्ष्म हैं, अतः ये द्रव्यके गुण नहीं हैं। ये तन्मात्रा हैं। तन्मात्रासे पंचमहाभूत उत्पन्न होते हैं। ये महाभूतोंके—द्रव्यके कारण हैं।

वेदान्ती कहते हैं—ये शब्द, स्पर्शादि केवल ऐन्द्रियक हैं। इन्द्रियोंसे पृथक् इनका अस्तित्व ही नहीं है। जैसे कैमरेमें जो आकृति प्रतिबिम्बित होती है, वही अंकित हो जाती है और वही फोटोमें दीखती है, इसी प्रकार अन्तःकरणमें प्रतिबिम्बित होकर ही ये गुण, क्रिया और द्रव्य दीखते हैं।

इस प्रकार अव्यक्त, महान्, अहं-ये न मैं हूँ, न ये मेरे हैं। अभी एक माया और रह गयी है। उसकी यहाँ चर्चा नहीं आयी है। उसके दो भेद हैं—विद्या और अविद्या। अविद्याके कारण ही अपने ठसाठस भरे अविनाशी, परिपूर्ण, अद्वितीय रूपमें ये भेद सत्य प्रतीत हो रहे हैं। विद्याके कारण ये अपने स्वरूपमें प्रतीत होते हुए भी मिथ्या प्रतीत होने लगते हैं।

‘इन्द्रियाणि दशैकं च’ : इन्द्रियाँ स्थूल भूतोंसे बनी नहीं हैं। अतएव सांख्यके मतसे इन्द्रियाँ पूरे शरीरमें व्यापक रहती हैं। ये दीखनेवाले कर्ण, नेत्र, नासिकादि तो इन्द्रियोंके गोलक हैं। ये इन्द्रियोंके कार्य करनेके स्थान हैं। जैसे रक्त पूरे शरीरमें प्रवाहित हो रहा है; किन्तु जहाँ कट गया, वहीसे निकलता दीखता है, इसी प्रकार इन्द्रियाँ गोलकोंके द्वारा ही कार्यक्षम होती हैं। पूरे शरीरमें इन्द्रियाँ व्यापक हैं, इसीसे यह सम्भावना है कि मनुष्य किसी प्रक्रिया-विशेषसे हाथ या पैरसे देखने अथवा सूँघने लगे। चींटी नाकसे देखती है। सर्प नेत्रसे सुनते हैं—यह लोकप्रचलित उक्ति है। हम सबकी भी दो इन्द्रियाँ—रसना और वाक्, एक ही गोलक जिह्वामें कार्यशील होती हैं।

प्राण और रक्त रवि और सोम ये ऋणात्मक धनात्मक विद्युत्-प्रवाहके रूपसे सब इन्द्रिय-शक्ति सहित पूरे शरीरमें प्रवाहित होते रहते हैं। इन्द्रियाँ शरीरव्यापी हैं, परिच्छिन्न नहीं हैं।

सूक्ष्म शरीरके सम्बन्धमें तीन मत हैं—१. अणु परिमाण, २. मध्यम परिमाण और ३. विभु परिमाण। मन विभु है, यह योगका मत है। वैशेषिकादि अणु परिमाण मानते हैं। वेदान्त अन्तःकरणको मध्यम परिमाण अर्थात् शरीरमें नखसे शिखा तक व्याप्त मानता है। इन्द्रियाँ सूक्ष्म शरीरके अन्तर्गत हैं, अतः सूक्ष्म शरीरके साथ व्यापक हैं।

रूपके ज्ञानकी शक्तिका नाम नेत्रैन्द्रिय है, नेत्रगोलकको नेत्रेन्द्रिय नहीं कहते। इनका नाम इन्द्रिय इसलिए है कि ये इन्द्रसृष्ट, इन्द्रजुष्ट और इन्द्रदत्त हैं। इन्द्रस्य इति इन्द्रियम् इन्द्रकी होनेके कारण इनको इन्द्रिय कहते हैं। इन्द्र हाथके अधिदेवता हैं हम जो कर्म करते हैं, जिस वासनासे करते हैं, उसके अनुसार इन्द्रियोंकी प्राप्ति होती है। हाथके अधिदेव होनेसे इन्द्र कर्मके उपलक्षण हैं। प्राणियोंमें एकेन्द्रिय, द्विरिन्द्रिय, त्रिरिन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय प्राणी मिलते हैं। सब प्राणियोंके पाँच इन्द्रियाँ नहीं होतीं।

योगी अभ्यासके द्वारा षष्ठ इन्द्रियका विकास कर लेते हैं, यह बात योगशास्त्रमें आयी है। उससे मानस-प्रत्यक्ष होता है। भूत एवं भविष्यका ज्ञान तथा दूरस्थका ज्ञान उससे होता है; किन्तु वह नैसर्गिक इन्द्रिय नहीं होनेसे यहाँ उसकी गणना नहीं की गयी है। योगसे विकसित होनेपर भी उसे मनके अन्तर्गत ही मानना चाहिए; क्योंकि वह मनःशक्तिका ही विकास है।

श्रीमद्भागवतमें वर्णन है कि जब हिरण्मय पुरुष विराट्की इच्छा हुई—‘रूप देखूँ’ तब इच्छा एवं प्रयत्न (कर्म) के संयोगसे नेत्र गोलक बने। रूप देखनेकी इच्छा तथा प्रयत्नने नेत्रगोलक प्रकट किया। कर्मसे यह प्राप्ति हुई। इस प्रकार पूर्व कर्मके फलस्वरूप इन्द्रियाँ बनीं। कर्मके बिना इतने प्राणी और उनकी इन्द्रियोंका इतना भेद कैसे बन सकता है ?

प्रकृति एक है। ईश्वर एक है। महत्तत्त्व और अहंकार भी एक-एक हैं। महाभूत पाँच हैं। लेकिन प्राणियोंकी इन्द्रियोंके, शरीरोंके भेद तो असंख्य हैं। इस भेदके निमित्त रूपमें कर्मको स्वीकार करना पड़ता है। उस कर्मका प्रेरक देवता इन्द्र कहलाता है। उस इन्द्रके द्वारा सृष्ट होनेसे इनका नाम इन्द्रिय है।

ये इन्द्रियाँ दस हैं। इनमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और पाँच कर्मेन्द्रियाँ।

‘एकं च’—यह मन है। यह दस इन्द्रियोंसे पृथक् है। इसे व्यवहारमें इन्द्रिय कहते तो हैं; किन्तु इन्द्रिय-निरपेक्ष प्रत्यक्ष दर्शनकी सामर्थ्य इसमें नहीं है। इसीलिए पौरुषेय ज्ञान परमात्माका बोधक नहीं होता। मन इन्द्रियोपलब्ध ज्ञानको धारण करके, उनके संस्कारानुसार ही कल्पना करता है। उस कल्पनाके अनुसार ही मानस-प्रत्यक्ष होता है। अतः इन्द्रियातीत स्वतःसिद्ध वस्तु मनके द्वारा नहीं जानी जा सकती। ये इन्द्रियाँ और मन न मैं हूँ और न ये मेरे हैं :



● संगति

भगवान्ने क्षेत्रके वर्णनके दो विभाग कर दिये । 'यतश्च यत्' एक कारण-रूप क्षेत्र और दूसरा कार्यरूप क्षेत्र । सांख्यने जो ८ प्रकृति और १६ विकृति मिलाकर २४ तत्त्व गिनाये हैं, उनका वर्णन 'महाभूतान्यहंकार' आदि आठ और 'इन्द्रियाणि दशैकं च' आदि १६के द्वारा कर दिया । इस कारणरूप क्षेत्रका वर्णन करके अब कार्यरूप क्षेत्रका वर्णन करते हैं । जब क्षेत्र—खेत बतलाया तो यह भी बतलाना चाहिए कि उस खेतमें क्या उत्पन्न होता है, वही बतला रहे हैं :

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।

एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥ ६ ॥

इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतना और धृति—यह थोड़ेमें विकारवान् क्षेत्र बतलाया गया ।

'इच्छा'—पहले कोई वस्तु प्राप्त हुई थी—पुरुष, स्त्री, भोजन, भवन आदि । उसके द्वारा सुख हुआ था, यह संस्कार मनमें है । अब उसे फिर पाना चाहते हैं, इसका नाम इच्छा है । इच्छाका अर्थ है राग । 'सुखानुशयो रागः' संसारमें सुखके कारणरूपमें जिस वस्तुका पूर्वानुभव हुआ, उसकी प्राप्तिकी कामनाका नाम इच्छा है । यह ज्ञेय होनेके कारण क्षेत्र है । यह हमें दीन-कंगाल-भिक्षुक बना देती है । अपनेमें अभावका—अपूर्णताका जब हम अनुभव करते हैं तब दूसरेसे उसकी पूर्ति चाहते हैं ।

'द्वेषः'—'दुःखानुशयो द्वेषः' जिस वस्तु या व्यक्तिसे कभी हमें दुःख हुआ है, उसे हटा देने, मिटा देनेकी इच्छा, उसे देखनेसे—उसके स्मरणसे चित्तमें जलन होनेका नाम द्वेष है । द्वेषका अर्थ है कि हम डरते हैं । सर्पको देखकर शिशु नहीं डरता; क्योंकि उसे पता नहीं है कि यह दुःखद है । यह इच्छा और द्वेष दोनों कभी चित्तमें आते हैं, कभी नहीं आते । ये ज्ञेय हैं, हमें ज्ञात होते हैं, अतः ये क्षेत्र हैं ।

'सुखं'—'सुष्ठूनि शोभनानि खानि इन्द्रियाणि यस्मिन् तत् सुखम्' जिसमें इन्द्रियाँ प्रसन्न—निर्मल होजाती हैं, उसे सुख कहते हैं । जब मनमें विकार आता है, तब सुख नहीं होता । इच्छाके समय सुख नहीं होता । जब कुछ नहीं चाहिए, तब सुख होता है । जब सरोवरका जल स्वच्छ हो, उसमें लहरें न उठती हों, तब कहते हैं कि 'प्रसन्न सरः' । इसी प्रकार जब चित्त निर्मल-निर्विकार हो, उसमें इच्छाकी लहरें न उठती हों, तब चित्त प्रसन्न कहा जायेगा । यह अवस्था किसी बाह्य व्यवृत्त या वस्तुकी प्राप्तिसे नहीं आती । चित्तकी शान्तिसे आती है ।

वाह्य पदार्थमें सुख नहीं है। मुझे एक महात्माने सुनाया था : 'तुम्हें गुड़ खानेकी इच्छा हुई। गुड़ मिला और तुमने उसे खाया। इससे इच्छा मिट गयी। अभी कुछ नवीन प्राप्तिकी इच्छाका उदय नहीं हुआ। इस प्रकार एक इच्छाके पूर्ण होनेपर दूसरी इच्छाके उदयसे पूर्वकालमें चित्त शान्त बना रहा। चित्तकी इस शान्तिकालमें ही मनुष्य सुखका अनुभव करता है। इच्छावान् तो कंगाल है।

संसारी मनुष्य चार प्रकारसे सुखका अनुभव करता है : १. अनुकूल भोग मिलनेसे। २. संग्रहसे, भले वह उस संग्रहका उपभोग न करे। रुपया वैङ्कमें या तिजोरीमें रखा रहे। यह अभिमानका सुख है—'मेरे पास इतना धन है।' यह वैसा ही सुख है, जैसे नपुंसक पुरुषको सुन्दर पत्नी मिलनेका है। ३. मनोरथका सुख। मनुष्य मनोराज्य करता है : 'मेरे पास इतने पदार्थ हैं। यह सफलता मिलनी निश्चित है।' ४. अभ्यासका सुख। अपने अभ्यासके अनुसार रहनेको मिले। किसीको व्यायाम करनेका अभ्यास है। सौ दण्ड-बैठक प्रतिदिन करते हैं। यह न करनेको मिले तो दुःखी हो जायेंगे। परमात्म-सुख इन सबसे पृथक् है। वह तो अपना स्वरूप है।

एक वस्तुको पानेकी इच्छा हुई। वह वस्तु मिल गयी तो चित्त शान्त होगया। उस शान्त चित्तमें आत्माका प्रतिबिम्ब पड़ा। सुख-रूप आत्मप्रतिबिम्बसे सुख हुआ, जैसे जलमें पड़े सूर्यके प्रतिबिम्बसे प्रकाश निकलता है; किन्तु मनुष्य भ्रमसे यह मान लेता है कि सुख विषयमेंसे आया।

‘सुष्ठूनि शोभनानि खनति इति सुखम् ।’

हृदयमें जो उत्तम बातें हैं, उनमें जो तन्मय करदे, उसे सुख कहते हैं। नैयायिकोंने सुखकी परिभाषा की :

अनुकूलवेदनीयं सुखम् ।

अनुकूलानुभवका नाम सुख है। लेकिन अनेक बार मनुष्य दुःखके कम होनेको ही सुख मान लेता है। जैसे किसीको फोड़ा हो गया था। पके फोड़ेमें बड़ी पीड़ा थी। डाक्टरने फोड़ेको चीर दिया तो रोगी बोला : 'अहा ! बड़ा आराम मिला !' वस्तुतः संसारके सभी मनुष्य दुःखाभावको ही सुख समझते हैं। काम, क्रोध, लोभ आदिसे होनेवाली पीड़ा थोड़ी कम हुई तो समझते हैं कि सुख मिला। वस्तुतः सुख क्या है, इसे तो ये संसारी लोग जानते ही नहीं। श्रीमद्भागवतमें सुखका स्वरूप निरूपण करते हुए कहा गया :

सुखमात्यन्तिकं यत् तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।

वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥

आत्यन्तिक—परम सुख वह है जो इन्द्रियोंके माध्यमसे नहीं आता। वह बुद्धिग्राह्य है और अनुभवस्वरूप है। इस सुखमें स्थित होनेपर पुरुष तत्त्वसे चलित नहीं होता।

एक सुख वह होता है जो मद्यपानादिसे अपनेको मोहमें डालकर होता है। कोई स्वजन मर गया अथवा व्यापारमें बहुत घाटा लग गया तो अपनेको

भूलावेमें डालनेको शराव पी ली। इससे न घाटा पूरा हुआ, न मृत स्वजन लौटा। जैसे कोई दूसरेको स्वर्ण बतलाकर पीतल देकर ठगे, वैसे तुमने अपने आपको भूलमें डाल दिया। यह तामस सुख है। इसमें अपनी बुद्धिको कम करके मनुष्य अपनेको सुखी मानता है। तुम सच्चिदानन्द हो। जो तुम्हारे आनन्द, ज्ञान और जीवनका विरोधी है, वह तो तुम्हारा शत्रु है। यह निद्रा, आलस्य, प्रमाद, नशाका सुख तो तामस है।

विषय और इन्द्रियके संयोगसे होनेवाला सुख राजस सुख है। विषय कब मिले, कब न मिले। इसमें पराधीनता है। सुख विषयकी प्राप्तिपर निर्भर हो गया।

सत्त्वगुणी सुख—सात्त्विक सुखमें अभ्यास है। इसमें मोह या पराधीनता तो नहीं है; किन्तु स्वकर्तृत्वकी अपेक्षा है। जप, पूजा, ध्यान कर सके तो सुख, न कर सके तो दुःख हो गया।

परमात्माके सुखमें किसी बाह्य निमित्तकी अपेक्षा नहीं होती। वह 'बुद्धिग्राह्य' है। बुद्धिको उसमें कम नहीं करना पड़ता। 'अतीन्द्रिय' इन्द्रिय-विषय-संयोगकी उसमें अपेक्षा नहीं। विषयकी पराधीनता नहीं। 'आत्यन्तिक' होनेसे अभ्यास आवश्यक नहीं; क्योंकि अभ्याससे जो उत्पन्न होता है वह नष्ट भी होगा। लेकिन उस सुखकी यहाँ चर्चा नहीं है। यहाँ सांसारिक सुखको क्षेत्र कहा गया है :

‘दुःखं’—‘दुष्टानि खानि यस्मिन् ।’

जिसमें अपनी इन्द्रियाँ दुष्ट-दूषित-व्यथित हो जाती हैं उसे दुःख कहते हैं। नैयायिकोंकी परिभाषा है :

‘प्रतिकूलवेदनीयं दुःखम् ।’

प्रतिकूलानुभवका नाम दुःख है। एक बार मेरे पास बहुत लोग बैठे थे। उनमें एक लड़की भी थी जो शीघ्र ही ससुरालसे लौटी थी। मैंने उससे उसकी ससुरालके एक व्यक्तिकी कुशल पूछी। उसने 'उहँ' करके मुख घुमा लिया। इसका अर्थ था कि उस मनुष्यके प्रति उसके मनमें घृणा है।

मनुस्मृतिमें सुख-दुःखका लक्षण इस प्रकार दिया है :

‘सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।

एतद् विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥’

पराधीनतामें सब दुःख ही दुःख है और स्वाधीनतामें सब सुख है, थोड़ेमें सुख-दुःखका यही लक्षण जानना चाहिए। अपने मनपर, इन्द्रियोंपर, स्वजनोंपर अपना नियन्त्रण रहे तो सुख है और ये अपने वशमें न हों, हम इनके वशमें हों तो दुःख है।

शान्त चित्तमें परमात्मतत्त्वका प्रतिबिम्बन सुख है और उद्वेलित चित्तमें परमात्म-प्रतिबिम्बका न पड़ना दुःख है। सुख और दुःख दोनों ही ज्ञेय होनेसे क्षेत्र कहे गये हैं।

‘संघात’—जो अनेक वस्तुओंके मेलसे बना हो उसे संघात कहते हैं। यह शरीर संघात है। जैसे कोई सभा-समिति हो तो उसमें अनेक लोगोंके अनेक मत होते हैं, वैसे ही शरीरमें नेत्र, कर्ण, नासिकादिके भाग पृथक्-पृथक् हैं। जब तक किसी संघ-समितिके एक प्रभावशाली नेतृत्व रहता है, तबतक वह समिति उसके लिए ठीक-ठीक काम करती है। यदि कोई प्रभावशाली नेतृत्व नहीं है तो समिति ठीक काम नहीं करती। इसी प्रकार यह शरीर संघात है, इसमें यदि क्षेत्रज्ञ प्रभावशाली नहीं है तो शरीर निःसार है। क्षेत्रज्ञके लिए ही शरीरके प्रत्येक अंगकी प्रवृत्ति है। यह संघात ज्ञेय होनेसे परार्थीन एवं होनेसे क्षेत्र है।

‘चेतना’—चेतना और बुद्धिमें अन्तर है, यह बात समझ लेनी चाहिए। मनुष्य मूर्च्छित हो जाता है—बुद्धि निष्क्रिय हो जाती है, तब भी शरीरमें चेतना रहती है। चेतनामें ही संस्कारोंके योगसे इच्छा, द्वेष, संकल्प आदि उठते हैं। यह चेतना ही अपने अनुभव, अध्ययन एवं गुरुजनोंके उपदेशानुसार जब निश्चयात्मिका रूप ग्रहण करती है तब उसको बुद्धि कहा जाता है। लेकिन जब न संकल्प हो, न निश्चय और चेतना हो तब उसका नाम चेतना है। संकल्प-विकल्प चलता हो तो उसे मन कहते हैं। यह मन, बुद्धि, चेतना हमें ज्ञात होती हैं, अतः ये क्षेत्र हैं। यहाँ चेतनासे मन, बुद्धि और चित्त तीनोंका ग्रहण है।

‘धृतिः’—शरीरमें एक धारणा शक्ति है, उसीको धृति कहते हैं। सुषुप्तिमें यही शक्ति जीवन, रक्ताभिसरण, हृदयकी धड़कन आदि धारण करती है। टूटी हड्डी, कटे घाव आदि अपनेआप इस शक्तिके कारण ही ठीक हो जाते हैं। अन्तःकरणमें इसे अहंकार कहते हैं। यह भी ज्ञेय होनेसे क्षेत्र है।

‘एतत् क्षेत्रं सविकारं समासेन उदाहृतम्’—विकार सहित क्षेत्रका यह संक्षिप्त वर्णन किया गया। विस्तारसे देखना हो तो सर्वत्र शास्त्रोंमें इसका वर्णन मिलेगा। भले वह प्रकृति-पुरुषका वर्णन हो या अध्यात्म-अधिदैव-अधिभूतका वर्णन हो। वेद, दर्शन, पुराण, इतिहास, स्मृति, चिकित्सादि समस्त ग्रन्थोंमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका ही वर्णन है। कहीं क्षेत्रका वर्णन है, कहीं क्षेत्रज्ञका वर्णन है, कहीं क्षेत्रसे पृथक् क्षेत्रज्ञका विवेक है।

‘समासेन’—शास्त्रके वर्णनकी दो पद्धतियाँ हैं : व्यास पद्धति और समास-पद्धति। जैसे एक वाक्य कहा :

‘शाकप्रियः पार्थिवः ।’

यह राजा शाक-प्रिय है। यह व्यास पद्धति—विस्तारवाली पद्धतिका वाक्य हुआ। समास पद्धतिसे यही वाक्य कहना हो तो ‘प्रियः’ का ‘लोप करके कहेंगे—‘शाकपार्थिवः ।’

महात्मा लोग कहते हैं कि ‘मनुष्यको अपनी वाणीका विग्लापन—अपव्यय नहीं करना चाहिए। गाय, भैंस आदि पशु तभी बोलते हैं, जब बोलना बहुत आवश्यक होता है। मनुष्यको भी आवश्यक होनेपर ही बोलना चाहिए और अपनी बात थोड़ेमें कहनी चाहिए।’



● संगति

गीताका यह तेरहवाँ अध्याय क्षेत्रज्ञके निरूपणके लिए ही है। क्षेत्रज्ञका सीधा अर्थ है किसान। क्षेत्रका निरूपण तो कर दिया। तीसरे श्लोकमें 'तत्क्षेत्रं यच्च' आदिसे क्षेत्रके वर्णनकी प्रतिज्ञाके साथ ही 'स च यो यत्प्रभावश्च' के द्वारा क्षेत्रज्ञके वर्णनकी भी प्रतिज्ञा की थी। उसके अनुसार क्षेत्रका वर्णन करके क्षेत्रज्ञका वर्णन करना चाहिए था। लेकिन ऐसा न करके 'अमालित्वमदंभित्वमादि' का प्रारम्भ भगवान् ने बिना किसी भूमिकाके ही क्यों प्रारम्भ कर दिया ?

इसमें कारण है—क्षेत्र प्रत्यक्ष है। उसके सम्बन्धकी खोज यन्त्रोंके द्वारा हो सकती है। अतः क्षेत्रके सम्बन्धमें विवाद नहीं है। क्षेत्रको सब समझ सकते हैं। अतः क्षेत्रका वर्णन संक्षिप्त रूपमें कर दिया। क्षेत्रज्ञ सबके अनुभवमें नहीं आ रहा है। क्षेत्रज्ञ प्रत्यक्-अन्तरमें है। यह ज्ञाता है, ज्ञेय नहीं होता। श्रुति कहती है :

‘विज्ञातारमरे केन विजानीयात् ।’ बृहदा० २।४।१४

विज्ञाताको भला कोई किस साधनसे जानेगा। इसे जाननेके लिए तो अन्तर्मुख होना आवश्यक है। अतः क्षेत्रज्ञको बतलानेसे पूर्व उसको जाननेका साधन बतलाना आवश्यक ही है।

यह सर्व-सम्मत नियम है कि अपने आपसे अपने आपको देखा नहीं जा सकता। बिना दर्पणकी सहायता लिये नेत्रकी पुतली अपने आपको नहीं देख सकती। अतः अपनेसे जो न्यारे हैं, उनका 'नेति नेति' के द्वारा निषेध किया जाता है। 'एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तं' के द्वारा वर्णित ये सब निषेध करनेवाले साधन हैं। निरूपण करना है—

अनादि यत् परंब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते । १३।१२

अतः उसके निरूपणसे पूर्व उसे समझनेकी योग्यता जिनसे प्राप्त हो, उन साधनोंका वर्णन करते हैं।

आजकल वच्चे पढ़ते नहीं हैं, प्रश्नोंके उत्तर रट लेते हैं। इसका परिणाम यह होता है कि रटे हुएसे भिन्न प्रश्नका उत्तर वे दे नहीं पाते। एक विद्यार्थी 'रामः रामौ रामाः' रट रहा था। मैंने उससे पूछा—'मुकुन्द शब्द द्विवचनमें तृतीयामें क्या बनेगा ?'

उसने कहा—'मुझे स्मरण नहीं है।'

लेकिन मुकुन्द शब्दका रूप तो 'राम' के समान हो चलता है। इसी प्रकार आपने किसीसे सुनकर या पढ़कर जान लिया कि 'मैं ब्रह्म हूँ', इससे काम नहीं चलता। प्रत्येकको जानना होगा कि मैं कैसे आवागमन रहित, अपरिच्छिन्न ब्रह्म हूँ। इसके लिए कुछ साधन सीखने होंगे। भगवान् उन साधनोंका वर्णन पहले कर रहे हैं।

क्षेत्रके वर्णनमें आया है—‘क्षिणोति त्रायते च’ क्षेत्र बाँधता भी है और त्राण भी करता है। यदि ‘इच्छा-द्वेष’ में फँस गये, देहादिको ‘मैं-मेरा’ मानकर बैठ गये तो यह क्षेत्र तुम्हें फँसायेगा और यदि ‘अमानित्वं अदम्भित्वमादि’ को अपनाया तो यह क्षेत्र ही तुम्हारा त्राण भी कर देगा। संसारके दुःखोंसे रक्षा भी यह क्षेत्र ही करता है। अतः क्षेत्रके ही अंगरूपमें अमानित्वादि साधनोंका वर्णन यहाँ किया गया है।

‘अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरारजं वम् ।

आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥ ७ ॥

अमानिता, अदम्भिता, अहिंसा, क्षान्ति, सरलता, आचार्यकी उपासना, पवित्रता, स्थिरता और मनोनिग्रह (यह ज्ञान है और जो इसके विपरीत है, वह अज्ञान है।)

तत्त्वज्ञान व्यक्तित्वका शृङ्गार नहीं है, यह बात पहले ध्यानमें आनी चाहिए। एक सज्जन कहते थे : ‘यह क्या ज्ञानी हुए जब इन्हें ज्वर आता ही है।’

दूसरे कहते थे : ‘ज्ञानी कैसे, जब मनमें विकार आता है।’

तीसरे कहते थे : ‘ज्ञानी हुए तो क्या, चित्तमें दुःख अब भी आ जाता है।

ज्ञानका अर्थ है अपनेको ब्रह्म जानना। यह ज्ञान केवल अज्ञानको मिटाता है। (ज्वर ओषधिसे मिटेगा। विकार साधनसे दूर होंगे। दुःख असंगतासे मिटेगा।) चित्तमें रोग, दुःख, विकार न आये ऐसा करना ज्ञानका काम नहीं है। ज्ञान केवल अपनेमें कल्पित परिच्छिन्नत्वकी भ्रान्तिको मिटाता है। सदाचार, सद्गुण, समाधिका नाम ज्ञान नहीं है। अपनेको अद्वय, अपरिच्छिन्न ब्रह्म जानना ज्ञान है।

अब देखना यह है कि भगवान् ये जो साधन बतला रहे हैं, वे तत्त्वोपलब्धिमें हेतु हैं अथवा व्यक्तिके शृङ्गारके साधन हैं।

डा० पन्नालालने मुझसे एक बार पूछा—‘जीवनमें सद्गुणोंकी प्रतिष्ठाका नाम भगवत्प्राप्ति है या भगवान् किसी सगुण-साकार रूपमें सामने आजायँ यह भगवत्प्राप्ति है अथवा वृत्तिके समाहित होनेका नाम भगवत्प्राप्ति है?’

मैंने कहा : ‘इनमेंसे कोई भगवत्प्राप्ति नहीं है। (भगवत्प्राप्तिका अर्थ है कि न जीव, न जगत् और न अन्य रूपसे कोई दूसरा। ईश्वरकी अन्यरूपता, जगत्की सत्यरूपता और अपनी परिच्छिन्नताकी भ्रान्ति निवृत्त हो जाय, यह भगवत्प्राप्ति है।) यह भ्रान्ति जिससे निवृत्त हो उस सर्वाधिष्ठान ब्रह्मतत्त्वको आत्मरूपसे जानना ज्ञान है। इस ज्ञानमें जो सहायक सद्गुण हैं उनका वर्णन करके कहा गया है : ‘एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तं’ और ‘अज्ञानं यदतो न्यथा।’ जो इनसे उलटा है, वह अज्ञान है।

‘अमानित्वं’—‘अमानः यस्यास्ति स अमानो तस्य भावः अमानित्वम्’ ऐसी व्युत्पत्ति इसकी ठीक नहीं है।

‘मानित्वव्यतिरिक्तं अमानित्वम्’ ।

मानपनेसे जो पृथक् है, वह अमानी है। मानका अर्थ है प्रतिष्ठा, पूजा, यश, ख्याति आदि। संसारमें लोग मान चाहते हैं। ऐसा मान चाहनेवालोंको ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती। मान द्विविध होता है—१. विद्यमान गुणोंका। जैसे एक अच्छा विद्वान् है। उसे अपनी विद्याका मान है। २. अविद्यमान गुणोंका। जैसे कोई सेठ, है तो धोखेधड़ीसे कमायी करनेवाला और कृपण; किन्तु उसे अपने भक्त होनेका अभिमान है।

जिसे मान हुआ, वह मानी। मान अनेक बातोंका होता है—सौन्दर्यका, बलका, स्वास्थ्यका, धनका, विद्याका, बुद्धिका, उच्च कुलका, सुन्दर स्त्रीका, पदका, बड़ोंसे परिचयका, गुणका, वर्णका, त्यागका, तपका आदि। अपनी निरभिमानताका भी मान हो जाता है। जिसे किसी भी बातका मान—अभिमान है, वह मानी है। ईश्वरके मार्गमें चलना हो तो इस मानका त्याग करना पड़ता है।

‘मानोऽस्यास्ति इति मानी तस्य भावः मानित्वं तद्व्यतिरिक्तं अमानित्वम्’

मान इसे है, अतः यह हुआ मानी। मानीका भाव मानित्व, इस मानित्वसे जो भिन्न है—वह अमानित्व हुआ।

दैवी सम्पत्तिमें थोड़ा मान रहना चाहिए। दैवी सम्पत्तिमें ‘नातिमानिता’ बहुत मान न हो, यह गिनाया है। इस थोड़े मानको स्वाभिमान कहते हैं; किन्तु दैवी सम्पत्तिका जो अधिकारी है, वह जिज्ञासु नहीं है। जिज्ञासुके लिए ‘नातिमानिता’ पर्याप्त नहीं है। उसमें ‘अमानित्व’ चाहिए।

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।

द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ गीता १५।५

पहले मान और मोह थे, उनका त्याग किया, वे निकल गये तो ‘निर्मानमोह’ हुए। मान और मोहका त्याग करनेके लिए संगका ही त्याग करके कहीं भागना नहीं है, संगके दोषोंको जीतो ‘जितसंगदोषाः’। तब लगे कहाँ ‘अध्यात्मनित्याः’ अध्यात्ममें सदा लगे रहे तो कामनाएँ—बाह्य विषय-प्राप्तिकी वासना विशेष रूपसे निवृत्त हो गयी। ‘विनिवृत्तकामाः’ तब सुख-दुःखके द्वन्द्व बाँधते नहीं। ‘द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंगैः’ इससे अमूढ़ता जीवनमें आगयी। फिर तो ‘गच्छन्ति पदमव्ययं तत्’ उस अव्यय पदकी प्राप्ति हो गयी।

‘अमानित्वं’—मान=परिमाण। कालका मान होता है एक मिनट-दो मिनट, एक घंटा-दो घंटा। पदार्थका मान पचास ग्राम, सौ ग्राम, एक किलो। दूरी—देशका मान एक मील, दो मील या चार मीटर, छह मीटर। इस प्रकार जो अपनेको मानके भीतर समझे कि मैं साढ़े तीन हाथ लम्बा, मेरी तौल इतनी, मेरी आयु इतनी—इस प्रकार जो अपनेको परिच्छिन्न माने, वह मानी। इस मानीपनेका भाव है मानित्व। ज्ञानके मार्गमें चलना है तो इस मानित्वको विदा करना होगा। अर्थात् तुम साढ़े तीन हाथवाले, डेढ़-दो मन वजनके, असुक आयुके नहीं हो। तुम अमान हो। तुममें न तौल है, न लम्बाई-चौड़ाई, न आयु।

तुम मरते नहीं हो । पञ्चभूतोंसे बने पुतले तुम नहीं हो । तुम परिच्छिन्न नहीं हो । इस प्रकार देहमेंसे आत्माको पृथक् करना, यह परमात्माको जाननेका साधन होनेसे यह ज्ञान है । 'एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तं' यह बात विवेक होनेसे कही गयी ।

स्वीकृतिको, मान्यताको या स्थितिको ज्ञान नहीं कहते । विवेकके द्वारा अपनेमें परिमाणको स्वीकृति नहीं देना, 'नेति, नेति'के द्वारा श्रुति जिसका वर्णन करती है, वह जब तुम्हारी बुद्धिमें क्रियाशील होजाय कि 'मैं यह नहीं, मैं यह नहीं' तब यह विवेक होगा । यह ज्ञानका साधन होनेसे ज्ञान है; क्योंकि यह तो केवल वृत्तिसे दुहराया जाता है । प्रमाण वृत्तिसे दुहराया नहीं जाता । अविद्याको निवृत्त करनेवाली ब्रह्मात्मैक्यरूपा प्रमाणवृत्ति तो केवल एक बार काम करती है । उस प्रमाणवृत्तिके शोधनार्थ 'नेति नेति'का निषेध सर्वत्र लागू होता है ।

'अमानित्वं'—अमानित्वमें परिच्छिन्नता पृथक् होजाती है । ज्ञान होनेपर परिच्छिन्नताका बाध हो जाता है । 'नेति नेति'के द्वारा परिच्छिन्नताका अपवाद करना अमानित्व है । यह अवस्था ज्ञानके समीप होनेसे ज्ञान है ।

'यदतोऽन्यथा तदज्ञानं' जो इससे विपरीत है, वह अज्ञान है । यदि तुम अपनेको साढ़े तीन हाथका देह, डेढ़-दो मन तौलवाला, कुछ वर्षकी आयुवाला मानते रहोगे तो ज्ञानके समीप नहीं पहुँच सकोगे, अतः यह अज्ञान है ।

'अदम्भित्वं'—दम्भका न होना, अदम्भीपना है ।

ध्यानपूजादिकं लोके द्रष्टव्येति करोति च ।

पारमार्थिकधीहोनः स दम्भाचार उच्यते ॥'

श्री शंकराचार्यजीने अपने 'सर्वदर्शनसिद्धान्त' में कहा : लोगोंको दिखलानेके लिए ही जो ध्यान, पूजादि करता है, उसके चित्तमें परमार्थ-प्राप्तिकी इच्छा नहीं है, वह दम्भी है ।

जब कोई देखनेवाला है, तब ध्यान अथवा पूजा करने बैठे । दम्भका अर्थ है कपट—माया । अपनेमें अविद्यमान महत्ताको प्रकट करना ।

'यत्र वैयाकरणास्तत्र वैदिकाः यत्र वैदिकास्तत्र वैयाकरणाः ।

यत्र नोभयं तत्र चोभयं यत्र चोभयं तत्र नोभयम् ॥'

जहाँ व्याकरणके विद्वान् मिले, वहाँ कह दिया—'हम तो वेदोंके विद्वान् हैं ।' जहाँ वेदोंके विद्वान् मिले, वहाँ व्याकरणके विद्वान् बन गये । जहाँ वेद-व्याकरण दोनोंके विद्वान् नहीं, वहाँ स्वयं दोनोंके विद्वान् बन गये और कहीं संयोगवश दोनोंके विद्वान् मिल गये तो वहाँ कह दिया—'हम दोनोंमें किसीके विद्वान् नहीं ।'

एक काश्मीरी पण्डितकी संस्कृतमें एक पुस्तक 'कला-विलास' है । उसमें दम्भ (दम्भके अधिदेवता) की एक कथा दी हुई है :

ब्रह्मलोकमें सृष्टिकर्ताकी सभा लगी थी । उसमें बड़े-बड़े परमर्षि, महर्षि, देवर्षि, राजर्षि आदि उपस्थित थे । सहसा वहाँ एक सज्जन खड़ाऊँ पहने, जटा बढ़ाये, हाथमें कमण्डलु और कुशमुष्टि लिये आये । वे कुशसे कमण्डलुका

जल छिड़ककर पैर रखते थे। सबको बड़ा अद्भुत लगा कि 'ये कौन इतने महान् एवं पवित्र हैं कि ब्रह्मलोकके परम पावन स्थानपर भी जल छिड़के बिना पैर नहीं रखते।'।

वे सज्जन आकर ब्रह्माजीके समीप खड़े हो गये। उन्होंने किसीको प्रणाम नहीं किया; ब्रह्माजीको भी नहीं। किसीकी ओर ध्यान भी नहीं दिया। सबको लगा कि ये ब्रह्माजीसे भी कोई बड़े हैं। ब्रह्माजी स्वयं उठकर खड़े हुए और उनसे प्रार्थना की कि आप मेरे आसनपर विराजमान हों। उन्होंने नाक-भौं सिकोड़ी और बोले : 'छिः ! उच्छिष्ट आसनपर—उस आसनपर जिसपर तुम बैठ चुके हो, मैं कैसे बैठ सकता हूँ !'

अब सृष्टिकर्ता बड़े संकोचमें पड़े। वहाँ ऐसा तो कोई आसन नहीं था, जिसपर कभी कोई बैठा न हो। सोचकर ब्रह्माजीने कहा—'आप मेरी गोदमें विराजें।'।

'हाँ !' उन्होंने स्वीकार कर लिया। ब्रह्माजी अपने आसनपर बैठ गये। उन्होंने कुशसे कमण्डलुका जल भली प्रकार ब्रह्मापर छिड़का और उनकी गोदमें बैठ गये। लेकिन बैठनेके क्षणभर पीछे ही बोले : 'देखो ! तुम्हारी नासिकासे निकला अशुद्ध श्वास मेरा स्पर्श कर रहा है। इसे रोक लो !'

अब सृष्टिकर्ता घबराये। श्वास रोककर भला वे कितनी देर बैठ सकते थे। अब उन्हें लगा कि 'यह है कौन जो इतना पवित्र बनता है ?' सिर बढ़ाकर उन्होंने ध्यानसे गोदमें बैठे व्यक्तिको देखा और तब हँसकर बोले—'बेटा दम्भ ! तुम बहुत दिनोंपर यहाँ आये, अतः मैं तुम्हें पहचान नहीं सका।'।

मानी ही दम्भ करता है। अपने परिच्छिन्न अभिमानकी पूजा—तृप्तिके लिए ही दम्भ किया जाता है। दम्भ और माया एक ही वस्तु है। विवर्तका जो लक्षण है, वही दम्भका लक्षण है :

चिरुद्धं वर्तत इति विवर्तः।

जो जैसा है, उससे विपरीत अपनेको दिखलाये, यह विवर्त है। देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न, स्वजातीय-विजातीय स्वगत-भेदशून्य, अखण्ड, अद्वितीय, अविनाशी प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परमार्थ वस्तुके न बाहर द्वैत है, न भीतर। उसमें द्वैतकी गन्ध भी नहीं है। उसीमें यह समस्त प्रपञ्च भास रहा है, यही विवर्त माया—दम्भ है।

जो अपने जीवनमें दम्भको छोड़ने लगता है, उसे यह माया—जो बिना हुए भास रही है—छोड़नेकी विशेष प्रेरणा मिलती है।

दाम्भिक-जीवन धर्मशास्त्रमें निन्दित है। मनुस्मृतिमें स्पष्ट आदेश दिया गया है :

✓ 'दाम्भिकान् वक्रवृत्तींश्च बाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्।'।

दम्भियोंका—वगुलेके समान वृत्ति रखनेवालोंका वाणीसे भी सत्कार न करे।

बगुला जलमें एक पैरपर खड़ा रहता है, मानो कोई बड़ा तपस्वी हो। चलता है—ऐसे सम्हालकर पैर रखता है जैसे जलको भी उद्विग्न करनेसे घबराता हो। शरीर ऐसा श्वेत—मानो रोम-रोममें सात्त्विकता ही भरी हो; किन्तु जहाँ कोई मछली समीप आयी.....।

जिज्ञासुके लिए दूसरोंकी ओर देखना—दूसरोंके आचरणकी आलोचना करना बाधक है। उन्हें तो अपनी ही ओर देखना चाहिए। अपनेमें जितना दम्भांश हो, उसका ही त्याग करना चाहिए।

‘हमने कुआँ खुदवाया। हमने पाठशाला खोली। हमने पुस्तकालय, चिकित्सालय चलवा रखे हैं।’ लेकिन यह सब तो ज्ञानमात्र है। इसमें तुमने तो कुछ नहीं किया है। इसी प्रकार ‘हमने अमुक-अमुक भोग भोगे’ यह भी मिथ्याभिमान—दम्भ है। भोग भी ज्ञानमात्र ही है। अतः ‘नेति-नेति’के द्वारा इन सबका निषेध करना चाहिए।

‘अदम्भित्वं’ : अदम्भित्व ज्ञानमें सहायक है। देश, काल, वस्तुका निषेध ही सच्चा अदम्भित्व है। बाहरकी वस्तुएँ आत्मामें आरोपित करके उनका मान होता है। ‘हमारे पास इतना धन, इतना बल, इतनी विद्या आदि’ अपने परिच्छिन्न व्यक्तित्वको अभिव्यक्ति देना दम्भ होता है। अपनेको परिच्छिन्न स्वीकार करके ही अपनेको ख्याति देते हैं। जब दूसरा है तब उससे लाभ उठानेके लिए तुम अपने सम्बन्धमें उसकी बुद्धिमें उलटफेर करना चाहते हो। अनन्त अद्वितीयकी जब भी ख्याति होगी, तब उसके स्वरूपके विपरीत ही होगी। अतः किसी भी रूपमें मायाको स्वीकृति नहीं देना। अपने आपको ख्यात करके मायाके खेलसे जोड़ना नहीं। अपनेको धनी, विद्वान्, तपस्वी आदि किसी भी रूपमें प्रख्यात करना दम्भ ही है। यह दूसरेकी बुद्धिमें परिवर्तन करके अपनेको लाभान्वित करनेके लिए किया जाता है। यही दम्भ है। वेदान्तमें माना गया है :

‘ख्यापनं दम्भः।’

अपनेको प्रसिद्ध करना, यही दम्भ है। जो मानका त्याग करेगा, वह परिच्छिन्नतासे मुक्त अपने स्वरूपको जान सकेगा। जो दम्भको छोड़ेगा, वह स्वयंप्रकाश ब्रह्मरूपमें अपनेको जान सकेगा। अतः यह ज्ञानका साधन है।

ये जितने लक्षण हैं, ये ज्ञानके लक्षण नहीं हैं। ये ज्ञानकी भावभूमि प्रस्तुत करनेके लिए पूर्ववर्ती सम्मार्जन हैं।

‘अहिंसा’ : मानकी पूजाके लिए दम्भ होता है और मान नहीं है, ऐसा भी दम्भ होता है। जो दम्भका भण्डाफोड़ करता है, अथवा जो मानपर चोट करता है, उसके प्रति हिंसावृत्तिका उदय होता है।

हिंसा शरीरसे, मनसे और वाणीसे-तीनोंसे ही होती है। सबसे बड़ी हिंसा है अद्वितीय ब्रह्मतत्त्वको परिच्छिन्न समझना। अखण्ड एकरस तत्त्वको टुकड़े-टुकड़े करके मानना। दूसरेको कर्ता समझकर उसकी निन्दा-स्तुति करना।

अपनेको जबतक तुम परिच्छिन्न कर्ता-भोक्ता नहीं मानोगे, तबतक दूसरोंको कर्ता-भोक्ता कैसे मान सकते हो ? अतः वेदान्तमें निन्दा-स्तुतिके लिए स्थान नहीं है :

न स्तुवीत न निन्देत कुर्वतः साध्वसाधु वा ।

वदतो गुणदोषाभ्यां वर्जितः समदृङ् मुनिः ॥

कोई अच्छा करता हो या बुरा, किसीकी भी न प्रशंसा करे और न निन्दा करे । गुण और दोषको लेकर कुछ भी कहनेसे पृथक्, समदर्शी और मननशील रहे :

न कुर्यान्न वदेत्किञ्चिन्न ध्यायेत् साध्वसाधु वा ।

आत्मारामोऽनया वृत्त्या विचरेज्जडवन्मुनिः ॥

न अच्छा-बुरा कुछ करे, न अच्छा-बुरा कुछ बोले, न अच्छा-बुरा सोचे । आत्माराम मुनि इस वृत्तिसे जड़के समान विचरण करे ।

अहिंसाका अर्थ है, किसीको वाणीसे भी अपनेसे पृथक् मत करो । जिससे हम पृथक् हो जाते हैं या जिसे हम अपनेसे पृथक् कर देते हैं उसकी हिंसा हो जाती है ।

लोगोंमें एक कायरताका भाव होता है, यह तमोगुणकी वृत्ति है । यह अहिंसा नहीं है । कायरता तो नहीं होनी चाहिए :

‘हनते को हनिये । पाप दोष न गनिये ।’

मारनेवालेको मारो ! किसी पाप या दोषका विचार मत करो । अर्थवा :

‘आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ।’

कोई आततायी आरहा हो तो उसे बिना सोचे-विचारे मार ही देना चाहिए ।

यह कायरताकी अपेक्षा उच्चाभाव है । अपनी ओरसे किसीपर आघात करनेका नाम हिंसा है । कोई चोट करे तो बदलेमें चोट करना प्रतिहिंसा है । यह प्रतिहिंसा कायरतासे श्रेष्ठ है ।

युद्धकी नीति यह है कि शत्रुपर पहला आघात हमारा होना चाहिए । यह राजनीति है अतः हिंसा राजसीवृत्ति है । प्रतिहिंसा सत्त्वाभिमुख राजसी-वृत्ति है । कायरता तामसीवृत्ति है ; किन्तु अहिंसक ही रहना जिज्ञासुकी वृत्ति है ।

जो निन्दा-स्तुतिमें लगे हैं, उनकी दृष्टि तो दूसरोंपर है । वे भले राजनैतिक या सामाजिक पुरुष हों, किन्तु वे आध्यात्मिक पुरुष नहीं हैं, जिसे यह विचार नहीं होता कि ‘इस कार्यसे हमारा अन्तःकरण मलिन होता है या स्वच्छ होता है ।’

जिज्ञासुको ध्यान रखना है कि यदि वह हिंसामें लगेगा तो ब्रह्म-चिन्तन, श्रवण-मनन-निदिध्यासन छूट जायेगा । लक्ष्य-प्राप्ति त्यागकर जन-जनसे भिड़ना, यह रीति नहीं है । एक कुत्तेकी इच्छा हुई, सौ मील दूरके स्थानपर जाने की । उसने सोचा—‘प्रतिदिन दस मील चलेंगे । खाते-पीते, विश्राम करते आरामसे दस दिनमें पहुँच जायेंगे ।’

वह अपने गाँवसे निकला । दूसरा गाँव आया तो उस गाँवके उसके जाति-भाई उसपर टूट पड़े । उसने सोचा ‘ये कई हैं और मैं अकेला । लड़ू इनसे तो ये घायल कर देंगे या मार डालेंगे ।’

उसने पूँछ दबायी और काँय-काँय करता, मुख फाड़ता भागा । अगले गाँवमें भी यही हुआ और उससे अगलेमें भी यही । कुत्ते उसे कहीं टिकने ही नहीं देते थे । इस प्रकार वह दो दिनमें ही सौ मील मार्ग पार करके ठिकाने पहुँच गया । यदि वह लड़ता तो एक गाँव भी पार न कर पाता । इसी प्रकार जिज्ञासुको वाद-विवाद, निन्दा-स्तुति, वैर-विरोधमें न पड़कर अपने लक्ष्यकी ओर ही बढ़ते जाना है ।

ज्ञानीकी अहिंसा यह है कि वह अनात्म-दृष्टिसे किसीको देखता ही नहीं । वह तो भोजन, वस्त्र, शयन, भाषण आदि समस्त कार्योंमें, चिन्तनमें भी अहिंसा अपनाये है :

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा

सब प्राणियोंसे कर्म, मन, वाणी-सब प्रकारसे उसका अद्रोह स्थिर है :

कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा ।

अक्लेशजननं प्रोक्तं अहिंसात्वेन योगिभिः ॥

—योगी याज्ञवल्क्यसंहिता

ऐसा कर्म मत करो कि किसी भी प्राणीको क्लेश हो । ऐसी बात मत बोलो कि किसीको दुःख हो । किसी प्राणीको क्लेश मिलनेकी बात भी मत सोचो । योगियोंने इस अक्लेश-जननवृत्तिको अहिंसा कहा है ।

अक्लेश-जननका अर्थ है किसीको मूर्ख न बनाना, किसीको मारना नहीं, किसीके आनन्दमें बाधा न देना । किसीको मूर्ख बनाना, किसीको परिच्छिन्नताके भावमें दृढ़ करना, किसीको राग-द्वेष देना, किसीका देहाभिमान बढ़ाना, किसीके शरीर या मनको पीड़ा पहुँचाना हिंसा है । अपनेमें भी ये बातें आने देना हिंसा ही है ।

किसी सुखी व्यक्तिको दुःखी, बुद्धिमान्को मूर्ख बनाना हिंसा ही है । यदि केवल जडत्व ही मनुष्यत्व होता तो देहको पीड़ा देना ही हिंसा होती; किन्तु चेतनता भी मनुष्यत्वमें है, आनन्द भी मनुष्यत्वमें है, अतः मनुष्यके केवल सदंशको सत्ताको—शरीरको ही चोट पहुँचाना हिंसा नहीं है, उसके चिदंशको—ज्ञानको और आनन्दको चोट पहुँचाना भी हिंसा है । किसी भी व्यक्तिकी जीवन-प्रणालीपर चोट करना है । वह हाथमें जल लेकर सन्ध्या करता हो या घुटने टेक कर नमाज

पढ़ता हो अथवा खड़े होकर प्रार्थना करता हो। अहिंसाका अर्थ है किसीके जीवनमें, सुखमें और ज्ञानमें बाधा न देना।

‘क्षान्ति’—हिंसाका अर्थ है अपनी ओरसे आघात करना। आपने किसीको मारा-पीटा या गाली दी तो यह उसकी दैहिक हिंसा हुई। किसीको मूर्ख बनाया या चाटुकारी करके उसे घमण्डी बनाया तो यह भी उसकी हिंसा ही हुई। आप अहिंसक हो गये। आप यह सब नहीं करते; किन्तु दूसरा कोई आपपर आक्रमण करे, या करना चाहे तो आप उसके साथ कैसा बर्ताव करेंगे ?

राजनीति कहती है—‘पहले आक्रमण करो !’

यहाँ सिद्धान्तमें ही हिंसा स्वीकृत है। ऐसी हिंसा जिज्ञासुमें भला क्यों होगी। राष्ट्रकी रक्षाका दायित्व तो सरकारपर है। यदि शत्रुके आक्रमण करने-पर देशके सब लोग पाठशाला, चिकित्सालय, डाकखाना, कारखाने आदिका काम छोड़कर सीमापर लड़ने ही पहुँच जायँ तो इससे तो शत्रुका ही मनोरथ सिद्ध होगा। शत्रु हमारी शिक्षा, उद्योग, संस्कृति आदिको नष्ट करना चाहता था, सो तुमने स्वयं कर दिया। अतः राजनीतिमें स्वीकृत हिंसाका सिद्धान्त प्रशंसनके लिए है, जन सामान्यके लिए नहीं है।

जिज्ञासुपर कोई आक्रमण करे तो उसे क्षान्ति—क्षमा करना चाहिए। बचपनमें एक कथा पढ़ी थी—एक कुत्ता मुखमें रोटी लेकर नदी पार करने लगा; क्योंकि नदीमें थोड़ा ही जल था। पानीमें उसे अपना प्रतिबिम्ब दिखलायी पड़ा। उसने समझा कि दूसरा कुत्ता भी रोटी लिये है। उसकी रोटी छीनने भपटा तो मुखकी रोटी भी पानीमें गिर गयी।

हमारे गाँवकी ओर एक महात्मा आते थे। वे गंगा किनारे ही भ्रमण करते थे। पीछे तो लोग उनको पहचान गये, उनका सत्कार करने लगे; किन्तु पहली बार उधर आये तो लड़के पागल समझकर उन्हें ढेले मारने लगे। वे न भागे और न बच्चोंसे ही उन्होंने कुछ कहा। लड़कोंने फिर उनपर कुत्ते ललकार दिये। कुत्तोंने काट भी लिया। गाँवके लोगोंने फिर बच्चोंको तथा कुत्तोंको रोका; किन्तु उन्होंने न कुत्तोंको भगाया और न बच्चोंके विषयमें किसीसे कुछ कहा।

क्षान्ति आत्मामें स्वाभाविक है। जब बाहरसे कोई उपद्रव करता है तो उससे अप्रभावित रहनेका नाम क्षान्ति है।

हिंसा तब मनमें आती है, जब हम शत्रुका चिन्तन करते हैं। कोई उपद्रव करे, आघात करे और उसे दण्ड देनेकी इच्छा हो तो क्रोध आयेगा। मनमें शत्रुका चिन्तन होगा। इस प्रकार जो अपने स्वार्थ—परमार्थसे मूर्छित हो गया, वह मूर्ख है।

क्षान्ति—चित्तके क्षुब्ध होनेका हेतु उपस्थित होनेपर भी अपकार करने वालेके प्रति दण्ड देनेके संकल्पका उदय न होना।

‘जिह्वा क्वचित् सन्दशते स्वदङ्घ्रिः

तद्वेदनायां कतमाय कुप्येत्।’

—भागवत

कभी अपने ही दाँतोंसे जीभ कट जाती है तो उस पीड़ाके लिए क्रोध किसपर किया जाय ?

जिज्ञासु वह है जो प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्मके अतिरिक्त दूसरी वस्तु हृदयमें न आने दे। जब सब अपना ही स्वरूप है तो जो पीड़ा मिली, वह अपने द्वारा ही अपने आपको मिली। इसमें क्रोध किसपर आयेगा :

‘अपराधिषु कोपश्चेत् कोपे कोपं कथं न चेत् ।
धर्मार्थकाममोक्षाणं प्रसह्य परिपन्थिनि ॥’

—जीवन्मुक्तिविवेक

अपराधीपर यदि क्रोध करते हो तो इस क्रोधपर क्रोध क्यों नहीं करते; क्योंकि यह तो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थोंको बलात् लूट लेनेवाला डाकू है। यह सबसे समीपका अपराधी है, जो तुम्हारे हृदयको लूट लेगा।

कोई माँगने आया, तुमने उसे दान तो किया; किन्तु क्रोध करके किया, झिड़ककर या झुंझलाकर किया, तो दानका फल नहीं होगा। क्रोधने धर्मको लट लिया। क्रोध रहे तो क्या दाम्पत्य-सुख होगा? इसी प्रकार दूकानपर बैठकर ग्राहकपर क्रोध करो तो दूकान चलेगी? वेदान्तमें जिज्ञासुके लिए कहा गया है—

‘शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितः श्रद्धावित्तो भूत्वा आत्मन्येवा-
त्मानं पश्येत् ।’

शान्त—अक्षुब्ध मानस, दान्त—जितेन्द्रिय, उपरत—संसारके विषयोंसे अनासक्त, तितिक्षु—सहज प्राप्त प्रतिकूलताओंको बिना क्षुब्ध हुए सह लेनेवाला, समाहित—अचंचल चित्त तथा श्रद्धाका धनी होकर अपने आपमें ही अपने आपको देखे।

वेदान्तके अधिकारीमें जो षट् सम्पत्ति—शम, दम, उपरति, तितिक्षादि आवश्यक मानी गयी हैं, उनमें शम-शान्त होना प्रथम है। श्रुति कहती है :

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।

नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥

—कठोपनिषत् १।२४

जो दुश्चरितोंसे विरत नहीं हुआ है—पापकर्म जिसने छोड़े नहीं, वह पापर है। जो अशान्त है, जिसका मन एकाग्र नहीं होता, जो अशान्त है, ऐसा व्यक्ति अपनी बुद्धिसे इस आत्मतत्त्वको प्राप्त नहीं कर सकता।

इस श्रुतिमें ‘शान्त’ और ‘शान्तमानस’ ये दो शब्द आये हैं। इसका तात्पर्य देहसे, स्वभावसे शान्तिप्रिय होना और मनका वर्तमानमें भी शान्त होना है।

शान्ति ही वस्तुतः सद्गुण है। मनमें स्त्री-पुरुष आये तो इसे काम कहते हैं। मनमें काम न हो तो मन शान्त है। मनमें शत्रु हो तो क्रोध आयेगा; किन्तु शत्रु मनमें नहीं, तो मन शान्त है। मनमें धन आया तो लोभ हुआ, धन मनमें नहीं है तो मन शान्त है। मनमें स्वजन, देह आया तो मोह हुआ। ये मनमें नहीं, तो मन शान्त है। मनको बाह्य विषयोंके प्रतिबिम्बनसे मुक्त करना,—यह शान्ति ही समस्त सद्गुण है।

जिस गुणके पेटमें बच्चा हो, संसारका कोई नाम-रूप हो, वह असद्गुण है। जिसके उदरमें कुछ नहीं है, केवल आत्माका ही प्रतिबिम्ब हो रहा है, वह सद्गुण है। उस समय चित्तमें शान्ति रहती है। उस शान्तिमें बाधा डालनेवाला कोई विक्षोभक निमित्त आये तो उसका प्रभाव चित्तपर न पड़े, इस शक्तिका नाम क्षान्ति है।

दुर्गुण अनेक हैं—काम, क्रोध, लोभ, मोह, राग-द्वेष, घृणा आदि; किन्तु सद्गुण एक ही है—चित्तकी शान्ति। व्यावर्तकके भेदसे गुणमें भेद होता है। गुणमें स्वरूप-भेद नहीं होता। जो शान्ति कामको मिटाती है, उसे ब्रह्मचर्य कहते हैं। जो शान्ति लोभको दूर रखती है, उसे सन्तोष कहा जाता है। शान्तिका ही नाम ब्रह्मचर्य, संतोष, अहिंसा, अस्तेय आदि है। शान्ति एक ही है और वही सद्गुण है; क्योंकि वह अपनेको अधिष्ठानसे भिन्न नहीं प्रतीत कराती। दोष-दुर्गुण अपनेको अधिष्ठानसे भिन्न प्रतीत कराते हैं। अन्य सब वृत्तियाँ सगर्भा होती हैं, केवल शान्ति निर्गर्भ-वृत्ति है। इस शान्तिमें बाधकके प्रति असहिष्णु होनेसे शान्तिको अक्षुण्ण रखनेसे क्षान्ति ज्ञान है। प्रतिबन्धकके प्रति असहिष्णुता—उपेक्षाभावका नाम अमानित्व है। विवर्तके प्रति असहिष्णुता—उपेक्षाका नाम अदम्भित्व है अपनी ओरसे लोगोंको परिच्छिन्न करनेवाली वृत्तिके प्रति असहिष्णुताका नाम अहिंसा है। मान अपनेको परिच्छिन्न करता है। दम्भ दूसरेको परिच्छिन्न करता है। अहिंसा हिंसाकी प्रतिरोधिनी है और क्षान्ति प्रतिहिंसाकी प्रतिरोधिनी है।

किसीने हमें गाली दी तो हमने भी उसे गाली दे दी, यह प्रतिहिंसा है। गाली न देकर हमने गाली देनेवालेको क्षमा कर दिया, यह क्षान्ति है। अपराधीके प्रति क्षमा की जाती है। अहिंसामें कोई अपराधी नहीं है। कायरतामें भय है। यह तमोगुण है। हिंसामें द्वेष है। यह रजोगुण है। प्रतिहिंसामें असहिष्णुता है। यह सत्त्वोन्मुख रजोगुण है। अहिंसा सत्त्वगुण है।

वैदिक दृष्टिसे हिंसा-अहिंसामें सम रहना महापुरुषका लक्षण है। साधक अहिंसक होता है। प्रतिहिंसक राजपुरुष होता है। जैन-बौद्ध एवं गांधीवादकी दृष्टिसे महापुरुष अहिंसक ही होता है; किन्तु वैदिक दृष्टिसे महापुरुष अहिंसक तो होता है; किन्तु समयपर विहित हिंसा भी करता है। इस अन्तरका कारण है। बौद्ध और जैन मतोंमें मोक्षको ही पुरुषार्थ माना गया है। वैदिक मतमें चार पुरुषार्थ माने गये हैं। अर्थ, धर्म और काम इन तीनोंके पुरुषार्थी हिंसक-अहिंसक दोनों प्रकारके होंगे। मोक्षका साधक अहिंसक होगा। महापुरुष हिंसा-अहिंसा दोनोंमें सम होगा।

क्षान्तिका अर्थ है क्षमा करना। यह कायरका धर्म नहीं है। यह वीर पुरुषका—जिज्ञासुका धर्म है। ज्ञानीके लक्षणमें तो गीतामें कहा गया—

यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।

हत्वापि स इमाँल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते ॥—१८।१७

‘मैंने किया’, यह कर्तृत्वाभिमान जिसमें नहीं होता और जिसकी बुद्धि कर्मसे लिप्त नहीं होती, वह (जैसे रुद्र) इन सब लोकोंका विनाश करके भी न किसीको मारता, न उस कर्मसे बँधता है ।

‘आर्जवम्’—आर्जव = ऋजुता = सरलता । जिससे जैसा व्यवहार करना हो, मनमें भी वैसा ही भाव हो, इसका नाम आर्जव है । दूसरेसे व्यवहारका अर्थ है—अपने अन्तःकरणका निर्माण । कर्मके फलका क्या अर्थ ? धर्मानुष्ठानके पश्चात् अन्तःकरणमें जो प्रतिफलित सुख है, वही धर्मानुष्ठानका फल है । दान देकर मनको जो तृप्ति होती है, वह तृप्ति ही दानका फल है ।

यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात् परितोषोऽन्तरात्मनः ।

तत्प्रयत्नेन कर्तव्यं विपरीतं तु वर्जयेत् ॥

—मनुस्मृति

जिस कर्मको करनेसे अपना अन्तःकरण संतुष्ट होता हो, उसे प्रयत्नपूर्वक करना चाहिए और इससे विपरीत कर्मको छोड़ देना चाहिए ।

सरलताका अर्थ है कि किसीसे मीठा बोलें तो हृदयमें भी मधुरता हो । बाहरके अच्छे कर्मके अनुसार ही हृदयमें अच्छाई नहीं है तो कर्ममें सरलता नहीं है—कुटिलता है । इस कौटिल्यरूपी दोषकी निवृत्तिके लिए सरलता गुणका निरूपण किया गया है । सरल व्यक्तिको षड्यन्त्र नहीं करना पड़ता । वह चिन्तासे मुक्त रहता है ।

‘आर्जवम्’—वादल छाये हों एक ओर, बूदें पड़ रही हों और उस वर्षाकी बूंदोंमें होकर सूर्यकी किरणें वादलपर पड़ें तो वहाँ इन्द्रधनुष दिखलायी पड़ता है । वर्षाकी बूंदोंमें पड़कर किरणें वक्र हो गयीं । किरणोंके वक्तीभवनसे इन्द्रधनुषका लाल, पीला, नीला आदि रंग दीखता है । इसी प्रकार यह स्वयं-प्रकाश आत्मतत्त्व जब अन्तःकरण तथा इन्द्रियोंके द्वारा अपनी रश्मि बाहर फेंकता है तो उनका वक्तीभवन होकर उनमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध दीखते हैं । यह ज्ञानकी किरणोंका वक्तीभवन है । स्वयंप्रकाश ज्ञान ही वक्र होनेसे इन रूपोंमें दीखता है । अन्तःकरणमें जो नाना प्रकारके पुण्य-पापादिके संस्कार हैं, उनमें आकर यह चैतन्य उन-उनके कौटिल्यको ग्रहण कर लेता है । इस प्रकार इसकी आकृति भले कुटिल दीखे; किन्तु यह स्वयं कुटिल नहीं है । परमात्म-ज्ञानके लिए ज्ञानको वक्र करना आवश्यक नहीं है । उसमें आर्जव-सरलता चाहिए । स्वयं-प्रकाश ज्ञानको इन्द्रियों एवं अन्तःकरणके माध्यमसे नहीं देखना है ।

कोणके भेदसे ही आकृतिमें भेद भासता है । किसीका फोटो नीचेसे लें तो वह लम्बा दीखेगा, ऊपरसे लें तो फोटोमें ठिगना-भाटा जान पड़ेगा । भिन्न-भिन्न कोणोंसे फोटो लेनेपर एक ही व्यक्तिके भिन्न-भिन्न रूप फोटोमें आते हैं । इसी प्रकार हम संसारको जिस कोणसे देखते हैं, संसार हमें वैसा दीखता है । यदि अन्तःकरणके कोण-भेद छोड़कर इसे देखें तो यह हमें शुद्ध चैतन्य दिखलायो पड़ेगा ।

अन्तःकरणमें द्वेष होता है तो व्यक्ति बुरा दिखलायी पड़ता है। अन्तःकरणमें राग हो तो व्यक्तिमें सद्गुण दीखते हैं। यदि हृदयमें राग-द्वेषके वक्र कोण न हों तो संसार हमें ठीक दिखलायी देगा। अतः इन्द्रिय रूपी यन्त्रोंके कौटिल्यमें नहीं आना चाहिए।

एक ही वस्तुको—वस्तुतः ब्रह्मको ही नेत्र रूप दिखलाते हैं, कर्ण शब्द बतलाता है, रसना रस कहती है, त्वचा स्पर्श समझाती है और नासिका गन्धके रूपमें उपलब्ध करती है। उसी तत्त्वको अन्तःकरण प्रिय अथवा अप्रिय बतलाता है। इसका अर्थ है कि अन्तःकरणकी सम—शान्त-दशामें ही ब्रह्मकी ठीक-ठीक पहचान सम्भव है। अतः ऋजुता ज्ञान है। महाभारतमें कहा गया है :

‘सर्वं जिह्मपदं मृत्योः आर्जवं ब्रह्मणः पदम् ।

एतावान् ज्ञानविषयः प्रलापः किं करिष्यति ॥’

कुटिलता मृत्युका स्थान है और सरलता ब्रह्मका निवास-स्थान है। तुम अपने भीतर मृत्यु बुलाना चाहते हो तो कुटिलता धारण करो और ब्रह्मानुभव करना चाहते हो तो सरल बनो। सम्पूर्ण ज्ञानका सार इतना ही है—जीवनकी सरलता। केवल बकवास करनेसे क्या लाभ होनेवाला है :

‘यस्य वाङ्मनसे शुद्धे सम्यग् गुप्ते च सर्वशः ।

स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम् ॥’

(जिसका मन और वाणी भली प्रकार शुद्ध हैं—कुटिलतासे रहित हैं और चारों ओरसे भली प्रकार रक्षित—संयमित हैं, वही वेदान्त-प्रतिपादित समस्त फलको पाता है) :

‘वाचो वेगं मनसः क्रोधवेगं हिंसावेगं उपरोपस्थवेगम् ।

एतान् वेगान् सहते यश्च विद्वान् निन्दा चास्य हृदयं नोपहन्यत ॥’

(जो विद्वान् वाणीके, मनके, क्रोधके, हिंसाके, उदरके (जीभके) और उपस्थके (कामके) वेगोंको सह लेता है, निन्दा उसके हृदयको व्यथा नहीं दे पाती) :

समुद्रकी लहरें तटपर बड़े वेगसे टकराती हैं; किन्तु तट सुदृढ़ हो तो लहरें लौट जाती हैं। वाचोवेग : मनमें आया वह बोल दिया, किसीको कैसा भी लगे, किसीका कुछ बने या बिगड़े, यह दुर्बलता है, दुर्गुण है। मनमें क्रोध आया और गाली देने लगे, नेत्र लाल हो गये, शरीर काँपने लगा—यह दुर्बलता-दुर्गुण है। हिंसावेग : प्रबल क्रोध आया और किसीको मार बैठे, किसीकी हानि करनेमें लग गये, यह दुर्गुण है। उदरका वेग : भूख लगी तो शुद्ध-अशुद्ध खाद्य-अखाद्यका विचार किये बिना खाने लगे, बिना क्षुधाके भी स्वादके लिए अशुद्ध वस्तुएँ खाने लगे, यह दुर्गुण है। इसी प्रकार उपस्थ—कामके वेगके वश हो जाना दुर्गुण है। इन वेगोंको जो सह लेता है, जो इनको नियन्त्रित कर लेता है, वह विद्वान् है। निन्दा उसके हृदयको चोट नहीं पहुँचा सकती।

महात्माओंकी कोई कितनी भी निन्दा करे, उनके चित्तपर चोट नहीं लगती । वे कहते हैं :

शरीरं यदि निन्दन्ति सहायास्ते जनाः स्वयम्

लोग यदि शरीरकी निन्दा करते हैं तो वे स्वयं हमारे सहायक हैं, क्योंकि शरीरकी निन्दा तो हम भी करते हैं :

‘कायमाधेयशौचत्वात् ।’

यह शरीर स्वभावसे तो अशुद्ध है । इसे तो प्रतिदिन शुद्ध करना पड़ता है । प्रतिदिन दन्तधावन करो, स्नान करो, साबुन लगाओ, तब यह स्वच्छ होता है । पवित्रताका इसमें आधान करना पड़ता है । अतः यह तो सहज अपवित्र-निन्दनीय ही है और ‘आत्मानं यदि निन्दन्ति’ यदि वे लोग आत्माकी निन्दा करते हैं तो अपनी ही निन्दा करते हैं ।

इस प्रकार आर्जव—सरलता आत्मतत्त्वके समीप पहुँचानेका साधन होनेसे ज्ञान है तथा ‘यदतोऽन्यथा’ इसके जो विपरीत है, वह कुटिलता संसारिकतामें फँसानेवाली होनेसे अज्ञान है ।

‘आचार्योपासनं’—यहाँ आचार्यका अर्थ सामान्य लौकिक विद्या पढ़ानेवाला शिक्षक नहीं है ।

‘आचिनोतीति शास्त्रार्थमाचारे स्थापयति च ।’—मनु०

जो स्वयं शास्त्रके अर्थोंका समन्वय करके लोगोंको उनके वर्णाश्रमविहित आचरणमें लगाये उसे धर्मशास्त्रने आचार्य कहा है ।

एक आचार्य धर्माचार्य होता है । वह कुलाचारका शिक्षक होता है । लोक-भाषामें उसे पुरोहित कहते हैं । शास्त्राचारको सिखलानेवाला चाहिए । मनुष्यको माला फेरना, माला पकड़ना भी सीखना पड़ता है कि कैसे माला पकड़ते हैं और कैसे तर्जनीको मालामें दूर रखते हैं । इसी प्रकार उपासनाके तथा योगके आचार्य पृथक् होते हैं । ये वेदान्तकी जिज्ञासाके प्रसंगमें आचार्य नहीं हैं ।

‘आचार्यवान् पुरुषोवेद ।’

—छा० ६।१।४।२

‘आचार्याद्भ्येव विदिता विद्या साधिष्ठं प्रापयति ।’ छा० ४।६।३

आचार्यवान् पुरुष ही इस आत्मतत्त्वको जानता है । आचार्यके द्वारा प्राप्त ब्रह्मविद्या ही उस अधिष्ठानतत्त्वको प्राप्त करा सकती है । इन श्रुतियोंमें ब्रह्मात्मज्ञानके उपदेष्टाको ही आचार्य कहा गया है । जो बुद्धिमें ब्रह्मज्ञानका संचार कर दे, वह आचार्य ।

‘तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ।’

—मुण्डक० १।२।१२

उस परमात्मतत्त्वको जाननेके लिए स-मित्पाणि होकर श्रुतियोंके विद्वान् एवं ब्रह्मनिष्ठ गुरुके समीप ही जाना चाहिए ।

‘नेति नेति’के द्वारा समस्त स्थूल-सूक्ष्मका निषेध कर देनेपर जिस वस्तुका साक्षात्कार होता है, उसका उपदेष्टा चाहिए ।

अब ऐसे आचार्यकी उपासना क्या ? उसके चरण दवाना या उसे धन-वस्तु देना उसकी उपासना नहीं है । 'उप समीपे' 'उप'का अर्थ है पास, 'आसना' बैठ जाना । तब क्या गुरुके पास दिनरात बैठे रहना उसकी उपासना है ? बात यही है; किन्तु गुरुके शरीरके समीप बैठे रहनेको नहीं कहा जा रहा है । अपनी बुद्धिसे सोचो कि गुरु कहाँ-किस तत्त्वमें बैठे हैं । उनकी चौकी—उनका आसन—उनकी स्थिति कहाँ है ।

‘गुरुदेव अपनेको कभी परिच्छिन्न, सुखी-दुःखी, पापी-पुण्यात्मा, संसारी मानते ही नहीं हैं । वे सदा अपनेको ब्रह्म ही जानते हैं, ब्रह्म ही मानते हैं, ब्रह्ममें ही बैठते हैं । वे सदा ब्राह्मी-स्थितिमें ही रहते हैं ।’ इस प्रकार शिष्य अपने गुरु-देवके सम्बन्धमें चिन्तन करे—‘गुरुदेवमें न देश है—न काल, न जाति है—न सम्प्रदाय, न पाप है—न पुण्य, वे तो अखण्ड, एकरस, अद्वितीय ब्रह्म हैं ।’

इस प्रकार गुरुकी निष्ठा अपने ध्यानमें ले आओ । यह उनके समीप बैठना हुआ । जो स्थिति, जो ज्ञान, जो निष्ठा गुरुको प्राप्त है, उसका तुम ध्यान करो तो तुम्हारा देहाभिमान मिटेगा ।

श्री उड़ियाबाबाजी महाराजका शरीर वृन्दावनमें पूरा हुआ तो उनके एक प्रेमी महात्मा बहुत व्याकुल हुए । वे महात्मा बाबाको साक्षात् ब्रह्म मानते थे । अब वे रोयें, तड़पें । उनका शोक घटता नहीं था । एक दिन स्वप्नमें उन्हें बाबाका दर्शन हुआ । स्वप्नमें बाबा बोले—‘पलटू ! पन्द्रह वर्ष तू मेरे साथ रहा । मैंने तुझे बतलाया कि मैं ब्रह्म हूँ, देह नहीं हूँ और तू भी ब्रह्म है । अब तू मुझे मरा मानकर रोता है । मेरे उपदेश का यही फल है ?’

उस दिनसे वे महात्मा शान्त हो गये । इसका तात्पर्य है कि आचार्यों-पाँसनाका अर्थ है गुरुकी निष्ठामें स्थित होना । देहको, देहकी क्रियाको महत्त्व मत दो । यदि तुम अपने गुरुको संसारमें बैठाते हो तो तुम स्वयं संसारसे पार कैसे होगे ? जो मूर्तिकी पूजा करे, किन्तु मूर्तिको पत्थर माने, उसका कल्याण कैसे होगा ? मूर्ति तो साक्षाद् भगवान् है ।

भगवन्मूर्तिको धातु—पाषाण मानना, भगवत्प्रसादको भोग मानना, महात्माको—गुरुको शरीर मानना पतनका कारण होता है । मूर्ति साक्षात् भगवान् हैं । भगवत्प्रसाद नित्य पवित्र अमृत है । गुरु साक्षात् ब्रह्म हैं । उनका दर्शन, उनका स्पर्श भी अमृत है ।

एक महात्माने बचपनमें मुझे बतलाया था—‘बेटा ! मैं वह नहीं हूँ, जो तुम्हें दिखलायी पड़ता हूँ । अपने विषयमें मैं जो तुम्हें बतलाता हूँ, वह मैं हूँ । तुम मुझे शरीर देखते हो, मैं ब्रह्म हूँ ।’

गुरुके सम्बन्धमें इस प्रकारका चिन्तन ब्रह्मज्ञानका साधन है । केवल पुस्तकोंको पढ़ लेनेसे ज्ञान नहीं होता । एक व्यक्ति अकेले अपने श्रमसे सामान्य सांसारिक ज्ञान भी नहीं प्राप्त कर सकता । उसे अपने पूर्व-पुरुषोंके अनुभवोंका आधार लेकर ही सामान्य ज्ञान भी प्राप्त होता है । आपका अपना नाम भी नाम-करण संस्कारसे आपको मिला है । आप उत्पन्न हुए मनुष्य रूपमें । संस्कार द्वारा

एक विशेष संकेतका, आपमें आधान किया गया। आपका नाम जो भी हो; किन्तु अब उस नामका ऐसा संस्कार आपकी बुद्धिमें पड़ गया है कि आप उसी नामकी प्रतिष्ठा-प्रचार चाहते हैं। उस नामको कोई गाली दे तो आप दुःखी हो जाते हैं। यह नामकरण भी आचार्यने किया है।

जीवनमें गुणाधान एवं दोषापनयनके संस्कार न हों, कोई उसमें सद्गुण लाने तथा दोष-दुर्गुण निकालनेकी प्रेरणा देनेवाला न हो, मनुष्यके वच्चेको ऐसे ही वनमें छोड़ दें तो वह हाथसे भोजन करना भी नहीं सीख सकेगा। संस्कारसे ही मनुष्य मनुष्य बनता है।

गुणाधान-प्रधान संस्कार हैं यज्ञोपवीत जैसे। कर्मको नियन्त्रणमें लानेके लिए यज्ञोपवीत-संस्कार है। भोगको नियन्त्रणमें लानेके लिए विवाह-संस्कार है। दोषापनयन-रूप त्यागमूलक-संस्कार संन्यास है। मुसलमान, ईसाई आदि सबमें बालकका संस्कार होता है। कल्मा पढ़े बिना कोई मुसलमान नहीं होता और वपतिस्माके बिना कोई ईसाई नहीं होता। इन संस्कारोंके लिए आचार्यकी आवश्यकता होती है।

आपके ज्ञानमें जो अपूर्णता है, उसे दूर करनेके लिए भी तो आचार्य चाहिए। आप क्षेत्रज्ञको जानते हैं? देहेन्द्रिय युक्त इस संघातको जो जानता है, उस अपने विषयमें आपको ज्ञान है?

आप अपनेको द्विजाति जानते हैं तो सन्ध्या करना आपका कर्तव्य हो जाता है। अपनेको संन्यासी जानते हैं तो त्याग करते हैं। व्यापारी अपनेको जानते हैं तो व्यापार करते हैं। जीवनकी व्यवस्था अहमर्थके आधारपर है। पहले चिकित्सक होनेका प्रमाण-पत्र ले लो, फिर चिकित्सा करो। पहले सिपाही बनो, फिर यातायात नियन्त्रण करो। इसी प्रकार पहले अपनेको जानो। आप क्षेत्रज्ञको नहीं जानते तो आपके ज्ञानमें कमी है। सब प्रकारके ज्ञान प्राप्त करनेके लिए आपने तत् तद् विषयके आचार्योंकी सहायता ली है। अब इस ज्ञानकी कमीको दूर करनेके लिए भी आपको आचार्यकी सहायता लेनी चाहिए।

जो अपनेको ठीक-ठीक नहीं जानता, वह अपने कर्तव्य, प्राप्तव्य, गन्तव्यको भी ठीक-ठीक नहीं जानता।

‘न नरेण ह्यवरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो ह्यणुरेष धर्मः।’

बात बड़ी सूक्ष्म है, अतः साधारण मनुष्य द्वारा कही जानेपर हृदयमें प्रवेश नहीं करती। श्रीमद्भागवतमें कहा है :

‘असंकल्पाज्जयेत् कामं क्रोधं कामविवर्जनात्।

अर्थानर्थैक्षया लोभं भयं तत्त्वावमर्शनात्॥

एतत्सर्वं गुरौ भक्त्या पुरुषो ह्यक्षसा जयेत्।’

यदि तुम्हारे मनमें कामना है तो उसमें संकल्प—अच्छाई—शुभबुद्धिकी कल्पनाका त्याग करो। ‘यह काम ऐसा ही हो’ इस हठको छोड़ दो, मनमें क्रोध नहीं आयेगा। यदि तुम कामनापर अड़ोगे नहीं, तो क्रोध नहीं आयेगा। अर्थ

ब्रह्मज्ञान और उसकी साधना]

क्या और अनर्थ क्या, इसका विचार करो तो धन एकत्र करनेकी वासना छूट जायगी। धन एकत्र करनेकी वासनामें सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह है कि मनुष्य अपनी सन्तानको अयोग्य मानता है। स्वयं तो खाता-पीता नहीं, इस प्रकार अपना जीवन नष्ट हुआ, ईश्वरपर—प्रारब्धपर—समाजकी उदारतापर—सन्तानकी योग्यतापर—किसीपर विश्वास नहीं। यह छूट जाय; यदि अर्थमें जो अनर्थ हैं, उनका विचार करो। तत्त्वको—वास्तविकताको जानलो तो भय मिट जायगा। धमकानेवाले प्रायः गीदड़-भभकी देते हैं। वास्तविकताकी खोज करो; भय नहीं टिकेगा। ये सब एक-एक दोष एक-एक रोगकी एक-एक ओषधियाँ हैं। सब रोगोंकी रामबाण ओषधि है गुरुभक्ति। काम, क्रोध, लोभ, भय सब इससे दूर हो जाते हैं।

पहले गाँवोंमें न चिकित्सालय थे और न वैद्य। तब गाँवमें कोई-कोई अमृतधारा रखते थे। सब रोगोंपर अमृतधारा दी जाती थी। यह आचार्योंपासन सब मानस-रोगोंके लिए अमृतधारा है।

‘नैनं कृताकृते तपतः।’

गुरुकी स्थितिका विचार करो कि कुछ करने-न-करनेपर भी उन्हें क्यों दुःख-शोक-परचात्ताप नहीं होता।

‘आचार्यस्य उप समीपे ब्राह्मणां स्थितो आसनं आचार्योंपासनम्।’

आचार्यके समीप अर्थात् उसकी ब्राह्मी-स्थितिमें अपने चित्तको स्थित करना, यह आचार्योंपासन है। यह ज्ञान है और इससे विपरीत अवस्था अज्ञान है।

‘शौचम्’ : शुचि धातु पवित्रताके अर्थमें है, दीप्तिके, शोकके, शृंगारके तथा स्वेदनके अर्थमें भी है। ‘शुचिः आषाढः’ आषाढ मासका नाम भी शुचि है; क्योंकि इस महीनेमें स्वेद बहुत आता है।

शौचकी अनेक पद्धति हैं। मिट्टीसे शुद्धि, जलसे शुद्धि, अग्निमें तपाकर शुद्धि आदि। जैसे मिट्टीके पात्र न मिट्टीसे रगड़नेसे शुद्ध होते हैं और न जलसे धोनेसे। वे अग्निमें तपाकर शुद्ध किये जाते हैं। स्वर्णपात्रको जूठा होनेपर मिट्टीसे रगड़ना आवश्यक नहीं है। वह जलसे धोने मात्रसे शुद्ध हो जाता है।

‘उष्णं वातेन शुध्यति।’

ऊनी-रेशमी वस्त्र वायु लगने मात्रसे शुद्ध हो जाते हैं। जातसूतक या मरणाशौचकी शुद्धि समयसे—कालसे होती है। देशसे शुद्धि होती है—जैसे श्रीजगन्नाथपुरीमें उच्छिष्ट शुद्ध माना जाता है। इसी प्रकार भस्मसे या मन्त्रसे शुद्धि होती है। स्पर्शसे शुद्धि होती है—मलिन वस्तुपर दृष्टि गयी तो कर्णका स्पर्श कर लिया। दृष्टिसे शुद्धि होती है—मनमें बुरा विचार आया या दृष्टि दूषित हुई तो सूर्य-दर्शन कर लिया। धर्मशास्त्रमें वस्तुओंकी शुद्धि-अशुद्धिका बहुत विस्तृत विवेचन है। बहुत-सी वस्तुएँ गंगाजल छिड़कनेसे या तुलसीदल डालनेसे शुद्ध हो जाती हैं। भगवन्नामसे या भगवत्स्मृतिसे तन-मन दोनों शुद्ध हो जाते हैं। यह सब तो धर्मशास्त्रमें शौचका विधान है। योगदर्शन कहता है :

‘शौचात्स्वांगजुगुप्सा परैरसंसर्गः ।’

इस अपवित्र देहमें पवित्रताका भाव विवेककी कमीके कारण होता है । शौचाचारका तात्पर्य है—अपने देहसे ही विरक्ति और दूसरोंसे असंसर्ग ।

सब अपवित्रताओंका उद्गम शरीर है । थूक, पसीना, मल-मूत्र, केश, नख, हड्डी ये जबतक शरीरमें हैं—पवित्र हैं । शरीरसे पृथक् होते ही अपवित्र हो जाते हैं । जबतक वस्तु ‘अहं’के रूपमें शरीरके भीतर या शरीरके अंग-रूपमें रहती है, तब तक पवित्र है । ‘इदं’के रूपमें होते ही अपवित्र हो जाती है ।

‘कायमाधेयशौचत्वात् पण्डिता ह्यशुचिं विदुः ।’

शरीरको बार-बार स्नानादिसे पवित्र करना पड़ता है । अतः विद्वान् इसे अपवित्र ही जानते हैं । शरीरसे निकली वस्तु पवित्रसे पवित्र वस्तुको अपवित्र कर देती है । सब अपवित्रता मनुष्यके शरीरसे निकलती है । वन या भवन पवित्र था, मनुष्यके मलका संसर्ग होनेसे अपवित्र हुआ । वस्त्र पवित्र था, किसीके पहननेसे अपवित्र हुआ ।

योगका कहना है : यह जो अशुचि देहमें शुचि-बुद्धि है, यह विभ्रम है और यह विभ्रम पापका फल है । पवित्रताका नियम जीवनमें धारण करनेपर शरीरकी ओर दृष्टि जाती है । तब शरीरके उत्तम होनेका भ्रम मिट जाता है । यही शौचाचारका फल है ।

‘परैरसंसर्गः’ दूसरोंसे असंसर्गका अर्थ दूसरोंका तिरस्कार करना नहीं है । यह शरीर स्पर्श करने योग्य नहीं है, अतः दूसरोंको मना कर दिया कि इसका स्पर्श न करें । वाराणसीमें अब भी ऐसे ब्राह्मण हैं कि वे यदि शुद्ध न हों तो अपने शिष्यों—सेवकोंको मना कर देते हैं—‘मैं शौचालयसे आया हूँ । दूर रहो । अभी मेरा स्पर्श मत करो । मैं स्नान कर लूँ तब पैर छूना ।’

इससे एकान्तमें, दूसरोंसे पृथक् रहनेका अभ्यास होता है । यह शरीर, यह क्रिया, यह भाव अशुचि है, उसे दूर करना शौच है । वस्तुतः द्वैत ही अशुचि है; जिसे अज्ञानके कारण द्वैत सत्य प्रतीत होता है, वह अज्ञान अपवित्र है । अतः वह ज्ञान प्राप्त करो जो अज्ञानकी अपवित्रताको दूर कर दे । जिससे द्वैत भगवान् शिवके शरीरमें चिताभस्मके समान रह जाय । विद्या—तत्त्वज्ञान द्वारा अविद्याका भस्म करके, बाधित संसारमें व्यवहार करो । वास्तविक शौच यह चिन्तन है कि मैं नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त हूँ । मुझमें न प्रपञ्च है, न द्वैत । ऐसा आत्मचिन्तन शौच है और यह शौच ज्ञान है । इससे भिन्न अशौच अज्ञान है ।

‘स्थैर्य’ : योगी लोग देहको स्थिर करके, प्राण एवं मनको स्थिर करते हैं; किन्तु देह तो स्थिर होता नहीं । शरीरमें रक्तप्रवाह, नाड़ी एवं श्वासकी गति तो चलती ही रहेगी ।

‘गुरुवेदान्तवनैर्निश्चिंतार्थं दृढा स्थितिः ।

तदैकवृत्तितः स्थैर्यं नैश्वर्यं न तु वर्त्मनः ॥

शरीरकी स्थिरता स्थिरता नहीं है । गुरु तथा वेदान्तके वचनोंके द्वारा तत्त्वमें दृढ़ निष्ठा होनेका नाम स्थैर्य है ।

शरीरकी चंचलता प्रयत्नशैल्यसे दूर होती है। 'कोई काम करनेका संकल्प मनमें न रहे तो देह नहीं हिलेगा। 'अनन्त-समापत्ति' से आसन-स्थैर्य होता है। कुंडली मारे, श्वेतवर्ण, सहस्र फणवाले भगवान् शेष पृथ्वीको एक सिरपर रखे स्थिर हैं। उनके फणोंकी मणियोंसे ज्योति निकल रही है। उनकी कुंडलीपर भगवान् नारायण लेटे हैं और लक्ष्मीजी गोदमें श्रीनारायणके श्रीचरण लेकर दवा रही हैं। यह ध्यान करो तो तुम्हारा आसन स्थिर बना रहेगा।

कई लोग आसनके द्वारा देहको स्थिर करते हैं। कुछ लोग प्राणायाम करके प्राणवायुको स्थिर करते हैं। कई धारणा-ध्यानके द्वारा मनको स्थिर करते हैं। कुछ लोग विचारको भी विक्षेप मानते हैं और समाधि लगाते हैं। कई लोग द्रष्टा होकर बैठते हैं। वेदान्तके विचारमें कैसी और कितनी स्थिरता अपेक्षित है ?

आसीनः सम्भवात् ।

वेदान्त-विचार बैठकर करना चाहिए; क्योंकि लेटनेपर नींद आ सकती है और चलते-चलते विचार करने लगे तो ठोकर खाकर गिरनेका भय है।

'स्थैर्य' : आलम्बनके विचारसे अपनेमें स्थिरता आये यह भिन्न बात है और सत्त्वके विचारसे स्थिरता आये यह भिन्न बात है। यहाँ निष्ठामें स्थिरता अपेक्षित है।

'स्थैर्य' : क्या चल है ? क्या अचल है ? वस्तुतः जिससे चर-अचर दोनोंकी सिद्धि होती है, वही अचल है। वह अपना आपा है। हम हों तब तो बन्धन-मुक्ति, जीव-जगत्-ईश्वर सबका ज्ञान हो। हम न हों तो ये ज्ञान किसे होंगे ? तुम्हें स्थिरको ढूँढ़ना है, तो देखो कि जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति ये अवस्थाएँ आती-जाती रहती हैं, राग-द्वेष आते-जाते रहते हैं; किन्तु तुम ज्योंके त्यों रहते हो। स्थिरता तुम्हारे स्वरूपमें ही है। यह परमाणुओंसे बनी देह या सृष्टि स्थिर कैसे रह सकती है ? परमाणु तो स्वयं कम्पनशील हैं। जो बना है, वह तो विकारी है। वह स्थिर कैसे रह सकता है ? यह सृष्टि पहले नहीं थी। बनी और धीरे-धीरे परिवर्तित हो रही है; अन्तमें लय हो जायगी। जो सृष्टि प्रकृतिके परिणाम या चित्तके विकारसे बनी है, वह स्थिर भला रह कैसे सकती है ? स्थिर है तो केवल अपना आत्मा ।

मैं एक महापुरुष के पास दर्शन करने गया। वे भूलेपर बैठे भूल रहे थे। मैं नीचे बैठ गया। वे समझाने लगे : 'नदी बहती रहती है, तटपर बैठा व्यक्ति अचल है। नदीमें भँवर उठ रही है। लगता है, भँवरका जल अचल है। इसी प्रकार संसारमें प्रतीत होनेवाली चंचलता और स्थिरता दोनों अपेक्षिक हैं। यदि तुम स्थिर और चरका अनुसन्धान करके चरको छोड़ते जाओ तो देखोगे कि विषय, संसार, सम्बन्धी-स्वजन, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि तथा जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, समाधि एवं इन अवस्थाओंमें भासनेवाली सब वस्तुएँ चल हैं। केवल स्वयंप्रकाश आत्मदेव स्थिर हैं। इस प्रकार विवेक करो तो स्वरूपगत स्थिरताका ज्ञान हो जायेगा।'

स्थैर्यका तात्पर्य है प्रमाण-प्रमेयके सम्बन्धमें असंदिग्ध होकर स्वरूप-साक्षात्कार करना । यह स्थैर्य ज्ञानका साधन है । इसके विपरीत चंचलता अज्ञान है । स्थैर्यके लिए मनका नियन्त्रण आवश्यक है; कहा है—आत्मविनिग्रहः ।

‘स्थैर्य’—अनात्मामें जो आत्मबुद्धि कर ली है, अनात्माके गुण, धर्म, अवस्थादिको हमने अपनेमें आरोपित कर लिया है, उसे दूर करना है । अनात्मासे आत्माका यह विवेक ही शौच है ।

यह शौच आता है स्थिरतासे । एक व्यक्तिको कहीं जाना है । वह कभी आगे चले, कभी पीछे, कभी दाहिने, कभी बायें तो लक्ष्य तक कैसे पहुँचेगा ? फल-प्राप्तिके लिए स्वीकृत साधनमें स्थिरता अपेक्षित है :

‘दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितोद्वभूमिः ।’

—योगदर्शन

दीर्घकालतक, निरन्तर, सत्कारपूर्वक सेवित होनेपर साधनकी भूमि दृढ़ होती है :

‘दीर्घकालस्थिराभ्यस्ता राम संसारवासना ।’

न चिराभ्यासयोगेन विनेयं शाम्यति क्वचित् ॥’

योगवासिष्ठमें महर्षि वसिष्ठ कहते हैं—‘श्रीराम ! ये संसारकी वासनाएँ दीर्घकालके अभ्यासके कारण स्थिर हो गयी हैं । अतः दीर्घकालतक अभ्यास किये बिना ये न लुप्त होतीं, न शान्त होतीं ।

अनादिकालसे हम इसी संसारमें पड़े हैं । इसीके विषयोंमें लगे रहनेके अभ्यस्त हो रहे हैं । अब कोई मनुष्य उलाहना देता है : ‘इतने दिन भजन करते हो गये, हमको कोई लाभ नहीं हुआ ।’

अब इससे पूछो : ‘प्रतिदिन भजन कितनी देर करते हो ? घण्टे-दो घण्टे-चार घण्टे । दुकानका काम, स्त्री-बच्चोंका काम, देह और संसारका मोह बढ़े; ऐसा काम कितनी देर प्रतिदिन करते हो ?’

अतः अभ्यासमें दीर्घकाल लगाना चाहिए और उसे निरन्तर होना चाहिए । अभ्यासकी धारा बननी चाहिए । ‘दीर्घकाल नैरन्तर्य’के साथ • ‘सत्कारासेवित’ उस अभ्यासमें श्रद्धा रहनी चाहिए कि इसीसे हमारा कल्याण होगा :

सन्दिग्धो हि हतो मन्त्रः ।

कोई एक मन्त्रका जप तो बारह वर्षसे करता है; किन्तु मनमें सन्देह है—‘यह शुद्ध है या नहीं’ तब वह मन्त्र फल नहीं देता । एक महात्मासे किसीने पूछा : ‘हम किस मन्त्रका जप करें ? महात्मा मौन थे । उन्होंने लिख दिया । असावधानीवश लिखा गया ‘नमो शिवाय’ अब यह मन्त्र तो अशुद्ध है । ‘नमः अशिवाय’ का ही ‘नमो शिवाय’ होगा । उस साधकके मनमें सन्देह तो हो गया;

ब्रह्मज्ञान और उसकी साधना]

[७०]

किन्तु गुरुसे पूछता नहीं था। यह मनका दोष है। मन्त्र निश्चयात्मक वृत्ति बनानेको होता है।

एक मनुष्य नदीमें बह रहा है। उसे पता न हो कि वाम तटपर लगना है या दक्षिण तटपर, तो वह बहता रहेगा। अतः गुरुमें, इष्टमें, मन्त्रमें निष्ठा—स्थिरता होनी चाहिए।

वेदान्त-मार्गमें चले तो पहले निश्चय होना चाहिए कि लक्ष्य मुक्ति है या नहीं। मुक्ति लक्ष्य है तो वह साधन-साध्य मुक्ति है या स्वतःसिद्धि। यदि मुक्ति साधन-साध्य है—साधनसे उत्पन्न होगी तो नष्ट भी हो जायगी। यदि मुक्ति स्वतःसिद्ध है तो साधनोंकी आवश्यकता? यदि साधन आवश्यक नहीं हैं तो उस स्वतःसिद्ध मुक्तिका ज्ञान होना चाहिए—अपरोक्ष साक्षात्कार होना चाहिए। अपरोक्ष साक्षात्कारके लिए प्रमाणजन्य वृत्ति चाहिए। वह विषयेन्द्रिय संयोगजन्य प्रमाणवृत्ति नहीं चाहिए। जहाँ इन्द्रियोंकी गति नहीं, ऐसा प्रमाण चाहिए। ऐसे विषयमें तो शब्द ही प्रमाण हैं। शब्द-श्रुति कहती है : 'तुम नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त हो। तुममें बन्धन नहीं है।' इस शब्दके आदेशमें निष्ठा—स्थैर्य अपेक्षित है।

'आत्मविनिग्रहः' : इसमें 'ग्रह' शब्द ध्यान देने योग्य है। ग्रह, आग्रह, विग्रह, परिग्रह, संग्रह आदिमें सबसे पापी है पूर्वग्रह। यही ज्ञानके मार्गमें प्रबल बाधक है। पहलेकी कोई बात मनमें ऐसी बैठ गयी है कि अब हम उसके उचित-अनुचित, उपादेय-अनुपादेय होनेका विचार ही करनेको प्रस्तुत नहीं हैं। जो पुरानी स्मृति लेकर रोते रहते या अहंकार करते हैं, वे सब ग्रहके चक्करमें पड़े हैं। मन भी एक ग्रह है। यह संस्कारोंका ही बीज है। मनकी प्रवृत्ति है कि यह पुरानेमें ही लगा रहना चाहता है :

'पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम् ।

सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥'

पुराणा है, इसलिए सब अच्छा नहीं है और न नया है इसलिए सब बुरा है। सत्पुरुष परीक्षा करके गुण-दोषका निश्चय करते हैं और मूर्ख दूसरोंकी मान्यताके अनुसार चलाये जाते हैं।

'आत्मविनिग्रहः' : यहाँ आत्माके उपकारी—सहायकको आत्मा कहा गया है। जैसे किसीसे कहें—'तुम्हारे नेत्र रंह गये हैं, उन्हें लेते आओ!' तो यहाँ नेत्रका अर्थ चश्मा होगा। नेत्रसे देखनेमें चश्मा सहायक होनेसे नेत्र कहा गया। इसी प्रकार संकल्प करने, भोगनेमें मन उपकारी—सहायक है, अतः मनको ही यहाँ आत्मा कहा गया है। इस मनका विनिग्रह : विशेष निग्रह करना अर्थात् मनका इतना नियन्त्रणमें होना कि कह दें : 'इस विषयमें मत सोचो' तो मन मान ले।

अध्यात्मशास्त्रका लक्ष्य मनको मारना नहीं है, मनका वशीकरण है। जीवन्मुक्त, ज्ञानी, भक्त, योगी आदि सबके मन रहता है। उस मनका विनिग्रह

होता है। जहाँ लगाया, वहाँ मन लग गया। जहाँसे हटाना चाहा, वहाँसे मन हट गया। यह विनिगृहीत मन है।

वेदान्तशास्त्रमें इस मनके विनिग्रहके लिए चार बातें बतलायी गयी हैं :

‘अध्यात्मविद्याधिगमः साधुसंगतिरेव च ।

वासनासम्परित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम् ॥

एतास्ता युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तज ये किल ।

१. ‘अध्यात्मविद्याधिगमः’ : शरीरके भीतर जो मनका प्रकाश है, वह कैसे काम करता है, इसे ठीक-ठीक समझना। हरद्वार कहनेसे न मन हरद्वार चला गया और न हरद्वारने वहाँसे उठकर हृदयमें प्रवेश किया। जैसे दर्पणके यथास्थान रहते ही उसमें प्रतिबिम्ब दिखलायी पड़ता है, वैसे ही आपकी कल्पनाके अनुसार हरद्वार चित्तमें दीख गया। मन एक दर्पणके समान है। उसमें नाना पदार्थ दीखते रहते हैं। इन्द्रियोंमें आकार देखना मनके प्रकाशका बक्रीभवन है। मनमें पड़ते प्रतिबिम्ब बदलते रहते हैं। जो सम्मुख आता है वह मनके भीतर ही दिखलायी पड़ता है। जैसे दर्पण किसी प्रतिबिम्बके साथ सक्त ‘हम’ नहीं होता, वैसे ही मन भी किसीके साथ बँधता नहीं। यह भूठी कल्पना है कि इसके बिना रह नहीं सकते। एकको भ्रम हो गया—‘मैं दूध पिये बिना स्वस्थ नहीं रह सकता।’ यह भ्रम ही है। मन कहीं आता-जाता नहीं। मनमें भी कभी कोई आता नहीं। केवल कल्पनासे मनमें वस्तुओं-व्यक्तियोंका स्फुरण होता है। इस मनके स्वरूपको समझो। इसमें कूटस्थ साक्षीको, जो प्रत्येक कल्पनामें तदाकार होता है, जो तदाकार होनेपर भी असंग रहता है; उसको समझो। मनमें एक साथ एक ही आकार आता है। एक आकारके पीछे जब दूसरा आकार मनमें आता है, तब पहला आकार सर्वथा नष्ट हो जाता है। गत रात्रिके स्वप्न या सुषुप्ति किसी प्रकार पुनः मनमें नहीं आ सकते। इस समय हम उनकी नवीन कल्पना करते हैं। यह समझना ‘अध्यात्मविद्याधिगमः’ है।

२. ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय अथवा प्रमाता, प्रमाण प्रमेयकी प्रत्येक त्रिपुटी संस्कारजन्य नहीं होती। अध्यात्मविद्या—प्रमाता, प्रमाण, प्रमेयका यह अधिगम कैसे होगा? एकान्तमें बैठकर ध्यान करने—समाधि लगानेसे यह नहीं होगा। अतः ‘साधुसंगतिरेव च’ अध्यात्मविद्याके ज्ञाता जनोसे इसे सीखना पड़ेगा।

३. साधु-संगति कैसे प्राप्त हो? साधु-संगतिमें वासना ही बाधक है। हम ‘ऐसे रहे बिना, ऐसा भोग भोगे बिना रह नहीं पाते, इससे साधु-संगतिसे वञ्चित रहते हैं। इससे वासनाओंका त्याग करो। ‘वासनासम्परित्यागः।’

४. वासनाओंका त्याग कैसे हो? ‘प्राणनिरोधनम्’ प्राणोंकी च्युतिको रोको। ऐसे काम मत करो, जिसमें प्राणोंका वेग बढ़ जाता है।

‘आत्मविनिग्रहः’ : मनको शब्दमें जाने दो; किन्तु शब्द-विशेषमें आसक्त मत होने दो। मनको रूप देखने दो; किन्तु रूप-विशेषमें फँसने मत दो। मनको गन्ध लेने दो; किन्तु गन्धविशेषका आग्रही मत बनने दो। मनको स्पर्शानुभव

करने दो; किन्तु स्पर्शविशेषका व्यसनी मत बनने दो। मनको रस-स्वाद लेने दो; किन्तु स्वादविशेषमें आसक्ति मत करने दो। मनको लोगोंके बीचमें रहने दो; किन्तु व्यक्ति-विशेषका ही प्रेमी मत बनने दो। मनको एकांगी मत बनाओ: मनका ऐसा कोई स्वभाव मत बनाओ कि उस वस्तु, व्यक्ति, क्रिया या भोगके बिना मन तुम्हें कष्ट देने लगे।

‘आत्मविनिग्रहः’ आत्माकी उपस्थितिमें मनका निग्रह करना। बच्चा कभी सोता है, कभी खेलता है। वह अपने सामने ही चञ्चल भी होता है, शान्त भी रहता है। मन बच्चा है। उसकी इन दोनों अवस्थाओंका आनन्द लो। मनका सम्यक् विनिग्रह तभी होगा, जब तुम अपने कूटस्थ, सत्य, आत्मस्वरूपका अनुभव करोगे:

‘समाधिमथ कर्माणि मा करोतु करोतु वा।

हृदयेनास्त सर्वास्थो मुक्त एवोत्तमाशयः॥’

मन समाधिमें स्थित हो या कर्मोंके चिन्तनमें लगा रहे। मनकी किसी अवस्थापर हमारी आस्था नहीं है। हृदयसे समस्त आस्थाएँ मिट गयीं।

‘स्वपतो नास्ति मे हानिः सिद्धिर्यत्नवतो न वा।

नाशोऽल्लासौ विहायास्मादहमासे यथासुखम्॥’

मैं सोता पड़ा रहूँ तो मेरी कोई हानि नहीं है और प्रयत्न करूँ तो उससे मुझे कोई लाभ होनेवाला नहीं है। नाश-उल्लास, हानि-लाभ, इन दोनोंको छोड़कर मैं इच्छानुसार व्यवहार करता अपनी मौजमें स्थित हूँ।

अद्यास्तमेतु वपुराशशितारमास्तां

नैतावतास्ति मम चिद्वपुषो विशेषः।

कुम्भे विनश्यति चिरं समवस्थिते वा

कुम्भान्तरस्य न तु कोऽपि विशेषलेशः॥

शरीर आज ही नष्ट हो जाय अथवा प्रलयपर्यन्त बना रहे, इन दोनोंमें मेरे चित्तमें कोई विशेष अन्तर नहीं जान पड़ता। घड़ा फूट जाय या बहुत दिनों तक बना रहे, इससे घटाकाशकी क्या लाभ-हानि है।

‘आत्मानं चेद् विजानीयात् अयमस्मीति पुरुषः।

किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्॥’

यदि पुरुषने अपने आपको पहचान लिया कि यह देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न, अविनाशी, निर्विकार अद्वय ब्रह्म मैं हूँ तो फिर किस इच्छासे, किसके लिए वह शरीरके पीछे संतप्त होगा !



● संगति

आत्मविनिग्रहके अभ्यासमें वैराग्य आवश्यक है, इसलिए कहते हैं :

इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च ।

जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥ ८ ॥

इन्द्रियोंके विषयोंमें वैराग्य तथा अहंकारहीनता एवं जन्म-मृत्यु-बुढ़ापा-रोगदुःख—इन दोषोंको बराबर (शरीरके) पीछे लगे देखना (यह ज्ञान है और इससे जो विपरीत है, वह अज्ञान है ।)

‘अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ।’

—योगदर्शन

‘अभ्यासेन च कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।’

—गीता

अर्जुन ! यह मन अभ्यास और वैराग्यके द्वारा पकड़ा जाता है ।

‘आत्मविनिग्रह’ को जब बतलाया तब उसका साधन भी बतलाना चाहिए । मनको मारा तो जाता नहीं । (जैसे अपने बिगड़े वच्चेको फाँसी नहीं दी जाती, उसे सुधारना पड़ता है, वैसे ही मनको सुधारना है ।)

योगदर्शन कहता है—पहले मनकी परीक्षा करो कि वह चाहता क्या है । उसे सहसा मत रोको । वच्चोंको कौन-सा खेल रुचता है, यह पहले समझो फिर उनके खेलनेका स्थान बनाओ :

‘विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धिनी ।’

बाह्य विषयोंके समान प्रवृत्ति उत्पन्न होनेपर वह मनको अपनेमें बाँध लेती है ।

यदि तुम्हारा मन सुगन्धिमें लगता है, नाना प्रकारकी गन्ध चाहता है तो नासिकाग्रपर ध्यान लगाकर गन्धकी भावना करो । बिना बाह्य विषयके नाना प्रकारकी सुगन्धि आने लगेगी । गन्धतन्मात्राकार वृत्ति हो जायगी । विषय-चिन्तन छूट जायगा और गन्ध संवित् होने लगेगी । तब मन स्थूल पदार्थमें भटकने नहीं जायगा ।

तुम्हारे मनकी आसक्ति स्वादमें—रसमें बहुत है तो जिह्वाग्रपर मन एकाग्र करके रसकी भावना करो; रसकी संवित् होने लगेगी । स्थूल पदार्थसे रस लेना आवश्यक नहीं रह जायगा ।

इसी प्रकार तालुमूलमें मन एकाग्र करनेसे रूपकी संवित् होती है—नाना प्रकारके रूप दीखते हैं । जिह्वाके मध्यमें मन एकाग्र करनेसे स्पर्शकी संवित् होती है । जिह्वा मूलमें ध्यान करनेसे शब्दकी संवित् होती है ।

इस रीतिसे बिना संसारके विषयके—बाह्य वस्तु या व्यक्तिका आश्रय लिये बिना मनको गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द, रूपमें मनको निमग्न कर दे सकते हो।

योग-दर्शनके ऊपर उद्धृत सूत्रके भाष्यमें भगवान् व्यास कहते हैं : 'शास्त्रोंसे, आचार्य-सत्पुरुषोंके कथनसे, अनुमानादि प्रमाणोंसे यह बात सिद्ध है कि विचित्र-विचित्र लोक हैं और उनमें विचित्र-विचित्र दृश्य, विचित्र-विचित्र भोग हैं; किन्तु उनका कभी अनुभव न हो तो केवल सुनकर ही विश्वास करनेसे विश्वासमें दृढ़ता नहीं आती' इसलिए हम यह अभ्यास बतलाते हैं। इनमेंसे कोई अभ्यास करो तो गन्धलोक, शब्दलोक, स्पर्शलोक, रसलोक, रूपलोकमें तुम्हारा प्रवेश हो जायगा। वहाँ ऐसे-ऐसे विचित्र अनुभव होंगे कि फिर तो तुम्हारे मनको कैवल्य पर्यन्त शास्त्रोंकी समस्त बातोंपर विश्वास हो जायगा।'

‘विशोका वा ज्योतिष्मती ।’

हृदयमें हृदयाकाश है। उसमें जो सूक्ष्म बुद्धि-भूमि है, वह ज्योतिर्मयी है। उसमें किसी प्रकारका शोक नहीं है। उस आकाशसे भी सूक्ष्म ज्योतिर्मयी भूमिका चिन्तन करो तो ‘मनसः स्थितिनिबन्धिनी’ वहाँ ऐसे-ऐसे दृश्य—ऐसे-ऐसे अनुभव होंगे कि मनको बाहर आनेकी आवश्यकता नहीं होगी।

‘इन्द्रियार्थेषु वैराग्यं’ मनके निग्रह—‘आत्मविनिग्रह’के लिए बतलाया अभ्यास और वैराग्य। इनमें अभ्यासका अर्थ है दुहराना। किसी बातको बार-बार दुहरानेसे वह स्वभाव बन जाती है।

मेरे एक मित्र थे। उनका अभ्यास था अंगुलियोंपर नाम-जप करनेका। उनका अंगूठा अंगुलियोंपर चलता रहता था। उस समय वे कानूनगो थे। सन् १९३१ की बात है। उस समय जन-गणना होनी थी, किन्तु कांग्रेसने जन-गणनाका बहिष्कार कर रखा था। हम सबने घरोंपर पड़े जनगणनाके अङ्क मिटा दिये थे। डिप्टी कलेक्टर जाँच करने निकले और उनके साथ वे भी आये। उनका मन हमारे घरपर जाँच करनेका नहीं था। दोनों सरकारी अधिकारी घोड़ोंपर चढ़कर आये थे। सहसा मेरे उन मित्रका घोड़ा पिछले दो पैरोंपर खड़ा हो गया। वे गिर पड़े और तत्काल कूदकर फिर घोड़ेपर चढ़ गये; किन्तु उनके सिरमें चोट लगी थी—लौट पड़े। दो मील दूर अपने निवासपर गये। डिप्टी कलेक्टर भी लौटे और मैं भी साथ गया। वे मित्र मूर्छित हो गये—कई घंटे मूर्छित रहे। मूर्छामें उनका शरीर पलंगसे एक फुट उछलता था और उनके मुखसे उच्च स्वरसे निकलता था : ‘हरिः ॐ ।’

अभ्यास होनेपर बिना कर्तापिनके क्रियाकी स्वाभाविक धारा बहने लगती है। देखो—समाधि कौन लगाता है? द्रष्टा समाधि कर नहीं सकता; क्योंकि द्रष्टा तो समाधिका द्रष्टा है और कर्ताका समाधिमें निरोध हो जाता है। यदि कर्ता रह जाय तो समाधि ही नहीं होगी। योगाचार्य कहते हैं : ‘पहली अवस्थामें कर्ता अभ्यास करता है। यम-नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तो कर्ता ही करता है। इससे जब मनका प्रतिलोम (अन्तर्मुख) परिणाम

प्रारम्भ हो जाता है, तब मनको एक धक्का अन्तर्मुख होनेके लिए देकर कर्ता स्वयं मनकी गाड़ीपर बैठ जाता है। इस प्रकार मनके साथ ही कर्ताका भी निरोध हो जाता है। मनकी अन्तर्मुख धारा प्रवृत्त करनेके लिए कर्ताकी आवश्यकता है। धारा प्रारम्भ हो जानेपर तो अभ्यास अपने आप चलेगा और समाधि लग जायेगी।

अभ्यास मनका शृङ्गार है। कोई कहता है कि—‘अभ्यास आवश्यक नहीं है’ तो वह कहता है : ‘शरीरमें साबुन लगानेकी, स्नान करनेकी अर्थात् शरीरको स्वच्छ करनेकी आवश्यकता नहीं है।’ जैसे बाल बनवाने, नख काटने, शरीरको स्वच्छ रखनेकी आवश्यकता है, वैसे ही मनको भी स्वच्छ करने, सजानेकी आवश्यकता है।

‘इन्द्रियार्थेषु वैराग्यं’—विवेकका ही नाम वैराग्य है। भगवान् व्यासने अपने योगदर्शन-भाष्यमें वैराग्यका हेतु बतलाया प्रसंख्यान, अर्थात् गिन लो कि इस वस्तु या क्रियामें कितना-कितना गुण है और कितना-कितना दोष है। कोई विषय हो तो उसके दोनों पहलू पृथक्-पृथक् लिखो, कि इसके सेवनमें इतने गुण हैं, इतने दोष हैं। फिर उनकी तुलना करके देखो कि गुण अधिक हैं या दोष। वैराग्य विषय है। वैराग्य करना या नहीं करना, यह संशय है। नहीं करना, यह पूर्व पक्ष है और करना यह उत्तर पक्ष है। करना ही चाहिए, यह निर्णय है। इसे शास्त्रकी भाषामें अधिकरण कहते हैं।

‘इन्द्रियार्थेषु वैराग्यं’—‘इन्द्रियैः अर्थ्यन्त इति इन्द्रियार्थाः विषयाः तेषु वैराग्यं’। इन्द्रियाँ जिनको पाना चाहती हैं, इन्द्रियोंके जो प्राप्य हैं, वे विषय, अर्थात् जिन्हें हम देखते, सुनते, खाते, छूते, सूँघते हैं, इन शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धमें वैराग्य होना चाहिए।

(इन्द्रियोंके विषयोंका बलपूर्वक त्याग—काष्ठ वैराग्य नहीं चाहिए) एक महात्माने नियम किया—कोई स्त्री छू जाय तो एक दिन निराहार रहेंगे। एक दिन एक वृद्धा आयी और उसने उन्हें देखकर कहा : ‘अरे वेटा ! तू साधु है ?’ और उसने उनके पैर छू लिये। उन महात्माने उस दिन उपवास किया। ऐसा विचार-रहित नियम नहीं लेना चाहिए।

वैराग्यके मूलमें गुण-दोषका विवेक है। वैराग्यका अर्थ घृणा नहीं है। वैराग्य द्वेष, पश्चात्ताप, ग्लानि या अदर्शन भी नहीं है। वैराग्यका अर्थ है—प्रसंख्यानजन्या हेयोपादेयशून्या प्रज्ञा। जिस विषयसे वैराग्य हो वह, यह त्याज्य या यह ग्राह्य इस किसी रूपमें बुद्धिमें न आये। ‘यह छोड़ना है, यह छोड़ना है’ इस रूपमें भी वह बुद्धिमें न आये।

एक सज्जन एक महात्माके समीप गये और प्रार्थना की : ‘कोई ऐसा मन्त्र बतलानेकी कृपा करें, जिससे शीघ्र सिद्धि मिल जाय।’

महात्माने मन्त्र बतलाकर कहा : ‘इसके जपसे सिद्धि तो शीघ्र मिल जायेगी; किन्तु जपके समय वन्दरकी स्मृति नहीं होनी चाहिए।’

अब जब वे जप करने बैठें तो बन्दर ही स्मृतिमें आजायें। इस प्रकार 'त्याज्य रूपमें' भी विषय मनमें नहीं आना चाहिए। विषयका त्याग करनेके लिए भी वृत्ति विषयाकार बनी तो वह वैराग्य नहीं है। हम विवेकसे इस निश्चय पर पहुँचें कि यह वस्तु न चाहने योग्य है, न नष्ट करने या हटाने योग्य। वस्तुके प्रति ऐसा उपेक्षाभाव कि वह निर्मूल्य हो जाय, इसका नाम वैराग्य है।

योगदर्शनमें वैराग्यकी पहले चार दशाएँ कही गयी हैं और इसे अपर वैराग्य बतलाया गया है :

‘दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञावैराग्यम् ।’

‘दृष्टविषयाः स्थित्यन्नपानैश्वर्यम् ।’

स्त्री-पुरुष, भोजन, पेय तथा ऐश्वर्य—धन, भवन, पद आदि दृष्ट विषय हैं। ये देखे जाते हैं। इनका सुख-भोग संसारमें प्रत्यक्ष अनुभवमें आता है :

‘आनुश्रविकविषयाः स्वर्गादिः ।’

मरनेपर स्वर्ग मिलेगा। प्रकृतिपर आधिपत्य हो जायगा। सिद्धियाँ प्राप्त होंगी, इस प्रकार सुने हुए और श्रद्धासे माने हुए विषय आनुश्रविक विषय हैं। ये शास्त्रके द्वारा जाने जाते हैं।

‘विषीयन्ते जना एभिरिति विषयाः ।’

इन दृष्ट और आनुश्रविक विषयोंको विषय इसलिए कहते हैं कि इनके द्वारा लोग बाँध लिये जाते हैं। कुत्तेको प्रतिदिन रोटी देने लगे तो वह तुम्हारे घरमें बिना बाँधे ही बँध जायेगा। मनको जहाँ सुख मिलता है, वहीं वह घूम-फिरकर जाता है, वही बँध जाता है।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि मनमें बुराई—मल आना स्वाभाविक है या आगन्तुक ? मन न तो तामस अहंकारका कार्य जड़ द्रव्य है और न अपने नित्य स्वभाव चंचलता के कारण वह राजस अहंकारका कार्य ही है। मन वैकारिक अहंकारकी सात्त्विक पञ्चतन्मात्रासे बना है। अतएव मनमें वासना आगन्तुक होती है। मन जब रजोगुण या तमोगुणसे अनुविद्ध होता है, तब उसमें दुर्वासनाका प्रवेश होता है।

जैसे नेत्र रूपको दिखलाते हैं; किन्तु अच्छे-बुरे रूपका नियन्त्रण नहीं करते कि अच्छा दीखे बुरा न दीखे, वैसे ही मन भी शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धको दिखलाता है, इनपर नियन्त्रण नहीं करता।

मनमें वस्तु या व्यक्ति स्फुरित होते हैं। उनमें राग या द्वेष तो पूर्वानुभवको स्मरण करके होता है। कभी मित्रको देखकर भी दुःख होता है और कभी-कभी शत्रुको देखकर भी सुख होता है। पिछले सुखोंका स्मरण करके उसके प्रति मनके बन्धनका नाम राग है और पिछले दुःखोंका स्मरण करके उसे जला देनेकी वृत्तिका नाम द्वेष है। राग-द्वेष दोनों विषयके सम्बन्धके कारण मनमें आते हैं। यह मनकी अनुकूलता-प्रतिकूलता स्वाभाविक नहीं है, आभ्यासिक है।

अपर वैराग्यकी चार प्रकारकी वृत्तियाँ मानी जाती हैं : १. यतमान, २. व्यतिरेक, ३. एकेन्द्रिय और ४. वशीकार ।

१. यतमान—वैराग्यके लिए प्रयत्नशील होना । यह समझ लेना कि अपने मनमें अमुक-अमुक विषयोंमें राग तथा अमुक-अमुक विषयोंसे द्वेष हैं । इस राग-द्वेषके कारण ईश्वरका चिन्तन छूट जाता है । अतः इन विषयोंसे राग-द्वेष छोड़ देना चाहिए । यह समझकर मनमें संकल्प किया जाय : 'हम संसारके विषयमें राग-द्वेष नहीं करेंगे । हम किसी व्यक्ति, वस्तु, स्थान, स्थितिसे राग-द्वेष नहीं करेंगे ।' वैराग्यका यहाँसे प्रयत्न प्रारम्भ हो गया । इसे यतमान वैराग्य कहते हैं ।

२. व्यतिरेक—अब यह निरीक्षण करना कि मनमें किन-किन विषयोंका राग-द्वेष मिट गया और किन-किनमें कितना राग-द्वेष अभी शेष है । इस प्रकार आत्मनिरीक्षण करनेका नाम व्यतिरेक वैराग्य है ।

३. एकेन्द्रिय—मनमें विषय-प्राप्तिकी उत्सुकता होनेपर भी विषयोंमें इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति न होना । मनमें तो कभी-कभी वासनाएँ आती हैं; किन्तु वे मन तक ही रह जाती हैं । इन्द्रियाँ अपने वशमें हो गयी हैं । इसका नाम एकेन्द्रिय वैराग्य है ।

४. वशीकार—मनमें किसी भी विषयकी प्राप्तिके लिए उत्सुकता न होना, यह वशीकार वैराग्य है :

‘दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य ।’

वितृष्णा—तृष्णाका त्याग ही इष्ट है । वैराग्य नामक किसी नवीन वृत्तिका उदय इष्ट नहीं है । योगमें प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, और स्मृति—इन पाँचों क्लिष्ट-अक्लिष्ट वृत्तियोंका निरोध किया जाता है । इस निरोधके द्वारा—

‘अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशः पञ्च क्लेशाः ।’

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—इन पाँचों क्लेशोंको मिटाया जाता है । यदि वैराग्य कोई वृत्ति होती तो चित्तवृत्ति-निरोधमें उसका भी निरोध हो जाता, क्योंकि चित्तवृत्ति-निरोधसे द्रष्टाके स्वरूपमें अवस्थानके लिए उसका भी निरोध आवश्यक होता । लेकिन राग-द्वेषका निरोध करना पड़ता है, वैराग्यका नहीं । इसका अर्थ है, वैराग्य स्वयंमें कोई वृत्ति नहीं है ।

ये यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय और वशीकार—चारों प्रकारके वैराग्य अपर-वैराग्य हैं । इनका तत्त्वज्ञानमें उपयोग है । संसारकी ओर मन न जाय और हम परम तत्त्वका विचार करें, यह इनका प्रयोजन है :

‘तत्परं पुरुषख्यातेः गुणवैतृण्यम् ।’

सत्त्वान्यथाख्याति हो जाय, यह पर-वैराग्य है । न मैं हूँ-न देह, इन्द्रिय और अन्तःकरण मेरे हैं । मैं इनका द्रष्टा हूँ । अपने स्वरूपका (‘त्वं’ पदार्थका)

ठीक-ठीक ज्ञान हो जाय, प्रकृति एवं प्रकृतिके कार्यसे विविक्त द्रष्टा पृथक् होनेसे गुणोंमें वितृष्ण हो जाना—यह पर वैराग्य है ।

गुणवैतृष्य—चाहे सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणमेंसे कोई गुण आये या जाय—न यह इच्छा कि 'यह गुण बना रहे' और न यह इच्छा कि 'यह गुण क्यों आया—चला जाय :'

‘प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥’

—गीता १४।२२

अर्जुन ! गुणातीत पुरुष प्रकाश (सत्त्वगुण), प्रवृत्ति (रजोगुण) अथवा मोह (तमोगुण) के आनेपर उनसे द्वेष नहीं करता और उनके चले जानेपर वे आयें, ऐसी आकांक्षा भी नहीं करता ।

दृश्यके किसी विकार या परिणामके होने या न होनेसे द्रष्टाका कोई सम्बन्ध नहीं है । इस प्रकार अन्तःकरणसे अपने स्वरूपको पृथक् अनुभव करना पर-वैराग्य है । इसमें द्रष्टा अपने स्वरूपमें स्थित हो गया ।

वेदान्त कहता है : 'पृथक्-पृथक् शरीरोंमें द्रष्टा पृथक्-पृथक् नहीं है । इस द्रष्टासे पृथक् कोई पुरुष-विशेष नहीं है ।' इस प्रकार अद्वैत वेदान्त द्रष्टाके अनेकत्वका और पुरुषविशेषके अन्यत्वका निषेध करता है ।

पुराणोंमें वैराग्यका वर्णन बहुत है और बड़ा मार्मिक है :

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं चित्ते नृपालाद् भयं
दाने दैन्यभयं बले रिपुभयं रूपे जराया भयम् ।
शास्त्रे वादिभयं गुणे खलभयं काये कृतान्ताद् भयं
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम् ॥

भोग भोगनेमें लगे तो रोग होनेका भय रहता है; क्योंकि भोगसे देहमें क्षीणता एवं विकृति आती है । उच्चकुलका अभिमान करो तो उसमें जातिच्युति का भय रहता है । पासमें धन हो तो राज्य-प्रशासन द्वारा 'कर' लगने तथा चन्दा लिये जानेका भय रहता है । दानमें दैन्यका, बलमें शत्रुका, रूपमें वृद्धताका, शास्त्रमें विवादका, शरीरमें मृत्युका भय—यहाँ तक कि सभी वस्तुएँ भयसे आक्रान्त हैं, केवल वैराग्य ही भयरहित है ।

‘श्रान्तं देशमनेकदुर्गविषमं प्राप्तं न किञ्चित् फलं’
त्यक्तं जातिकुलाभिमानमुचितं सेवा कृता निष्फला ।
भुक्तं मानविवर्जितं परगृहे साशङ्कया काकवत्
तृष्णे वैरिणि पापकर्मनिरते नाद्यापि सन्तुष्यसि ॥’

अनेक देशोंमें, वीहड़ प्रदेशोंमें, भटकता फिरा, किन्तु इससे कोई सफलता नहीं मिली । जाति और उच्च कुलके अभिमान तथा सुखका त्याग करके दूसरोंकी सेवा की; किन्तु वह भी निष्फल गयी । मानहीन होकर कौवेके समान

डरते-डरते दूसरोंके घर भोजन करना पड़ा। इतने पर भी अरी पापिष्ठे ! शत्रु नृपणो ! तू अब भी सन्तुष्ट नहीं हो रही है।

वेदान्तकी दृष्टिसे वैराग्यका स्वरूप योगमें वर्णित वैराग्यसे कुछ भिन्न है। वेदान्तका मुख्य लक्ष्य है यह ज्ञान कि आत्मा सच्चिदानन्द तथा अद्वितीय है। इस दृष्टिसे दृष्ट-श्रुत समस्त प्रपञ्च असत् है। असत्में राग या द्वेष दोनों व्यर्थ हैं। वन्ध्यापुत्रसे प्रेम या द्वेष दोनों अर्थहीन हैं। सीपमें प्रतीत होती चाँदीके न ग्रहणका महत्त्व है, न त्यागका।

वैराग्यका अर्थ है—अधिष्ठान ज्ञानसे, मिथ्यारूपसे प्रतीयमान वस्तुके प्रति उपेक्षा। हेयोपादेय-हीन वृत्ति वैराग्य है। जो वस्तु त्यागके योग्य है, वह हेय है। जो वस्तु ग्रहणके योग्य है, वह उपादेय है : संसार न त्यागके योग्य है, न ग्रहणके योग्य।

संसारमें कुछ स्थिर नहीं है। जो कुछ यहाँ है—जानेवाला है। असत् पदार्थमें सुख की कल्पना रागका, और दुःखकी कल्पना द्वेषका मूल है। जो वस्तु ही असत् है, उसमें सुख या दुःखकी कल्पनाकी कारणता क्या ?

‘विषय सब सदोष हैं, अनित्य हैं, परिवर्तनशील हैं। आजका यौवन ही कलका बुढ़ापा है।’ यह युक्ति विषयी पुरुषोंको प्रिय नहीं लगती। वे कहते हैं—‘यौवन चार दिनका है। डटकर भोग करलो। फिर यह युवावस्था कहाँ मिलनेवाली है ?’

संसारके विषय स्वयं सुख नहीं देते। जिसके मनमें वासना है, उसीको वे सुख देते हैं। वासनाहीनको उनसे कोई सुख नहीं होता। ये वासनाकी उपाधिसे सुख देते हैं। चित्त जब एक विशेष नशेमें—आवेगमें आता है, तब विषयमें सुख प्रतीत होता है। इस प्रकार विषयमें सुख बालकको, अज्ञानीको—ठीक कहो तो अन्तःकरणके रोगी—विकारवान् अन्तःकरणवालेको, मिलता है। विरक्तको, समाधिस्थको—स्वस्थ-निर्विकार अन्तःकरणवालेको विषयमें सुख नहीं मिलता।

विषय न सुख रूप हैं, न सुखके प्रकाशक हैं। जैसे पाण्डुरोग होनेपर सब पदार्थ पीले दीखते हैं, उसी प्रकार वासनावान्को विषयमें सुख भासने लगता है। विषय परिवर्तनशील हैं। वे इन्द्रियोंकी अपेक्षासे प्रकाशित होते हैं। उनमें सुख हमारी वासनाकी अपेक्षासे मिलता है। उनका अभ्यास हो जानेपर जीवनमें अत्यन्त पराधीनता आ जाती है। अतएव विषय केवल जीवन-निर्वाहके लिए अपेक्षित हैं। जितना वस्त्र, जितना जल, जितना भोजन जीवन-निर्वाहके लिए अपेक्षित है, उतना तो ठीक है; किन्तु इन विषयोंसे राग या द्वेष करके अपने हृदयको बिगाड़ लेना ठीक नहीं है।

वैराग्यका अर्थ है कि विषयोंमें हेयोपादेयबुद्धि न हो। इनकी प्रतीति तो इन्द्रियोंके कारण होती है। विषय असत्, अनित्य और परिवर्तनशील हैं। इनमें सौन्दर्य-माधुर्यकी प्रतीति तो हमारी इन्द्रियोंके कारण होती है, हमारी वासनासे आरोपित है। ये हमें सुख नहीं देते। हम वासनासे विवश होकर इनमें सुखकी

कल्पना करते हैं। इस रीतिसे हम स्वयं इन विषयोंके पराधीन हो जाते हैं। अपना स्वातन्त्र्य खो देते हैं। विषयोंमें न आनन्द है, न सच्चा जीवन है और न अपने बिना इनका अस्तित्व ही है।

हमारी इन्द्रियोंकी शक्ति सीमित है। जो मर्यादामें रहकर विषय-सेवन करता है, वह दीर्घजीवी और स्वस्थ रहता है। उसकी इन्द्रियोंकी शक्ति बनी रहती है। जो निर्मर्याद होकर विषय-सेवन करता है, उसकी इन्द्रियोंकी शक्ति शीघ्र नष्ट हो जाती है। स्वभावसे इन्द्रियाँ शक्ति-ह्रासकी ओर जाती हैं। यदि इन्हें क्रियाशील भी रखें और ठीक विश्राम भी देते रहें तो ये ठीक-ठीक काम देती हैं। अधिक काम लेनेपर यह यन्त्र बिगड़ जाता है।

मनकी रुचि विषयोंमें एक-सी नहीं रहती। विषयोंमें, इन्द्रियोंमें और रुचिमें भी परिवर्तन होता रहता है। शरीर एक-सा नहीं रहता। संसारमें भोग नामकी वस्तु केवल ज्ञान है। जिह्वापर पदार्थ रखा तो केवल ज्ञान हुआ कि यह खट्टा, मीठा या चरपरा है। इस ज्ञानके अतिरिक्त भोगका और कोई रूप नहीं है। एक वस्त्र मूल्यवान् है। उसे उत्साहसे खरीदा, पहना; किन्तु कुछ देरमें भूल गये कि वह शरीर पर है तो उसका कोई सुख है। इसी प्रकार रूप, रस, स्पर्श, गन्धादिका ज्ञान ही भोग है। जहाँ पहलेसे अनुकूलताकी कल्पना है, वहाँ सुखाकार ज्ञान होता है। जहाँ पहलेसे प्रतिकूलताकी कल्पना है, वहाँ दुःखाकार ज्ञान होता है। जिन्हें पहलेसे कोई कल्पना नहीं है, उन्हें कोई ज्ञान नहीं होता। जिस मिठाईको खाकर भारतीय प्रसन्न होते हैं, योरोपियन उसे खाकर मीठेकी अधिकतासे कष्टानुभव करते हैं।

‘भोगमनुविवर्धन्ते रागास्तेषां कौशलाश्च ।’

विषयोंका जितना सेवन करो, उनमें उतना ही राग बढ़ता जाता है और विषय-सेवनकी निपुणता बढ़ती जाती है। इसका अर्थ है कि चित्तका रोग बढ़ता जाता है और शरीर-इन्द्रियोंकी ह्रासोन्मुख गति बढ़ती जाती है।

नानुपहत्य भूतानि भोगः सम्भवति ।

भोगकी उपलब्धिमें अवश्य कहीं-न-कहीं प्राणियोंकी हिंसा होगी। प्राणियोंको पीड़ा दिये बिना भोगकी उपलब्धि सम्भव नहीं है।

योगी कहते हैं—‘नेत्र बन्द करके, ध्यान मात्रसे विश्वमें जहाँ जिस लोकमें जो भी भोग हैं, उनका तुम वैसा ही अनुभव कर सकते हो, जैसा उस लोकका व्यक्ति वहाँ इन्द्रिय एवं वस्तु-संयोगसे करता है।’ इसमें विषयकी पराधीनता सर्वथा नहीं है।

धर्मात्मा लोग कहते हैं—‘अथर्वकी क्रिया और भोग त्याग दो। अर्थात् वासना-वर्धक क्रिया तथा वासनावर्धक भोग, फिर वासना-वर्धनसे जो क्रिया और उससे जो भोग हैं इन सबसे बचो। मर्यादामें जीवन व्यतीत करो।’

भक्त कहते हैं—‘अपने मनको और अपनी वासनाको भगवान्से जोड़ दो। भगवान् के ही रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्शक। अनुभव करो।’

वेदान्त कहता है—‘सदा कल्पनाका जीवन व्यतीत करना या सदा कल्पना-हीन जीवन व्यतीत करना शक्य नहीं है। जिस अधिष्ठानमें ये कल्पनाएँ उठती हैं वह अधिष्ठान वस्तु सत्, स्वयं प्रकाश और परमानन्द अपना आत्मा है। यह अद्वितीय है। इसीमें कल्पनाएँ स्फुरित होती हैं। अतः कल्पनाएँ स्फुरित हों या स्फुरित न हों, इसका कुछ विगड़ता नहीं। तुम कल्पनाकी चिन्ता मत करो। जीवनकी समस्त परिस्थितियोंमें स्वयंप्रकाश, परमानन्दकी अनुभूति ही स्वरूप-स्थिति है। इस स्वरूप-स्थितिके कारण अन्यरूपसे विद्यमान कल्पित या अकल्पित स्थितियोंके प्रति जो उपेक्षा है, उसे वैराग्य कहते हैं।’ इसके अनुसार वैराग्यका अर्थ है, अपनी स्वरूप-स्थितिमें सहायक स्थिति।

लोकमें वैराग्यका अर्थ बहुत भ्रान्त है। लोग तो बहुत स्थूलदर्शी होते हैं। वे किसीको जटाधारी या नग्न देखते हैं तो उसे वैराग्यवान् समझ लेते हैं। लेकिन यह वेश सदा वैराग्यका ही सूचक नहीं होता। भोग सामग्री—धन एकत्र करनेके लिए भी लोग जटा रखते, नग्न रहते देखे जाते हैं। वस्तुतः वैराग्य दूसरेमें देखनेके लिए नहीं है, अपनेमें धारण करनेके लिए है। मुझे वचपनमें भर्तृहरिके वैराग्यशतकके श्लोक कण्ठ थे। मैं उन्हें उच्च स्वरसे बोलता था। उनमें मुझे बड़ा आनन्द आता था। कुछ श्लोक अब भी स्मरण हैं। देखिये, विचार-विवेक कैसे मन्दमन्थर गतिसे हृदयमें संचार कर रहा है—

‘अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वाऽपि विषयाः

विद्योगे को भेदस्त्यजति न मनो यत्स्वयममून ।

व्रजन्तः स्वातन्त्र्यादतुलपरितापाय मनसः,

स्वयं त्यक्ता ह्येते शमसुखमनन्तं विदधति ॥’

ये विषय—ये संसारके भोग बहुत दिन पास रहें तो भी अवश्य जानेवाले हैं। कितना भी प्रयत्न करो, ये स्थिर होकर रहनेवाले हैं नहीं। लेकिन यदि ये अपनी स्वतन्त्रतासे चले गये तो मनको अतुलनीय संताप देंगे और यदि स्वयं इनका त्याग कर दिया जाय तो यह त्याग अनन्त एकरस सुख देनेवाला हो जायगा।

वच्चा मातासे प्रेम करता है पर कब तक ? जब तक वह बड़ा न हो जाय और वहू न आ जाय। वहू से भी प्रेम वह कब तक करेगा ? जब तक बूढ़ा न हो जाय, उसके वच्चे न हो जायँ और वहूका सौन्दर्य बना रहे। विषय तो जायँगे ही। उनमें स्थिर प्रीति कभी सम्भव नहीं है।

एक बार मैं काशीमें, विश्वनाथजीके दर्शन करने गया। उस समय मेरी जेबमें कुल तीन पैसे थे। विश्वनाथ मंदिरकी भीड़-भाड़में जेब कट गयी। बाहर आकर पता लगा तो मनमें बड़ा कष्ट हुआ।

एक बार मैं काशीसे रामनगर रामलीला देखने गया था। मेरे पास कुल पाँच आने पैसे थे। सोचा था कि कुछ लेकर लौटेंगे। वे पैसे मेलेकी भीड़में किसीने निकाल लिये। लौटनेके लिए गंगापार करनेके लिए दो पैसे नौकावालेको देना

ब्रह्मज्ञान और उसकी साधना]

आवश्यक था। मैं घूमकर राजघाट होकर दसमील पैदल चलकर लौटा। इस बार भी मनको बड़ा कष्ट हुआ, पैसोंके जानेका।

एक बार मेरे पास कुल दस पैसे थे। मैंने सबके सब एक व्यक्तिको दे दिये। इससे मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई।

अपने मनसे त्याग किया जाय तो प्रसन्नता होती है और विवशतासे छोड़ना पड़ता है—छूट जाता है तो बहुत दुःख होता है। भोग छूटेंगे ही, रह तो सकते नहीं, तब उन्हें स्वेच्छासे त्याग दो। अन्यथा विवशतासे संसार छोड़ना होगा तो तुम्हें बड़ा कष्ट होगा।

‘आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवितं
प्रत्यायान्ति पुनर्गता न दिवसाः कालो जगद्भक्षकः।
दृष्ट्वा जन्मजराविपत्तिमरणं त्रासश्च नोत्पद्यते
पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत् ॥’

सूर्यके उदय-अस्त होनेके साथ प्रतिदिन आयु घटती जा रही है। जो दिन बीत जाता है, वह फिर लौटता नहीं। इसी क्रमसे यह काल समस्त जगत्को खानेवाला है। जगत्के सब लोग मोहमयी प्रमादरूपिणी मदिराको पीकर उन्मत्त हो रहे हैं।

‘वयं येभ्यो जाताः क्षिरपरिगता एव खलु ते
समं यैः संवृद्धाः स्मरणपद्वीं तेऽपि गमिताः।
इदानीमेते स्मः प्रतिदिवसमासन्नपतना
गतास्तुल्यावस्थां सिद्धतिलनदीतीरतरुभिः ॥’

हम जिन माता-पितासे उत्पन्न हुए, उनके परलोकवासी हुए तो बहुत दिन बीत गये। जिनके साथ हम बड़े, वे समवयस्क भी स्मृतिके विषय बन चुके हैं (अब इस लोकमें नहीं हैं)। अब यह हम कि प्रतिदिन अब गिरे, अब गिरे, इस प्रकार उस वृक्षके समान हैं जो रेतीले नदी तट पर उगा हो और नदी उस तटको काट रही हो।

पतन आसन्न है; किन्तु न जाने क्यों हम भोग, संग्रह और परोत्पीडनमें लगे हैं। हम केवल संग्रहमें लगे हैं; किन्तु जीवनमें त्याग भी तो चाहिए। तुम्हारे अर्थशास्त्रमें संग्रह तो है; किन्तु वितरण नहीं है। यदि वितरण तुम्हें नहीं आता तो तुम्हारा सब जीवन—सम्पूर्ण श्रम अन्तमें व्यर्थ हो जायगा। पैसा तुम्हारे किसी काममें नहीं लगेगा।

मुझे पूरा वैराग्यशक्त कण्ठस्थ था। एकान्तमें बैठकर उच्चस्वरसे बोलता था :

‘गंगातीरे हिमगिरिशिलावद्धपद्मासनस्य
ब्रह्मध्यानाभ्यसनविधिना योगनिद्रां गतस्य।
किन्तैर्भाव्यं मम सुदिवसैर्यज्ञ ते निर्विशङ्काः
सम्प्राप्स्यन्ते जरटहरिणाः शृङ्गकण्डूविनोदम् ॥’

मेरे वे सौभाग्यपूर्ण दिन कब होंगे जब मैं गंगाके किनारे हिमालयकी शिलापर पद्मासन लगाकर ब्रह्मचिन्तन करता हुआ ऐसी योगनिद्रामें मग्न होऊँगा कि वृद्ध-अनुभवी मृग भी शंकाहीन होकर मेरे शरीरसे अपनी सींगकी खुजली मिटा लिया करेंगे।

‘भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता—

स्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।

कालो न यातो वयमेव याताः

तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः ॥’

हमने भोग नहीं भोगे, भोगोंने ही हमें भोग लिया। चने समाप्त नहीं हुए, दौत ही समाप्त हो गये। अन्न नहीं घटा, आँतोंकी शक्ति घट गयी। हमने चीनी नहीं खायी चीनीने हमें खा लिया (मधुमेह देकर)। हमने तप नहीं तपा, तपने हमें संतप्त कर दिया। काल नहीं गया, काल तो अब भी वैसा ही है, हम ही चलनेवाले हो गये। तृष्णा क्षीण नहीं हुई हम बुढ़े हो गये।

इस प्रकार संसारके गुण-दोषका अनुसन्धान करके तथा इससे होनेवाले राग-द्वेषका अनुसन्धान करके इस बहती धारासे अपनेको पृथक् कर लेना, इससे न राग करना, न द्वेष करना। आकाशकी नीलीमासे जो अपने वस्त्र रँगना चाहे वह मूर्ख और जो उसे धोना चाहे वह भी मूर्ख।

‘इन्द्रियार्थेषु वैराग्यं’—वासनानुसार कर्म या भोग बननेके लिए हमें जो करण प्राप्त होते हैं, उन्हें इन्द्रिय कहते हैं। ये इन्द्रियाँ जिन्हें चाहती हैं वे इन्द्रियार्थ हैं।

“यन्ति इत्यर्थाः—इण् गतौ-यन्ति=गच्छन्ति”

जो इन्द्रियोंके द्वारा चाहे जाते हैं और चलते रहते हैं। इनमें वैराग्य रहे*। इस वैराग्यमें जो ‘राग’ शब्द है, वह द्वेषका भी उपलक्षण है। किसी वस्तु या व्यक्तिसे राग, द्वेष, मोह, घृणा, असूया, ईर्ष्या न हो। अपने मनको दूसरेके आकारमें रोक रखनेवाली कोई वृत्ति न हो। दर्पणमें जो प्रतिबिम्ब आया—आ गया, चला गया—चला गया। क्या आये, यह चाह नहीं। क्या न आये या चला जाय, यह इच्छा नहीं। मन स्वच्छ, निर्मल रहे, ऐसा वैराग्य ज्ञान है। इसके विपरीत अवस्था अज्ञान है। संन्यासीका यही जीवन है :

‘आगतं स्वागतं कुर्याद् गच्छन्तं न निवारयेत्।’

अपने समीप या अपने अन्तःकरणमें जो आया—उसका स्वागत करे। जो जाने लगा, उसे मना न करे कि यह व्यक्ति, वस्तु या स्थिति और बनी रहे।

‘आगच्छ गच्छ तिष्ठेति स्वागतं सुहृदोऽपि वा।

सम्मानं च न कुर्याद्यतिर्धर्मपरायणः ॥’

अपने संन्यास धर्ममें परायण जो यति है उसे चाहे उसका सुहृद ही हो किसीके लिए भी—‘आइये ! आइये !’ अथवा ‘चले जाओ !’ ‘अभी और एक-दो दिन रुकिए’, ‘आपका स्वागत है।’ इस प्रकार नहीं कहना चाहिए और न किसीका सम्मान-सत्कार करना चाहिए।

चित्त दर्पणके समान स्वच्छ, निर्लिप्त रहे—इसका नाम वैराग्य है। यह वैराग्य तब तक नहीं पूरा हो सकता जब तक अपने व्यक्तित्वका, अपनी विशेषताका अहंकार बना है। अतः कहा गया :

‘अनहंकारः’—पहले ‘अमानित्व’ आ चुका है, अतः इस ‘अनहंकार’ को अमानित्वसे पृथक् समझना होगा। अमानित्व और अनहंकार एक नहीं हैं।

अमानित्वका अर्थ है मानित्व न होना। मान अन्यायका धर्म है। देशका मान है शरीरका साढ़े तीन हाथ होना। कालका मान है ५०-६० वर्ष आयुके। वस्तुका मान सौ सवा सौ किलो। देश, काल और वस्तुका परिमाण अपनेमें धारण कर लेना—अपनेमें अन्य धर्म आरोपित कर लेना मान है। तुम देह नहीं हो, देश, काल और वस्तुसे परिच्छिन्न नहीं हो। तुमने दृश्यका धम द्रष्टा में आरोपित कर लिया, यह मानित्व हो गया। इसका निषेध करोगे तो अमानित्व होगा।

अनहंकारः—आत्माका धर्म अनात्मा में स्थापित कर देनेका नाम अहंकार है। जो अनहं है, उसे अहं करना अहंकार है। यह अभ्यासके दो पहलू हैं। अनात्माका धर्म आत्मा में आरोपित करना मानित्व और आत्माका धर्म अनात्मा में आरोपित करना अहंकार है।

‘हमारी जाति कितनी ऊँची, हमने इतने बड़े-बड़े कार्य किये, इस प्रकार शरीर-मन-बुद्धिके कार्योंको अपना मान लेना अहंकार है। श्रवण-मनन-निदिध्यासन भी तुम नहीं करते, यह शरीर-मन-बुद्धि हो करते हैं; किन्तु इसमें जब देह-मन आदि लगते हैं, तब ये ठीक मार्गपर हैं।

शरीर जीर्ण या रोगी हो गया तो व्याकुल भत बनो। यह जा रहा हो तो जाय। जैसे जब भवन गिरता है तब उसे छोड़कर पृथक् हो जाते हैं, वैसे ही देह भी घर है, यह गिरने लगे तो छोड़कर पृथक् हो जाओ।

अनहंकारः—दृश्यमें अपने आपको डाल देना अहंकार है। इस अहंकारका त्याग अनहंकार हुआ। संसारमें हंकार-हुंकार कुछ नहीं करना।

कुछ अहंकार स्थूल पदार्थोंको लेकर होता है—‘हमारे पास इतनी भूमि है।’ भूमि तो तुमसे पहले भी थी, आगे भी रहेगी। कदाचित् तुम भी रहो; किन्तु इस भूमिसे तुम्हारा सम्बन्ध भी बना रहेगा, यह बात निश्चित तो नहीं है। ‘भूमि मेरी है’, यह सम्बन्ध अज्ञानजन्य है। यही अहंकार है। यही अवस्था घन, भवन, स्त्री, पुत्र, परिवार-मित्रादिकी, पद-प्रतिष्ठाकी है।

जो वस्तु तुमसे जा सकती है, उसके कारण गर्व करना अज्ञान है। एक व्यक्ति दर्पणके सामने खड़ा होकर मूँछें ऐंठता है और सोचता है—‘मेरे समान बल किसीमें नहीं।’ यह मूँछोंमेंसे बल कहाँसे निकला ?

(हरिद्वारके एक घरमें कोई उत्सव था। दो-तीन सहस्र व्यक्तियोंके भोजनके लिए पूड़ियाँ बनायी गयी थीं। समय राशनगका था। सहसा पुलिस आ गयी। घरवालोंने सब पूड़ियाँ-आकादि गंगा में प्रवाहित कर दिया। संसारकी सब वस्तुएँ इसी प्रकार गङ्गा में प्रवाहित कर देने योग्य हैं। इनको लेकर गर्व करना व्यर्थ है—झूठा है।)

अध्यासके कारण जो 'मैं' की परिच्छिन्नता और श्रेष्ठता भास रही है, ये दोनों अहंकारपदवाच्य हैं। रुपये-पैसे, जाति-धर्म, पद-प्रतिष्ठा, रूप-बल, सेवक-परिवार, गुण-विद्या आदिकी विशेषतासे मनुष्यको मद—अहंकार होता है। जो अहं नहीं है, उसे उसने 'अहं' मान लिया। इस अहंकारको छोड़ देना अनहंकार है।

अहंकार स्थूल वस्तुओंसे और सूक्ष्म वस्तुओंसे तथा सुखभोगसे भी होता है। भवन-धन-परिवारको लेकर जो अहंकार होता है, वह स्थूलालम्बन अहंकार है। यह अस्मिताकी कोटिका है। उत्तम विचार 'हम बड़े विचारवान्', उत्तम सङ्कल्प—'हमारे संकल्प शुभ होते हैं या हमारा संकल्प सिद्ध हो जाता है', विद्या, गुण, जप, तपादि साधनका अहंकार सूक्ष्मालम्बन अहंकार है। 'हमें बड़ा सुख, बड़ी शान्ति है', यह आनन्दालम्बन अहंकार है। बाह्य विषयोंको छोड़कर जो आनन्द होता है, वह त्यागका आनन्द भी अहंकार ही है।

इसी प्रकार मनोराज्यका अहंकार होता है। शान्ति ही शान्ति है, आनन्दका स्फुरण भी नहीं है, 'मैं हूँ' इतनी ही स्फुरणा है,—यह तथा 'मैं केवल ज्ञानमात्र हूँ', द्रष्टामात्र हूँ, यह भी अहंकार है। यह अस्मितालम्बन अहंकार है। अभ्यास-साध्य अहं अथवा परिच्छिन्नरूपमें 'अहं'का स्फुरण भी अहंकार ही है। 'मैं क्या हूँ, कैसा हूँ' यह स्फुरण नहीं हो रहा है। अभाव नहीं है, अतः निद्रा नहीं। इसमें बीज विद्यमान है, अतः परिच्छिन्न 'अहं'का स्फुरण भी अहंकार ही है।

संसारमें दो प्रकारके पदार्थ हैं, एक प्राकृतिक और दूसरा जीवकृत। श्रीरामचरितमानसमें इनका सुन्दर वर्णन है। गोस्वामी तुलसीदासजीने दो प्रकारकी माया ही बतलायी है—

'गो गोचर जहँ लागि मन जाई ।

सो सब माया जानहु भाई ॥'

यह प्राकृतिक माया है और—

'मैं अरु मोर तोर तैं माया ।

जेहि वस कीन्हें जीव निकाया ॥'

श्रीवल्लभाचार्यजी कहते हैं : "एक संसार है और एक जगत् है। संसार मिथ्या है—प्रातीतिक है। यह पदार्थों—व्यक्तियोंमें 'मैं—मेरा' भाव है। जगत् है। संसार मिथ्या है—प्रातीतिक है। यह पदार्थों—व्यक्तियोंमें 'मैं, मेरा' भाव है। जगत् सत्य है। यह प्राकृतिक है।"

अद्वैत वेदान्ती दोनोंको मिथ्या मानते हैं। सबका तात्पर्य एक ही है। ईश्वर और तुम्हारे बीचमें अहंकार खड़ा है, इसलिए ईश्वर तुम्हें दीखता नहीं है। तुम अहंकारको देखते हो तो ईश्वर उसकी ओटमें छिप जाता है।

स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी, नदी-पर्वत, सोना-चांदी, ईंट-पत्थर, अन्न-फल-जल—ये सब प्राकृतिक पदार्थ हैं, किन्तु यह मेरापना प्राकृतिक नहीं है। यह मनः-कल्पित-सम्बन्ध है। समाजने कानून-नियम, और धर्म अपनी व्यवस्थाके लिए बनाये हैं। किसी एक वस्तु या व्यक्तिको तुम्हारी प्रकृतिने नहीं बनाया है। प्रकृतिसे

वनी वस्तु वस्तुतः न किसीकी 'मैं है, न मेरी।' यह शरीर, मन और बुद्धि भी 'न मैं है, न मेरी'। इनको 'मैं—मेरा' मानकर ही तुम सुख-दुःख भोगते हो और स्वर्ग-नरक जानेवाले बनते हो। मनमें 'मैं—मेरा' नहीं, तो सुख-दुःख भी नहीं और स्वर्ग-नरक भी नहीं जाना है।

एक मनुष्य रेलसे यात्रा कर रहा था। एक स्टेशनपर एक दूसरा यात्री आया। उसने एक बड़ा सुन्दर बक्स उस डिब्बेमें रखा और पहले यात्रीसे बोला—'तनिक इसका ध्यान रखिये। मैं आता हूँ।' ट्रेन चल पड़ी। पहले यात्रीने समझा—बक्सवाला दूसरे डिब्बेमें बैठ गया होगा। मद्रास तक वह अपना बक्स देखने नहीं आया। गाड़ी तो आगे जानी नहीं थी। जब मद्रासमें भी वह नहीं आया तब पहले यात्रीने बक्स उतरवाया। उससे पूछा गया—'बक्स आपका है?'

उसने कहा—'हाँ, मेरा है।'

'बक्स भारी है। तौलवाइये।'

बक्स तौला गया और किराया उसने चुकाया। अब बाहर निकले तो चुंगीवालोंने पकड़ा। बक्सका ताला तोड़ना पड़ा। उसमेंसे मनुष्यका शव निकला। अब पुलिसने पकड़ा। अब वह मनुष्य कहने लगा—'बक्स मेरा नहीं है।'

कोई मानेगा अब उसकी बात? इसी प्रकार संसारकी किसी वस्तुको जो 'मैं—मेरी' कहता-मानता है, वह पकड़ा जाता है। यह 'मैं—मेरा' ही बन्धन है।

यहाँ 'अहंकार' से 'यमकार' भी उपलक्षित है। इस 'अहं-मम' से मुक्त आत्माका जो स्वरूप है, वह तो ज्ञान है। संसारमें वस्तुएँ हैं—यह ज्ञान है, इनमें सुख-दुःख है—यह भी ज्ञान है, ये वस्तुएँ मेरी हैं—यह भी ज्ञान है; किन्तु यह सब विपरीत ज्ञान है। यह एक अपरिच्छिन्न तत्त्वको भिन्न-भिन्न रूपोंमें जानना-मानना है—अतः यह अज्ञान है। इनमें 'मैं—मेरा' करके तुम अज्ञानमें फँसे हो। इसका निषेध कर दो तो ज्ञानस्वरूपमें स्थित होते हो।

'एव च' अवधारणके लिए 'एव' तथा समुच्चयके लिए यहाँ चकार है। इसका अर्थ है कि यहाँ जितने साधन बतलाये जा रहे हैं, वे पृथक्-पृथक् तत्त्व-ज्ञानके साधन नहीं हैं। ये बीसके बीसों साधन मिलकर ही तत्त्वज्ञानके साधन हैं। जिज्ञासुको इन सबको अपने जीवनमें धारण करना चाहिए।

जैसे कोई व्यक्ति समझे—'मैं नेत्रसे देखता हूँ, अतः नेत्रका द्रष्टा होनेके कारण नेत्रसे पृथक् हूँ।' लेकिन इसी प्रकार अपनेको कर्ण, नासादिसे पृथक् न जाने, तो उसका विवेक अपूर्ण है। उसे प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें जानना चाहिए कि मैं विषय तथा इन्द्रियके भेदसे रहित ज्ञान मात्र हूँ। साधन भले अनेक हों; किन्तु उनसे साध्य एक जाना जाय—यह भारतीय दर्शनकी विशेषता है। देवी, गणपति, शिव, सूर्य, विष्णु आदि आकृतियाँ पृथक्-पृथक् हैं, किन्तु आकृतिभेद होनेपर भी तत्त्व एक है। इसी प्रकार मनोवृत्तियोंके पृथक्-पृथक् होनेपर आत्मदेव एक ही हैं। विषय, इन्द्रिय, मनोवृत्ति, देश, काल और वस्तुको अनेकताओंमें ज्ञानकी एकता है। इस एकताको समझानेके लक्ष्यसे ही अनेकताकी पद्धति स्वीकार की गयी है। इस एकत्वको जाननेके लिए ये सब साधन अपनाने हैं।

‘जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्’—यह बात वैराग्य तथा अनहंकार दोनोंसे सम्बन्धित है। इन जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि, और दुःखके दोषोंसे ग्रस्त शरीर अहंकार करने योग्य नहीं है। वैराग्य और अनहंकार कैसे हो ? इसीका साधन इसमें बतलाया गया है।

‘जन्म’ : शरीर जन्म लेता है। जन्ममें ही दुःख है, दोष है। गन्दी वस्तुसे और गन्दे स्थानसे इनका जन्म होता है। जिस अंगका स्पर्श करके धर्मात्मा पुरुष हाथ धोना या स्नान करना पसन्द करते हैं, उस अंगसे और माता-पिताके रज-वीर्यसे शरीरका जन्म होता है। गर्भमें दुःख और जन्म लेनेमें भी दुःख।

‘मृत्यु’ : मरते समय नस-नस फटने लगती है। मनके बन्धन-मोहके हेतुके छूटनेसे बड़ी व्यथा होती है।

‘जरा’ : बुढ़ापा सब दोषों और कष्टोंका घर है। अपनी पत्नी और पुत्र तक तिरस्कार करते हैं। वे कहते हैं—‘बुढ़ा सठिया गया है। इसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी है।’ जिन्हें पाल-पोसकर बड़ा किया, जिनके लिये सब कष्ट सहे, निन्दा-स्तुतिकी चिन्ता नहीं की, वे ही सोचते हैं—‘यह बुढ़ा मरता क्यों नहीं ? यह मरे तो हम घरके स्वामी बनें।’

‘व्याधि’ : इसमें दुःख-दोष तो सबको प्रत्यक्ष है : .

‘शरीरं व्याधिमन्दिरम्।’

यह शरीर मन्दिर तो है; किन्तु इसका देवता शिव नहीं है। इसमें प्रतिष्ठित देवता है रोग। स्वस्थसे स्वस्थ व्यक्तिको भी एक न एक रोग लगा ही रहता है।

जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधि—इन सबमें दुःख है। इस दुःख रूप दोषको देखना चाहिए। जीवनमें जो दुःख-दोष आते हैं, उन्हें देखो—उनपर ध्यान दो।

‘जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्’—जन्म-मृत्यु, बुढ़ापा-रोग, दुःख-दोष इन सबके जो अनु—पीछे बैठा है, उसको देखो। जो जन्ममें रहकर जन्मसे परे अजन्मा है, मृत्युमें रहकर अविनाशी है, जरामें रहकर निर्जर है, व्याधिमें रहकर निर्विकार है, दुःखमें रहकर निरामय है, दोषोंमें रहता हुआ भी निर्दोष है, उसे देखो। वह अनहंकार है। उसमें किसीका अहंकार नहीं है।

जिसे जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधिमें दोष-बुद्धि, दुःख-बुद्धि नहीं होगी, उसे मुमुक्षा नहीं होगी। बार-बार देहमें आना और बुढ़ा होना, रोगी होना जिस अप्रिय नहीं होगा, वह क्यों मोक्ष चाहेगा ? उसे शरीरसे वैराग्य नहीं होगा। वैराग्य नहीं होगा तो वह अहंकारग्रस्त रहेगा। अतः जन्म, मृत्यु, जरा और व्याधिमें दुःखरूप दोष देखना ज्ञानका साधन होनेसे ज्ञान है और ऐसा न करना अज्ञान है। जन्म हुआ, बड़ा, बुढ़ा हुआ, रोगी हुआ, कष्ट भेले और मरा—इनके पीछे कौन बैठा है, उसे देखो। उसीपर दृष्टि रखो। इस जन्मने-मरने, रोगी होने, दुःख भेलनेवालेको ‘मैं’ मानकर मत बैठो।



● संगति

यहाँ तक बहिरंग साधनोंका वर्णन किया। अब अन्तरंग साधनोंका वर्णन करते हैं—

असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु ।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥ ९ ॥

पुत्र, स्त्री, गृहादिमें अनासक्ति और अनभिष्वंग तथा इष्ट और अनिष्टकी प्राप्तिमें सदा समचित्तताका रहना (ज्ञान है और इससे विपरीत अज्ञान है) ।

‘असक्ति’—सक्तिका अर्थ है सटना, चिपकना। जीव पक्षी है, इन्द्रियाँ उसके पक्ष हैं, ये विषयोंमें चिपक गये तो वह उड़े कैसे ?

असक्तिका अर्थ है आसक्ति न करना—अनासक्ति। आसक्ति हृदयमें होती है। वस्तुतः हृदयमें यह भ्रम ही होता है कि हम किसीसे सटे हैं। वर्षोंसे पति-पत्नीमें प्रगाढ़ आसक्ति थी। अचानक एक दिन पतिको लगा-पत्नी चरित्रभ्रष्टा है और वर्षोंकी आसक्ति एक क्षणमें नष्ट हो गयी। कहाँ गयी आसक्ति ? तात्पर्य यह है कि किसी भी आसक्तिमें एक धक्का सहन करनेकी शक्ति नहीं होती; किन्तु मूर्खतावश हम मानते हैं कि हमारी आसक्ति आचन्द्रदिवाकर रहनेवाली है।

‘आसक्ति भ्रम है। ‘एक सज्जन बधिर थे। घरमें आनन्दपूर्वक रहते थे। भजन करते थे। घरके लोग उनका सम्मान करते थे। सहसा एक देवता उनपर प्रसन्न हुए और प्रकट होकर बोले—‘वरदान माँगो।’

उन्होंने कहा—‘मुझे सुनायी पड़ने लगे।’

देवता हँसे और बोले—‘ठीक है, तुम्हें सुनायी देने लगेगा; किन्तु किसीसे कहना मत कि तुम्हें सुनायी देता है।’

अब जो घर आये तो उन्हें सुनायी देने लगा। घरके लोग तो उन्हें बधिर समझते थे। वे उनके सामने ही उनकी आलोचना करते थे। पत्नी, पुत्र और स्त्री—सब सामने आचरण तो नम्रता-आदरका दिखलाते थे; किन्तु यह बात भी करते जाते थे—‘दिनभर सिरपर सवार रहते हैं, टलते भी नहीं। कोई कहाँ तक इनकी सेवा करे !’

अब उनका भ्रम दूर हुआ। वे समझते थे कि घरके सब लोगोंकी उनमें बहुत आसक्ति है; किन्तु यह तो उलटो।

संसारके लोग समझते हैं कि आसक्ति ठोस तत्त्व है; किन्तु किसीकी आसक्ति पाँच रुपयेमें और किसीकी लाख रुपयेमें टूटती है। किसीकी आसक्ति गाली देनेसे, तिरस्कार करने अथवा सेवा न करनेसे टूटती है।

आसक्ति एकांगी होती है। आसक्ति जिसमें है, उसे ही पता नहीं है कि यह मनमें भासनेवाली छाया मात्र है। उसे बदलते देर नहीं लगती। भाई-भाईमें बड़ा प्रेम था; किन्तु एक भूमिके टुकड़े या एक स्त्रीको लेकर ऐसी खटक गयी कि दोनों परस्पर शत्रु हो गये।

भ्रमकी पुत्रीका नाम है आसक्ति। हम किसीमें आसक्त हैं, यह भ्रम ही है। देश, जाति, परिवार, वाद, भाषा, धन, देह, पद, प्रतिष्ठा आदिको लेकर जो उलझे हैं, वे अनन्तका चिन्तन कैसे करेंगे? अतः परिच्छिन्नमें अपने मनको न उलझाना अनासक्ति है। यह ज्ञान है।

आप एकतत्त्वाभ्यास करें कि सबका शरीर मिट्टीका बना है। एक महात्मा थे श्री त्रिवेणीपुरी जी। वे ईश्वरके अतिरिक्त दूसरेकी बात ही नहीं करते थे। उन्होंने मुझसे कहा—‘मिट्टी और मिट्टीसे बनी वस्तुओंको नेत्रसे—मनसे दूर कर दो!’ नाम-रूप दोनों चले गये। सब आसक्ति मिट्टीके बने पुतलोंको मध्यमें रखकर ही होती है। आसक्ति होती ही तब है जब तुम मिट्टीके शरीरमें बैठते हो और मिट्टीके खिलौनोंको देखते हो। एकतत्त्वाभ्याससे आसक्तिका लोप हो जाता है। स्त्रीमें स्त्रीत्व-सामान्य अथवा पुरुषमें पुंस्त्व-सामान्यके दर्शनसे आसक्ति मिट जाती है। अनैक्यकी कल्पना—भ्रान्ति ही आसक्ति उत्पन्न करती है।

शरीरमें हृदय है। हृदयमें आकाश—अवकाश है। उस अवकाशसे भी सूक्ष्म बुद्धितत्त्व है; क्योंकि आकाश तामस अहंकारका कार्य है और बुद्धि राजस अहंकारका कार्य। उस बुद्धिमें पीछेकी स्मृति और आगेकी कल्पना न हो, ऐसा अभ्यास कर लो :

‘विशोका वा ज्योतिष्मती।’—यो० सू० १।३६

शोकरहित होकर बुद्धितत्त्वको देखो, इससे आसक्ति मिट जायेगी। श्रुति कहती है—

‘न वै शरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति।’—छा० ८।१२।१

जब तक तुम अपनेको स्थूल शरीर मानोगे, तबतक प्रिय और अप्रियकी प्राप्ति निवृत्त नहीं होगी। इसलिए ‘अनहंकार एव च’के पश्चात् कहा, ‘असक्तिः’ इस देहमें-से अहंकारको दूर करो। देहके प्रियसे आसक्ति और देहके अप्रियसे द्वेष मत करो। श्रुतिने कहा—

अशरीरं वाच सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः।—छा० १।१२।१

जब अपनेको अशरीर जान गये—‘मैं यह आँख-नाक, कान-मुख, हाथ-पैरवाला नहीं हूँ’ तो प्रिय या अप्रिय तुम्हारा स्पर्श नहीं कर सकते।

असक्त होनेके लिए दूसरेके व्यवहारको देखना अनावश्यक है। अपने हृदयसे आसक्तिको दूर करना है। इसके लिए एक तत्त्वपर दृष्टि रहनी चाहिए।

‘अनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु’—स्त्री-पुत्रादिको छोड़े बिना ज्ञान नहीं होगा, ऐसा कोई नियम नहीं है। अपनी आत्माके ज्ञानमें कहीं कोई बाधा नहीं है।

अजे साम्ये तु ये केचिद् भविष्यन्ति सुनिश्चिताः ।

ते हि लोके महाज्ञानास्तच्च लोको न गाहते ॥—माण्डूक्य का० ४।९५

जो अपने अद्वितीय स्वरूपके विषयमें सुनिश्चित हैं, वे संसारमें रहते हुए भी महाज्ञानी हैं । संसार उन्हें कोई बाधा नहीं देता ।

दूसरेके घरमें प्रवेश करना हो और द्वारपर लिखा हो—‘बिना आज्ञा भीतर आना मना है ।’ तो हम बाहर रुककर आज्ञा लेना चाहेंगे; किन्तु यदि वह घर अपना हो तो ? इसी प्रकार ब्रह्म तो अपना ही स्वरूप है । कर्मकाण्डके सम्बन्धमें अधिकारीका विचार होता है कि यह कर्म यह पात्र करे या नहीं । श्रुतिके मन्त्रोंके सम्बन्धमें विचार हो सकता है कि तत्त्वज्ञान मन्त्रोंसे कराया जाय या उन्हें छोड़कर पौराणिक वाक्योंसे, अथवा पञ्चदशी-विचारसागरादिसे, लेकिन श्रुतिके अर्थका ज्ञान मनुष्यमात्रको कराया जाय, इसमें मतभेद नहीं है ।

‘पुत्रदारगृहादिषु’—पुत्र उसे कहते हैं जो पिताके अपूर्ण कर्मको पूरा कर दे । जैसे गङ्गाजीको पृथ्वीपर लानेमें महाराज सगर सफल नहीं हुए तो उनके पौत्र, प्रपौत्रादि लगे रहे—प्रयत्न करते रहे और भीररथने सफलता प्राप्त कर ली ।

‘पुंनाम्नो नरकात् त्रायत इति पुत्रः ।’

‘पुं’ नामक नरकसे जो बचावे, उसे पुत्र कहते हैं ।

‘दीर्यन्ते आतर एभिरिति दाराः ।’

जो भाई-भाईके मध्य भेद डाल दे उसे दारा—पत्नी कहते हैं ।

गृह्णातीति गृहः ।

जो अपनेमें पकड़ रखे, वह गृह । कहीं जाओ, घूम-फिरकर वहीं आओगे ।

‘अभिष्वङ्गः’—इन पुत्र, दार, गृहादिके साथ तादात्म्य कर लेना । रोगी तो हुआ है पुत्र या पत्नी, किन्तु छटपटा रहा—व्याकुल हो रहा है पिता या पति ।

एक शरीरमें तादात्म्यका होना ही तुम्हें कितना दुःख दे रहा है, अनेक शरीरोंसे तादात्म्य हो गया तो फिर तो ब्रह्म-विचारके लिए समय ही नहीं मिलेगा ।

एकने पूछा : ‘पूर्व जन्मका स्मरण क्यों नहीं होता ?’

अरे एक जन्ममें जिन-जिनकी स्मृति होती है, वही सिरपर भार डालनेको बहुत हैं । एक जन्मके सम्बन्धके प्रति तो कर्तव्यका निर्वाह हो नहीं पाता है, पूर्व जन्मोंके माता-पिता, पुत्र-भाई, पत्नी-पति स्मरण आयें तो किस-किसके प्रति कर्तव्यका निर्वाह करोगे ?

इन संसारी लोगोंको सम्मुखका सुख-भोग ही दीखता है । त्यागमें जो अनन्त सुख है, वह इन्हें दीखता ही नहीं । एक किसान था । उसके पास थोड़ी-सी भूमि थी और थोड़ा-सा अन्न था । वर्षाऋतु आयी । वर्षा हुई । बीज बोनेका समय आ गया । वह किसान घरमें चुप बैठा रहा । लोगोंने कहा—‘अरे ! हाथपर

हाथ धरे क्यों बैठा है ? खेत जोत और घरमें जो बीज हैं, उन्हें खेतमें डाल । चार महीनेमें तेरे इस दस-बीस सेर बीजका दस-बीस मन हो जायेगा । वर्ष भरका तेरा भोजन हो जायगा ।’

वह किसान बोला : ‘घरमें कुल दस-बीस सेर ही तो अन्न है । वह अभी तो नेत्रोंसे दीख रहा है । महीने-पन्द्रह दिनका भोजन है । उसे भी मिट्टीमें डाल दूँ ! मैं ऐसा नहीं करता । क्या पता यह मिट्टीसे निकले या न निकले ।’ ऐसे ही ये संसारी लोग हैं । इन्हें खण्ड-खण्ड दीखता है । पूर्णपर इनकी दृष्टि नहीं है ।

‘अभिष्वङ्गः’—एकके दुःखसे दूसरेका दुःखी होना । छोटे बच्चेके सामने उसकी माताको मारनेके लिए हाथ या छड़ी उठाओ तो माता तो परिहास समझती है, वह मुस्करायेगी; किन्तु बच्चा रोने लगेगा । यह तादात्म्य छोटे बिना सर्वात्माकी प्राप्ति नहीं होती । व्यक्तित्वका हवन करनेसे पूर्व इसे अन्य व्यक्तियों-से पृथक् किया जाता है । जब तक इसे अन्य व्यक्तियोंसे पृथक् नहीं कर लो, तबतक इसका पूर्ण ब्रह्ममें हवन सम्भव नहीं होगा ।

‘ष्वञ् परिष्वङ्गे’—ष्वञ् धातु आलिङ्गनार्थक है । आयुर्वेदके ग्रन्थ सुश्रुतमें कहा गया है—‘मनुष्यमें बुद्धि, मेधा, स्मृति, धृति और अनभिष्वङ्ग रहे तो वह स्वस्थ है ।’ इसमें बुद्धिका अर्थ है समझदारी । मेधा—समझतो धारण करनेकी शक्ति । ‘धीर्धारणावती मेधा’ स्मृति = स्मरण शक्ति । धृतिका अर्थ है धैर्य । अनभिष्वङ्ग—अपनेको खोकर किसीसे तादात्म्य न कर ले । ऐसा हो तब मनुष्य स्वस्थ रहता है ।

अनभिष्वङ्गका अर्थ करते हुए सुश्रुतके टीकाकारने लिखा है—

‘फलनिरपेक्षया बुद्ध्या श्रेयःकर्मकरणमनभिष्वङ्गः ।’

पुत्र, पत्नी, परिवारादि सबके साथ उनके कल्याणका व्यवहार करना; किन्तु वह व्यवहार फल-निरपेक्ष होकर करना । इतना तादात्म्य मत करो कि अपनेको भूल जाओ । पुत्र बीमार है तो चिकित्सा कराओ; किन्तु रोग न मिटे, वह बच न सके तो पागल होनेकी स्थिति न आवे । इसी प्रकार यह ‘अभिष्वङ्ग’ शब्द महाभारतमें भी अनेक स्थलोंपर तादात्म्यके अर्थमें ही आया है :

‘नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ।’

जीवनमें कभी अपने मनकी बात होती है, कभी मनके विपरीत होती है । संसारमें एक ही मन होता तो सब बात तुम्हारे मनके अनुसार होती । तुम्हारे पास ही बुद्धि होती, तुम्हारे शत्रुके पास बुद्धि न होती तो सदा तुम्हारी विजय होती; किन्तु बुद्धि तो जैसे तुम्हारे पास है, तुम्हारे शत्रुके पास भी है । तुम्हारे मनमें जैसे संकल्प होते हैं, दूसरोंके मनमें भी होते हैं । अतः कभी इष्ट होता है, कभी अनिष्ट । मनके कभी अनुकूल और कभी प्रतिकूल संयोग तो आयेगा ही । जब दुःख, प्रतिकूलता आयी थी, तब आयी थी । अब उसे स्मरण करके अपने चित्तकी स्थिति क्यों बिगाड़ते हो ?

वृन्दावनमें हम एक घरमें कई दिन भोजन करने गये। वैसे यह शास्त्रा-नुकूल बात नहीं थी। शास्त्रमें तो संन्यासीके लिए आदेश है :

**‘अपि म्लेच्छकुलाद् भिक्षामाचरेत् सङ्कटे यतिः ।
एकान्नं न तु भुञ्जीत बृहस्पतिसमादपि ॥’**

यदि आहारका सङ्कट ही आ जाय-क्षुधा बहुत तीव्र हो और अच्छे द्विजाति कुलके लोग भिक्षा देनेवाले न मिलते हों तो भले ही साधु म्लेच्छके घरसे भिक्षा ले ले; किन्तु बृहस्पतिके समान पवित्र और वेदज्ञ ब्राह्मणके भी एक ही घरका अन्न न खाये ।

एक साधुको मैं जानता हूँ। एक ही व्यक्तिके घर उन्होंने भोजन करना प्रारम्भ किया। थोड़े दिनोंमें वे उस अन्नदाताको साक्षात् ईश्वर मानने लगे।

मैं जिनके घर भोजन करने गया था, उनके रसोइयेसे उस दिन भोजन ठीक नहीं बना था। वे मेरे साथ भोजन करने बैठे थे। सो उन्होंने थाली उठाकर फेंक दी और क्रोधसे विगड़ने लगे। उपद्रव मच गया। अब मैं क्या भोजन करता ! दूसरे दिन रसोइयेने बहुत उत्तम भोजन बनाया था। भोजन करने बैठे तो इस दिन भी गृहपति विगड़ उठे। वे रसोइयेको डाँटने लगे—‘जब तुम्हें ऐसा उत्तम भोजन बनाना आता है तब तुमने कल ऐसा क्यों नहीं बनाया था ?’ फल यह हुआ कि उस दिनके भोजनका आनन्द भी मिट्टी हो गया।

एक मनुष्यने विवाह किया। उनकी पत्नी उनकी बहुत सेवा करती थी। उनसे बहुत प्रेम करती थी; किन्तु वह सुन्दर नहीं थी। उन सज्जनने दूसरा विवाह किया। दूसरी पत्नी बहुत सुन्दर आयी; किन्तु अब उन्हें शङ्का रहने लगी—‘यह सुन्दर है तो दूसरे लोग इसकी ओर आकर्षित होंगे। पता नहीं कब यह चरित्रभ्रष्ट हो जाय।’ इस शंकासे वे बेचैन रहने लगे।

इस प्रकार संयोग-वियोग, सर्दी-गर्मी, रोग-स्वास्थ्य, जन्म-मृत्यु, विवाह-वियोग, अनुकूलता-प्रतिकूलता तो आती ही रहेंगी। इनमें तुम्हारे चित्तका तराजू जब संतुलित रहेगा तब तुम ज्ञानके अधिकारी बनोगे।

तुम्हें जब पूर्ण परमात्माको पानेके लिए चलना है तो अपूर्ण स्थूल तत्त्वोंकी उपेक्षा करनी ही पड़ेगी । किसीको यात्रा करनी है। अब यदि वह मार्गकी अच्छाईयोंमें, अनुकूल धर्मशालादि पाकर वहीं रुक जाता है तो लक्ष्य तक नहीं पहुँच सकता। ऐसे ही जो मार्गकी कठिनाइयाँ देखकर, सड़क टूटी देखकर लौट पड़ा, वह भी नहीं पहुँच सकेगा। यदि तुम दस-पाँच वर्षके सुखमें फँस गये तो परमात्म-प्राप्ति कैसी हो जायेगी ? इष्ट परिस्थितिमें फँसना नहीं और अनिष्ट परिस्थितिसे प्रतिहत नहीं होना। इन्हें पार करना ही होगा।

जैसे कालकी धारामें दिन-रात्रि आते-जाते हैं, वैसे ही इष्ट-अनिष्ट भी आते-जाते हैं। कहीं श्रद्धा मिलती है, कहीं अश्रद्धा, कहीं गाली, कहीं प्रशंसा। यहाँ प्रत्येक गाली देनेवालेसे लड़ने बैठो तो लड़ाईमें ही जीवन व्यतीत हो जायेगा। मार्गमें कभी मित्र मिलते हैं, कभी शत्रु। कभी भूखे रहना पड़ता है,

कभी उत्तम भोजन मिलता है। कभी लाभ होता है, कभी हानि। लेकिन जो इनमेंसे किसीसे भी उलझेगा, वह लक्ष्यतक कैसे पहुँच सकता है ?

आगरेमें एक सिन्धी स्त्री बाजारमें जा रही थी। उसके हाथमें सोनेका कड़ा था। मार्गमें सोनेकी सिल्ली पड़ी दीखी। उसने उठा ली। तुरन्त कई लोगोंने उसे घेर लिया और बोले—‘इसमें हमारा भी भाग दो।’

सिल्ली कहीं ले जानेमें भय है, यह उन लोगोंने समझाया। अन्तमें बोले—‘अपना कड़ा हमें दे दो और सिल्ली ले जाओ।’

वह कड़ा दे आयी। घर आकर जाँच करनेपर सिल्ली पीतलकी निकली। इसी प्रकार संसारकी ये सब वस्तुएँ मार्गमें तुम्हें फँसानेके लिए पड़ी हैं।

‘नित्यं च समचित्तत्वं’—श्री उड़ियावावा जी महाराज कहते थे—‘एक गिलास जलका मूल्य अधिक है या मोतीका, यह बात परिस्थिति और अधिकारी पर निर्भर है। मनुष्य यदि मरुस्थलमें प्याससे मर रहा हो तो वहाँ उसके लिए एक गिलास जलका मूल्य अधिक है और जिसे प्यास नहीं है, आभूषण पहनना है, उसके लिए मोतीका मूल्य अधिक है। जिसे न प्यास है—न आभूषण पहनना, उसके लिए पानी और मोती दोनों ही मिट्टी हैं—दोनों निष्प्रयोजन हैं।’

तत्त्वका दर्शन होनेसे समत्व आता है और मनुष्य जब नाम-रूपके पीछे पड़ता है, तब राग-द्वेष होता है। गीताने कहा :

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः ।

आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥—२।१४

अर्जुन ! ये जितने तन्मात्राओंके स्पर्श हैं ये शीत-उष्ण या सुख-दुःख देनेवाले हैं। ये आने-जानेवाले, अनित्य हैं, अतः इन्हें सहन कर लो।

एक महात्मा हिमालयमें नग्न रहते हैं। उनका चमड़ा बहुत मोटा हो गया है। वे हिमपातका शीत भी सह लेते हैं। वे एक-दो बार माघके महीनेमें हरिद्वार आये तो उस शीतकालमें वहाँ पसीनेसे भींग गये। बराबर पंखा चलता था उनके ऊपर। उष्णता उन्हें सर्वथा असह्य है। यह तितिक्षा नहीं हुई।

जीवनमें सत्यका विचार करना है—ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना है तो सर्दी-गर्मी दोनोंमें समबुद्धि होनी चाहिए। सर्दी या गर्मीको मिटानेके लिए इतने चिन्तित न हो जायँ कि ब्रह्मविचार ही छूट जाय।

गीताकी दृष्टिसे जब मनुष्य चलता है तब सम्भव है, उसके पैरसे छूकर वस्तुएँ अपवित्र हो जायँ अथवा उसके पैरसे कोई कीड़ा कुचल जाय। क्या इन दोनों बातोंका विचार करके चलना वन्द कर दिया जाय ?

‘न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते ।’—१८।१०

अशुभ-अकुशल कर्मसे उसे द्वेष नहीं होता और कुशल-शुभ कर्ममें वह आसक्त नहीं होता।

किसीसे कर्म करनेमें भूल हो गयी तो उस कर्म या उसके कर्तासे इतना द्वेष मत करो कि तुम्हारे हृदयकी शान्ति-समता भंग हो जाय और कर्म करनेमें अच्छाई हुई तो उसका इतना अभिमान मत करो कि चित्तकी समता छूट जाय।

‘त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ।’—१८।१०

तुम्हारे जीवनमें चार बातें आनी चाहिए :

१. **त्यागी** : त्यागी रहो । जैसे क्षण-क्षण छूटता जा रहा है, वैसे ही कण-कणको भी हम छोड़ते जा रहे हैं । क्षण और कण साथ ही छूटते हैं । बचपन छूटा, यौवन छूटा, बुढ़ापा भी छूटेगा । अनेक प्रेम करनेवाले और अनेक द्वेष करनेवाले मिले और छूट गये । आज उनका स्मरण भी नहीं है । क्षणके समान कणको भी छूटने दो—पकड़नेका प्रयत्न मत करो । यह त्यागी होना है ।

२. **सत्त्वसमाविष्टः** : अपने आपमें—अपने स्वरूपमें स्थिर रहो । देह, अन्तःकरण, इन्द्रिय, विषय, इनसे तादात्म्य मत करो ।

३. **मेधावी** : आकाशमें जो नीलिमा दिखलायी पड़ती है, वह नीलिमा नहीं है । इसी प्रकार परिपूर्ण परमात्मामें प्रतीयमान प्रपञ्च सत्य नहीं है—यह मेधा बनी रहे ।

४. **छिन्नसंशयः** : इस दृश्य प्रपञ्चमें एकरस, अखंड ब्रह्म ही भासमान है, इसमें कोई संशय मत रखो । इस प्रकार जीवन संशयहीन, मेधायुक्त, शान्त और त्यागसे पूर्ण हो, यही जीवनकी पूर्णता है ।

तुम्हारा हृदय परमात्माका निवास-स्थान है, उसमें मुर्दे मत भरो । मुर्दा अपवित्र होता है । जब तुम बीतेका स्मरण करते हो तो हृदयमें मुर्दा ले आते हो । अनेक संस्कृतियाँ, अनेक राज्य, सम्प्रदाय नष्ट हो गये । जो व्यतीत हो गया उसके लिए रोओ मत । चित्तको सम रखो । चित्तमें समता रही तो कल्याण हो गया ।

‘समदुःखसुखः’ ये शब्द गीतामें भक्तके लक्षणोंमें और गुणातीतके लक्षणोंमें भी आये हैं । सुख-दुःख फल हैं—इनमें समान रहे ।

मैंने देखा है कि अनेक लोग एक घण्टेकी बातचीतमें दो-तीन बार पिछले दुःखोंका स्मरण करके रो लेते हैं और दो-तीन बार पिछले सुखोंका स्मरण करके हँस भी लेते हैं ।

जैसे कमलपुष्प दिनमें खिलते हैं और रात्रिमें बन्द हो जाते हैं, वैसे ही हृदय भी कमल है । यह समयपर खिलता है, समयपर बन्द होता है । अनेक बार बिना किसी निमित्तके भी दुःखकी कल्पना करके मनुष्य रोता है और बिना सुखके निमित्तके ही प्रफुल्ल होता है । मन कभी-कभी स्वतः ही सुखाकार या दुःखाकार परिणामको प्राप्त होता है । जब पुराने किये अशुभ कर्म फलोन्मुख होते हैं तो मनमें दुःखाकार वृत्ति हो जाती है और पुराने किये शुभ कर्म फलोन्मुख होते हैं तो सुखाकार वृत्ति हो जाती है । अतः ‘समचित्तत्वं’ का अर्थ है : सम-कर्मत्वं, समफलत्वं—कर्ममें और कर्मफलमें भी चित्त सम रहे ।

‘विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ॥

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।

निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥’ ५।१८।१९

जो पण्डित हैं—प्रज्ञावान्, ज्ञानी हैं, वे विद्या तथा विनयसे सम्पन्न ब्राह्मणमें, गौमें, हाथीमें, कुत्तेमें एवं चाण्डालमें भी अर्थात् सबमें समदर्शी होते हैं। उन्हींने यहीं—जीवनमें ही सर्गको—जन्म-मरणके चक्रको जीत लिया जिनका मन समतामें स्थित है; क्योंकि निर्दोष समत्व तो ब्रह्मका स्वरूप है, अतः वे ब्रह्ममें स्थित हैं।

तुम व्यक्तिको पापी या पुण्यात्मा देखकर कौन-सा लाभ उठा रहे हो ? भगवान् तो कहते हैं :

‘साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ।’—६।९

कोई साधु हो या पापी, दोनोंमें जो समबुद्धि रखता है, वह विशेष है।

‘समचित्तत्वं’ इसमें ‘चित्त’ शब्द मन और बुद्धि दोनोंके लिए आया है। गीतामें चित्त शब्द मन + बुद्धि दोनोंके समन्वित रूपके लिए ही आता है, यह बात ध्यानमें रखनी चाहिए। यह बात गीतासे ही स्पष्ट है :

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।’—१२।८

‘मुझमें ही मन रखो ! मुझमें ही बुद्धि लगाओ ।’ यह कहनेके पश्चात् मन + बुद्धि दोनोंके समन्वित रूपके लिए :

‘अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।’—१२।९

कह दिया : ‘तुम मुझमें स्थिर रूपसे चित्त लगानेमें समर्थ न हो तो अभ्यास करो ।’

अतः ‘समचित्तत्वं’के द्वारा मन तथा बुद्धि दोनोंकी समताका यहाँ प्रतिपादन है।

श्री उड़ियाबाबाजी महाराजसे लोगोंने किसीके लिए कहा—‘अमुकको बुला लें ।’

महाराज बोले : ‘हम ईश्वरको भी नहीं बुलाते ।’

एक बार किसी आश्रमवासीसे कोई भूल हो गयी। कुछ लोगोंने बाबासे कहा : ‘उसे आश्रमसे निकाल दें ।’

बाबा : ‘हम स्वयं क्यों न यहाँसे निकल जायँ ? आश्रम तो उसका है जो आश्रमको अपना मानता हो। हम तो आश्रमको अपना मानते नहीं हैं ।’

एक बार मैं एक महात्माके दर्शन करने गया। उनके कमरेमें ततैयेने बड़ा-सा छत्ता लगा रखा था। छत्ता द्वारसे लगा था। आने-जानेमें ततैये कई बार डंक मार देते थे। मैंने कहा : ‘धुआं करके इन्हें भगा देता हूँ ।’

महात्मा बोले : ‘मैं तो समझता हूँ कि यह कमरा मेरा नहीं है। यह शरीर भी मेरा नहीं है। लेकिन ये ततैये तो इस कमरेको अपना समझते हैं। इनकी सच्ची ममता इसमें है। अतः इस स्थानके सच्चे अधिकारी तो ये ही हैं ।’

‘इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।’—५।१९

इसमें मनका समत्व बतलाया गया है और बुद्धिका समत्व बतलाया गया है नीचेके श्लोकमें :

‘सुहृन्मित्रार्जुदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥’—६।९

संसारमें पापी-पुण्यात्मा सब रहते हैं। सृष्टिसे प्रलय तकमें एक भी क्षण ऐसा नहीं बना जिसमें पापी-पुण्यात्मा दोनों न रहें। बीजरूपसे रहे तो दोनों और अंकुर रूपसे रहे तो दोनों। स्थानका कोई कोना ऐसा नहीं जहाँ वस्ती तो हो और भले-बुरे दोनों न हों। तुम विश्वको स्वच्छ नहीं कर सकते। अपना हृदय स्वच्छ करो। इन भले-बुरोंका चिन्तन छोड़कर परमात्माके चिन्तनमें लगे।

‘सुख-दुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥’—२।३८

सुख-दुःख लाभ-हानि, और जय-पराजयको समान बनाकर इनमें चित्तको सम रखते हुए युद्धके लिए—कर्तव्यके लिए जुट पड़ो, इससे तुम पापके भागी नहीं बनोगे।

इस संसारमें बचकर चलो। भले या बुरेसे उलझ जाओगे तो रुक जाओगे। छोटी-छोटी बातोंकी चिन्ता छोड़ो, तब महान् तत्त्व उपलब्ध होगा।

ईश्वरके विषयमें अनुभव प्राप्त करना है तो संसारके विषयमें चित्तको सम कर दो। जब संसारके विषयमें चित्त समान होगा तब तुम यहाँ भी अपने कर्तव्यका ठीक-ठीक पालन कर सकोगे। बाढ़ आयी तो बाढ़-सहायतामें लग गये और अकाल पड़ा तो अकाल-सहायतामें।

मेघका काम वर्षा करना है—कुम्हारका घड़ा फूटे या बचे। सूर्यका काम तपना है—मालीका उपवन सूखे या फूले। इसी प्रकार पुराने संत कहते हैं कि ‘हमारा काम तो ज्ञानामृतकी वर्षा करना है। हम तो :

‘भववारिधिं मृगतृषा समाना ।
अनुदिनं यह भाषत नहि आना ॥’

जो अनधिकारी हो, न आये हमारे पास। जिसमें श्रवणकी उत्सुकता हो, साहस हो, चित्तकी समता और सत्यका शोध जिसे प्रिय हो, वह हमारे पास आये।



● संगति

अब भगवान् कहते हैं कि परमात्माको जाननेके लिए केवल चित्तकी समता ही पर्याप्त नहीं है। चित्तमें परमात्मतत्त्वको जाननेकी उत्कण्ठा—उस परमात्माके प्रति प्रीति चाहिए। इस प्रीतिके ही भेद हैं—श्रद्धा, रुचि, प्रीति और भक्ति।

मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी ।

विविक्तदेशसेवित्व - मरतिर्जनसंसदि ॥ १० ॥

अनन्ययोग-पूर्वक मुझमें अव्यभिचारिणी भक्ति, एकान्त देशका सेवन और लोगोंकी भाड़-भाड़में रति—रुचि—न होना (यह ज्ञान है और इससे विपरीत होना अज्ञान है ।)

भक्ति अव्यभिचारिणी हो। किसमें भक्ति ? भगवान् कहते हैं—‘मयि’ मुझमें भक्ति। कैसी भक्ति ? ‘अनन्ययोगेन’—अन्य योग उसमें न हो। योग—मिलन तो न हो; किन्तु मनमें कभी भी अन्यका चिन्तन न हो, यह अव्यभिचारिणी भक्ति हुई।

एक स्त्री अपने पतिसे प्रेम करती है। पतिकी सेवा करती है। किसी दूसरेसे मिलती भी नहीं; किन्तु मनमें कभी-कभी अन्य पुरुषका चिन्तन होता है। यह अन्य पुरुषका चिन्तन भी न हो, तब वह पतिव्रता होगी।

जब आप कहते हैं : ‘भगवान् ! मेरा पुत्र रोगी है, उसे अच्छा कर दो !’ तब आप भगवान्‌के भक्त रहते हो या अपने पुत्रके ?

गोस्वामी तुलसीदासजी काशीमें रहते थे। एक रात उनकी कुटियापर चोर आये। चोरोंने देखा कि दो युवक तूणीर कसे, धनुषपर बाण चढ़ाये कुटियाके समीप सतर्क खड़े हैं। चोर कई बार लौट-लौटकर आये; लेकिन वे युवक कहीं टलनेवाले या प्रमाद करनेवाले थे ? उनका दर्शन करके चोरोंके चित्तकी दशा उनकी समझसे बाहर हो गयी। सबेरे वे गोस्वामीजीके चरणोंमें गिर पड़े और रोते-राते बोले : ‘अपने उन चौकीदारोंके एक बार और दर्शन करा दीजिए।’

चोरोंसे रातकी पूरी घटना सुनकर गोस्वामीजी फूट-फूटकर रोये : ‘मैं ऐसा परिग्रही, वस्तु-लोलुप हो गया कि प्रभुको भाईके साथ रात-रात जागकर मेरी इस सामग्रीकी रक्षा करनी पड़ती है।’ उन्होंने उसी समय कुटियामें जो कुछ था, सब भिखारियोंको बाँट दिया।

‘भागो भक्ति!’ भक्तिका अर्थ है भगवान्‌का भाग हो जाना। एक महात्मासे किसीने पूछा : ‘आप किस-किसकी रोटी खा लेते हैं ?’

महात्मा : 'गेहूँकी, जौकी, बाजरेकी, ज्वारकी, मक्केकी और बेभरकी भी रोटी हम खा लेते हैं ।'

पूछनेवाला बोला : 'मेरे पूछनेका तात्पर्य है कि आप केवल ब्राह्मणकी रोटी खाते हैं, द्विजातिमात्रकी खाते हैं या शूद्रकी भी खा लेते हैं ?'

महात्मा : 'छिः ! मैं मनुष्यभक्षी नहीं हूँ । मैं अन्नकी रोटी खाता हूँ ।'

एक घड़ा है : यह घड़ा किसका है ? हाथ लगानेसे—आकृति देनेसे कुम्हार इसे अपना समझता है । पैसा देकर लेनेके कारण तुम इसे अपना समझते हो । लेकिन सच पूछो तो घड़ा मिट्टीका है ।

इसी प्रकार जो इस सृष्टिके रूपमें प्रकट हुआ, सृष्टि उसकी है । पहले राजा लोग कहते थे : 'भारतवर्ष हमारा है ।' फिर मुसलमान इसे अपना कहने लगे । उनके पीछे अंग्रेजोंने इसे अपना कहा । अब जनता कहती है : 'भारत हमारा है ।' लेकिन देश तो जिस भूमिका अंग है, उस भूमिका—पृथ्वीका है और भूमि परमात्माकी है । उसी परमात्माका जल, वायु, अग्नि, आकाश—सब जड़-चेतन देह हैं । अतः भक्तिका अर्थ है अपनी दृष्टि परमात्मापर रखना ।

यहाँ भक्तिके विषयमें तीन बातें कही गयी हैं : १. 'मयि भक्तिः' भक्तिके विषय केवल भगवान् हों २. 'अनन्ययोगेन' अन्यके साथ चित्तवृत्ति न जुड़े । ३. 'अव्यभिचारिणी' चित्तवृत्ति टूट-टूटकर अन्यत्र न जाय । इससे परमात्माका निरन्तर चिन्तन होगा । तब सम्पूर्ण विश्वके अभिन्ननिमित्तोपादन कारणरूप परमात्माका निश्चय हो जायगा ।

भक्ति तो भक्त लोग भी करते हैं । यहाँ जिज्ञासुके लिए भक्ति बतलायी गयी है । इन दोनोंकी भक्तिमें क्या अन्तर है ?

भक्त जब भक्ति करते हैं तब उनकी भक्ति विस्तारोन्मुखी होती है । वे इष्ट, इष्टके परिकर, धाम, लीलादिका चिन्तन बढ़ाते हैं । जिज्ञासुकी भक्ति धाम, लीला, परिकर, युगल और एकके क्रमसे संकोचोन्मुखी होती है ।

'मयि भक्तिश्च ज्ञानम्' भगवान् कहते हैं : 'मुझमें भक्ति ज्ञान है ।'

'कीदृशी भक्तिः' कैसी भक्ति ?

'अनन्ययोगेन भक्तिः' अन्ययोगरहित भक्ति ।

'कथंभूता भक्तिः' किस प्रकारकी भक्ति ?

'अव्यभिचारिणी' अन्यमें व्यभिचरित न होनेवाली भक्ति ।

इसमें जब भक्तिको ज्ञान कहा गया तो देखना यह है कि भक्ति और ज्ञानमें परस्पर मैत्री है या नहीं ।

आजकल लोग ज्ञानको बुद्धिका विलास मानते हैं । ऐसा ज्ञान तो बौद्ध-ज्ञान होगा, क्योंकि बुद्धि स्वयं और उससे ज्ञात पदार्थ ये दोनों क्षणिक हैं । बुद्धिकी नवीन-नवीन वृत्तियाँ बनती रहती हैं और ज्ञेय नवीन-नवीन आकार ग्रहण करता रहता है । बौद्धागम वस्तुको क्षणिक और विज्ञानात्मक मानता है ।

आजकल लोग सूक्ष्म निरीक्षण-परीक्षण किये बिना ही मान्यता बना लेते हैं । समीक्षणसे दूर वे समझते हैं कि जैसे बुद्धिमें अन्य विषयोंमें समझ होती है,

वैसे ही ब्रह्मके विषयमें भी एक समझ आजानेका नाम ज्ञान है। लेकिन बाह्य पदार्थोंके अनुभवसे जो समझ आती है और संस्कारधारामें चलती रहती है, उसका नाम ज्ञान नहीं है। ब्रह्मज्ञान तो प्रमाणजन्यवृत्ति है जो एक क्षणमें अविद्याको नष्ट करके स्वयं भी नष्ट हो जाती है।

जो कह दे कि 'धर्म-कर्ममें क्या रखा है, ईश्वरकी उपासनामें क्या रखा है' वह और कुछ भी हो; किन्तु वह वेदान्त-सम्प्रदायमें तो नहीं ही है। यह तो अवैदिकोंके सम्पर्कके कारण आजकल वेदान्तियोंमें साधनका निषेध होने लगा है। अन्यथा भगवान्ने गीतामें गुणातीतके वर्णनमें कहा है :

‘मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।

स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥’-१४।२६

जो अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा मेरी सेवा करता है, वह इन गुणोंको पार करके ब्रह्मस्वरूप हो जाता है।

कोई गीताको भी माने और कहे : ‘वेदान्तमें भक्तिकी आवश्यकता नहीं है’ तो वह अपनेको और दूसरोंको भी धोखा देता है। गीतामें तो भक्तिका बहुत ही अधिक वर्णन है :

मद्भक्त एतद् विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ।—१३।१८

× × ×

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यद्वास्मि तत्त्वतः ।

ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥—१८।५५

× × ×

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥—१०।१०

भगवान् भक्तिके विषयमें कहते हैं : ‘मयि भक्तिज्ञानम्’ केवल भक्ति ही ज्ञान नहीं है। बहुतसे लोग धनभक्त, पत्नीभक्त, जातिभक्त, देशभक्त और मानवताके भक्त होते हैं। कुछ पितृभक्त, मातृभक्त और प्राणिभक्त होते हैं। ये खण्ड-खण्डके भक्त हैं। इनकी भक्ति ज्ञान नहीं है। भगवान् कहते हैं : ‘मयि भक्तिज्ञानम्’ : इसका अर्थ है कि खण्ड-खण्डसे हटकर अखण्डमें लगे।

‘मयि’ : इसका अर्थ अर्जुन तीन प्रकारका करता है :

१. ‘दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।’—११।५१

मानवरूपमें रथके अग्रभागपर सारथि बने बैठे श्रीकृष्ण ।

२. ‘तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ।’—१४।४६

शंख, चक्र, गदा और पद्म लिये भगवान् वासुदेवका चतुर्भुज स्वरूप ।

३. वह विश्वरूप, जिसे अर्जुनने देखा था ।

अब प्रश्न यह है कि गीतामें भगवान् जब अपनेको ‘मैं’ कहते हैं, तब वे उतने ही हैं, जितने अर्जुनको दीखते हैं और उतना ही गीतामें ‘मैं’ के द्वारा

वतलाया गया है या उस 'मैं' से उससे अधिक अथवा भिन्न भी कुछ समझा जाना चाहिए ?

साथ ही यह भी प्रश्न है कि यहाँ 'मयि भक्तिः' में किसकी भक्तिका वर्णन है—भगवान्‌के द्विभुज रूपकी भक्ति, चतुर्भुज रूपकी भक्ति, विश्वरूपकी भक्ति अथवा अन्य किसी रूपकी भक्ति ? 'मयि' का क्या अर्थ है ?

गीताके इस तेरहवें अध्यायमें ही भगवान् अपनी परा और अपरा प्रकृतिका वर्णन कर आये हैं तथा कह आये हैं :

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ।

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय ॥—७।६

×

×

×

मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥—७।७

'अर्जुन ! सूत्रमें मणियोंके समान यह सम्पूर्ण विश्व मुझमें ओतप्रोत है। मुझसे परतर और कुछ भी नहीं है।'

यह भगवान्‌के 'मयि' का अर्थ है : सम्पूर्ण अपरा प्रकृति और परा प्रकृति (चेतन) का जो अभिन्न निमित्तोपादान कारण है, जिसमें जगत् एवं जीवका भी उदय-विलय होता रहता है, जिसके बिना न जीवकी सत्ता है, न जगत्‌की, भगवान् उस तत्त्वको कहते हैं—'मयि'। इस 'मयि' में भक्ति ज्ञान है। इस 'मयि' को जानने, अपनाने और मुझसे एक होनेकी तीव्रतम जिज्ञासाका नाम भक्ति है।

गीताके अध्याय बारहमें भगवान्‌ने कहा :

'ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।

सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥—१२।३

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।

ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥—१२।४

इन्द्रियोंके समूहको संयमित करके, सर्वत्र समान बुद्धि रखते हुए, सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें लगे हुए जो लोग अक्षर, अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वव्यापी, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल और अविनाशीकी भली प्रकार उपासना करते हैं, वे भी मुझे ही प्राप्त होते हैं।

यदि जो अक्षर, अचिन्त्य, निर्गुण ब्रह्म हैं, वही श्रीकृष्ण न होते तो निर्गुण ब्रह्मकी उपासनासे श्रीकृष्णके 'मैं' की प्राप्ति कैसे होती ?

'क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।

यो लोकत्रयमाविश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥'

गीता—१५।१६-१७

सम्पूर्ण भूत क्षर—विनाशवान् हैं। इनमें जो कूटस्थ है, वही अक्षर—अविनाशी कहा जाता है। जो उत्तम पुरुष इन क्षर-अक्षरसे अन्य—विलक्षण है, उसे परमात्मा

१०६]

[गीताका तेरहवाँ अध्याय]

कहा जाता है, वह अविनाशी, सर्वनियामक तीनों लोकोंमें प्रवेश करके सबको धारण करता है ।

यह अव्यय, ईश्वर, परमात्मा, क्षराक्षर—विलक्षण पुरुषोत्तम कौन है ? श्रीकृष्ण कहते हैं :

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।

अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥—गी० १५।१८

क्योंकि मैं क्षरसे अतीत हूँ और अक्षरसे भी श्रेष्ठ हूँ, अतः लोकमें और वेदमें भी पुरुषोत्तम नामसे मैं ही विख्यात हूँ ।

जो तीनों लोकोंमें प्रविष्ट होकर सबको धारण करता है, सबका भरण-पोषण-नियमनकर्ता है, स्वयं अविनाशी, समर्थ है, वह श्रीकृष्णका 'अहं' है ।

‘सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।

सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥—६।३१

सम्पूर्ण प्राणियोंमें स्थित जो मैं हूँ, उसका जो एकत्वमें स्थित होकर भजन करता है, एक अद्वितीय सत्ताका अनुभव करता है, वह योगी सर्वथा व्यवहारमें रहते हुए भी मुझमें ही व्यवहार कर रहा है ।

ऐसे परमात्माके प्रति भक्ति ज्ञान है । इससे अन्यत्वकी भ्रान्ति मिट जाती है । आत्मा परमात्मा एक ही हैं, यह बोध हो जाता है ।

श्रीकृष्णका जगत्के साथ क्या सम्बन्ध है और जीवके साथ क्या सम्बन्ध है, यह जानना चाहिए । इसमें श्रीकृष्णका जगत्के साथ क्या सम्बन्ध है, यह निर्णय हो जानेपर उनका जीवके साथका सम्बन्ध स्वयं स्पष्ट हो जाता है । वे कहते हैं :

‘मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ।

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।

भूतभृच्च च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥—९।४,५

सब भूत (प्राणी) मुझमें हैं, मैं उनमें अवस्थित नहीं हूँ । मेरे इस ऐश्वर्य-मय योगको देखो कि मुझमें भूत नहीं है । मेरा स्वरूप-मेरा आत्मा-मैं भूतोंका भरण-धारण करनेवाला होकर भी भूतोंमें नहीं हूँ ।

भूतों (प्राणियों) का होना अज्ञ पुरुषोंके लिए है । ये सब जड़-चेतन प्राणिदेह पञ्चमहाभूतोंसे बने हैं । अतः अज्ञ दृष्टिसे तो ‘मत्स्थानि सर्वभूतानि’ सब भूत मुझमें हैं; किन्तु तत्त्वज्ञकी दृष्टिमें ‘न च मत्स्थानि भूतानि’ मुझमें कोई भूत नहीं है ।

जबतक हम परमात्माको जानते नहीं हैं, तभीतक यह प्रपञ्च है । जाननेके पश्चात् प्रपञ्च नहीं रहता । ऐसा जो अखण्ड अद्वितीय परमात्मा है, ‘अखण्डे मयि भक्तिश्च ज्ञानं’ उस अखण्ड मुझमें भक्ति ज्ञान है ।

‘क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि’ यह इसी अध्यायमें भगवान् कह चुके हैं । पृथक्-

पृथक् शरीरोंमें जो पृथक्-पृथक् जीव जान पड़ता है, वह मैं ही हूँ। अन्तःकरणके भेदसे ही जीव-भेद भास रहा है। अन्तःकरण तो जगत्का अंग—क्षर है।

भक्तिका विषय परमात्माके अतिरिक्त अन्य न हो, यह बतलानेके लिए 'अनन्ययोग' कहा। भगवान् शङ्कराचार्य कहते हैं :

‘तमेतं वियोगमेवासन्तं योगमित्याचक्षते।’

वेदान्तमें वियोगको ही योग कहा जाता है : प्रकृति और प्राकृतसे, माया और मायिकसे द्रष्टाका वियोग होकर स्वरूपमें अवस्थान योग कहा जाता है।

‘तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।—६।२३

दुःखके संयोगसे जो आत्यन्तिक वियोग है, उसे योग जानना चाहिए।

‘अनन्ययोग’ : भक्तिमें योग तो है; किन्तु अन्ययोग नहीं है। यहाँ विषयकी अन्यताका निषेध करनेके लिए यह ‘अनन्ययोग’ आया है। भक्ति परमात्माके सिवा अन्यको अपना विषय नहीं बनाती।

‘अव्यभिचारिणी’ : कभी भक्ति रहे, कभी न रहे, ऐसा नहीं होना चाहिए। ‘अव्यभिचारिणी’से आश्रयकी अनन्यता बतलायी गयी है। यदि अभ्यास करके हम जाग्रत्में विषयरूपसे भगवान्की स्मृति बनाये भी रखें तो स्वप्नमें अन्य विषय मनमें आयेंगे। मान लें कि अत्यन्त अभ्यास करके स्वप्नमें भी हम विषयरूपसे भगवान् बनाये रखनेमें सफल हो जायँ तो भी सुषुप्तिमें तो बुद्धि-वृत्तियाँ ही सो जाती हैं। इसमें तो पातिव्रत्य धर्मकी हानि है कि पति जाग रहा है और बुद्धि रानी सो रही हैं। तब कुछ ऐसा होना चाहिए कि जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति सबमें भक्ति एकरस बनी रहे। वह कभी व्यभिचरित न हो। अखण्ड ज्ञान सुषुप्तिमें भी जागता है : अतः यदि वृत्ति ज्ञानसे अभिन्न हो जाय तो आश्रयसे अव्यभिचरित होगी। ज्ञानसे भक्ति पृथक् रहेगी तो एकरस नहीं रह सकती। इसीलिए भगवान्ने कहा :

‘मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।’

अपने मनको मुझमें रख दो। बुद्धिको मुझमें प्रविष्ट कर दो। अर्थात् मुझे मन और बुद्धिका आश्रय बनाओ—विषय मत बनाओ। मन-बुद्धिको ऐसेमें लगाओ जो सुषुप्तिमें तुम्हारे साथ रहे।

एक घोड़ेवालेने अपना घोड़ा बेच दिया। वह घोड़ा देकर लौटा तो खरीदनेवालेसे छूटते ही घोड़ा भागा और बेचनेवालेके पास आगया। ऐसे ही मन-बुद्धि सामनेवाले—विषयरूपमें स्वीकृत भगवान्को स्थायीरूपमें नहीं दिये जा सकते। ‘मैं’ से जो भगवान् एक हैं, उन आश्रयरूप भगवान्को देनेपर मन-बुद्धि कहीं नहीं जा सकते।

यहाँ भक्तिको परमात्माके ज्ञानका साधन कहा है। लोग सोचते हैं—‘भक्ति न करते और परमात्माको जान लेते तो पराधीनता भी न होती और ज्ञान हो जाता।’ लेकिन इस रीतिसे कोई और ज्ञान भले हो जाया; वेदान्तका ज्ञान तो नहीं ही हो सकता।

‘सर्वं दुःखं, सर्वं स्वलक्षणं, सर्वं क्षणिकं, सर्वं शून्यम् ।’

सब दुःख रूप है, सब स्वलक्षण है, सब क्षणिक है और सब शून्य है, इस बौद्ध-प्रक्रियासे विचार करो तो आपको दुःखका हेतु क्षणिकता, स्वलक्षण एवं शून्यता ज्ञात हो जायगी, किन्तु इस प्रक्रियासे आप अपनेको नहीं जान सकते । जो शून्यका ज्ञाता—साक्षी है, उसे आप नहीं जान सकते । आप पञ्चभूतोंको, उनके कारण अहंकारको, उसके कारण महत्त्वको, महत्त्वके कारण प्रकृतिको जान सकते हैं और यह भी जान सकते हैं कि प्रकृति कुछ नहीं है, शून्य है । लेकिन शून्यके द्रष्टा ‘स्व’को आप नहीं जान सकेंगे । आप यह नहीं कह सकते कि : ‘हम भी शून्य ही हैं ।’ क्योंकि ‘हम भी शून्य ही’ का द्रष्टा शून्य कैसे हो जायगा ?

‘शून्यं ससाक्षिकमसाक्षिकं वा ?’

शून्यका कोई साक्षी है या शून्य असाक्षिक है ? विना साक्षीका शून्य है तो वह अप्रमाण है—असिद्ध है । यदि उसका कोई साक्षी है तो शून्यके ज्ञानसे साक्षीका ज्ञान कैसे होगा ?

सम्पूर्ण संसार परिवर्तनशील है । सब पदार्थ अनैकान्तिक हैं, यह तुम जानते हो; किन्तु जो इस अनेकान्तको जानता है, उसे तुमने जाना ? वेदान्तकी यह प्रतिज्ञा है :

‘एकस्मिन् विज्ञाते सर्वं विज्ञातं भवति ।’

एकको जान लेनेसे सबका ज्ञान हो जाता है । अब यदि आप ईश्वरका—‘तत्’ पदार्थका विचार त्याग दें और केवल ‘त्वं’ पदार्थका विचार करें, तब क्या आप यह अनुभव करते हैं कि : ‘मैं ही सम्पूर्ण जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण हूँ ? मिट्टी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, देश और काल—इन सबको मैंने बनाया है ?’ इन रूपोंमें भी ‘मैं’ ही हूँ—इसे आप किस प्रकार अनुभव करेंगे ? जैसे घड़ेका उपादान मिट्टी है, वैसे ही घड़ेका उपादान मैं हूँ—यह आप अनुभव करेंगे तो वह उपादान दृश्य होगा और आप होंगे द्रष्टा । दृश्यसे द्रष्टा भिन्न होता है । अतः आप कभी भी अपनेको जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण अनुभव नहीं कर सकेंगे ।

यदि कहो कि—‘मैं जगत्का निमित्त कारण हूँ ।’ तब तो निमित्त कारण जगत्को बना रहा है, वह दृश्य होगा—आप तो द्रष्टा हैं । सांख्यके अनुसार प्रकृति-पुरुषका विवेक करके द्रष्टा-स्वरूपमें स्थित हो सकते हैं अथवा योग करके द्रष्टा-स्वरूपावस्थान कर सकते हैं; किन्तु ‘दृश्य भी मैं ही हूँ’ यह ज्ञान आपको नहीं होगा ।

आकाश : अवकाशमें गति (वायु) हुई । गतिमें घर्षण होनेसे उष्णता (अग्नि) उत्पन्न हुई । उष्णतासे द्रवत्व (जल) बना और द्रवके जमनेसे कठोरता (पृथ्वी) बनी । अवकाशमें गति, उष्णतादि उत्पन्न होनेका क्रम काल है । इन सबके लिए जो स्थान है, उसे देश कहते हैं । इन सबका उपादान है बुद्धि (महत्त्व), बुद्धिका उपादान है सबीज सत्ता (अव्याकृत-प्रकृति) । यह जगत्

जिसमें अव्याकृत दशामें रहता है, वह है 'तत्' पदार्थ । उसीमें जगत् व्याकृत होकर प्रकट भी होता है । जगत् रूप कार्य, इसके कारण तथा कल्पनाका भी जो अधिष्ठान है, उसे ढूँढो । साथ ही उसे ढूँढो जो देहेन्द्रियका साक्षी—द्रष्टा है । उस अव्याकृतकी उपाधिसे युक्त चैतन्य सच्चिदानन्द और इस अन्तःकरणकी उपाधिसे युक्त चैतन्य सच्चिदानन्द—दोनोंका पृथक्-पृथक् ठीक-ठीक विवेक कर लो । तब महावाक्य द्वारा उपाधिका नामरूप—व्याकृताव्याकृतका तिरस्कार करके जब शुद्ध सच्चिदानन्दको देखें तो जो 'त्वं' पदार्थ है, वही 'तत्' पदार्थ है । इसका फलितार्थ यह निकला कि 'तत्' पदार्थ ही प्रत्यक् चैतन्य होनेसे 'त्वं' पदार्थ हो गया है । यह द्रष्टा—चैतन्य, सद्गुण, चिद्गुण परमात्मासे एक होनेके कारण सम्पूर्ण जगत्का विवर्ती अधिष्ठान हो गया । इसकी अखण्डतामें जगत्की सत्ता बाधित हो गयी । इस प्रकार एकके विज्ञानसे सर्वके विज्ञानकी प्रतिज्ञा पूर्ण हो गयी ।

‘प्रकृतिश्च प्रतिज्ञाद्विद्वान्तापरोधात् ।’

प्रकृति भी ब्रह्म ही है, श्रुतिने जो एकके ज्ञानसे सर्वका ज्ञान होनेकी प्रतिज्ञा की है और 'मृत्तिकेत्येव सत्यं' (छा० ६।१।४) द्विद्वान्त दिया है, उसके कारण ।

तात्पर्य यह है कि अद्वैत बोधके लिए सम्पूर्ण जगत्का, उदयास्तमनका स्थान जानना आवश्यक है और उसका अपनेसे अभेद जानना आवश्यक है । प्रपञ्चका बाध होना आवश्यक है । यदि प्रपञ्चका बाध नहीं होगा तो सत्ताकी अद्वयताका बोध नहीं होगा । अतः पहले अन्यरूपसे जगत्के कारण ईश्वरका चिन्तन करके ('तत्' पदार्थका शोधन करके) तथा अपने साक्षी—द्रष्टा रूपका विवेक करके ('त्वं' पदार्थका शोधन करके) तब 'तत्त्वमस्यादि' महावाक्योंसे दोनोंका एकत्व अपरोक्ष होता है ।

‘मयि चानन्ययोगेन भक्तिः’ अर्जुनके सम्मुख उद्देश्य तो स्पष्ट है कि वह भक्ति है; किन्तु विधेय क्या है ? भगवान् अपने किस रूपकी भक्ति चाहते हैं ?

‘अहं सर्वस्य प्रभवः मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।

इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥’—१०।८

मैं सबका उत्पत्ति-स्थान और संचालक हूँ—ऐसा समझकर बुद्धिमान् भावपूर्वक मेरा भजन करते हैं ।

‘अहं सर्वस्य प्रभवः’ : मैं जगत्का उपादान कारण हूँ; जैसे घड़ेका उपादान कारण मिट्टी है और **‘मत्तः सर्वं प्रवर्तते’**—मैं ही जगत्का निमित्त कारण भी हूँ, जैसे घड़ेका निमित्त कारण कुम्हार है ।

जगत्के सम्बन्धमें न्यायशास्त्रने आरम्भवाद माना है कि ईश्वरपरमाणुओंसे सृष्टि करता है । सांख्यशास्त्र परिणामवाद मानता है : प्रकृति स्वयं रूपान्तरित हो रही है । वेदान्त कहता है : 'न होता है, न कर्ता है, केवल 'है' । जगत् अस्ति-भाति रूप है । ऐसा अस्ति जो भाति है और ऐसा भाति जो अस्ति है । अस्तित्वहीन भान नहीं और भानरहित अस्तित्व नहीं । यह भानरहित अस्तित्व—जड़सत्ताक नहीं है ।'

‘यूतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥’—१८।४६

जिससे सब प्राणियोंकी प्रवृत्ति होती है, अर्थात् जो सबसे पृथक् रहकर सबका प्रेरक है और ‘येन सर्वमिदं ततम्’ जो वस्त्रमें सूतके समान सबमें भरपूर है। मनुष्य अपने कर्मके द्वारा उसका अर्चन करके सिद्धि—सफलता प्राप्त करता है।

‘यूतः प्रवृत्तिः’ : जैसे अयस्कान्तमणि (चुम्बक) के सान्निध्यसे लौह-कणोंमें स्वयं गति आजाती है, इसी प्रकार जो स्वयं निष्क्रिय, निर्विकार रहता हुआ भी जगत्का प्रेरक है।

‘येन सर्वमिदं ततम्—येन सूत्रेण इदं सर्वं ततम् ।’

जिसके द्वारा यह सब व्याप्त है, जैसे सूतसे वस्त्र। अर्थात् इस जगत्का जो अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। गीतामें इस प्रकार अनेक स्थानोंपर परमात्माको जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण बतलाया गया है :

‘एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।

अहं सर्वस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥’—७।६

इन सम्पूर्ण भूतोंका उत्पत्ति-स्थान मुझे समझो। मैं ही सबका उद्गम एवं लयस्थान भी हूँ।

जगत्का जो यह अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है, उसके सम्बन्धमें विचार करना आवश्यक है। इसमें भक्ति आवश्यक है। जो भक्तिपूर्वक इस ‘तत्’ पदार्थका अनुसन्धान करता है, वह ‘तत्’ पदार्थके स्वरूपको जान जाता है और उसके स्वरूपको जानकर ‘त्वं’ पदार्थसे उसके अभेदको भी जान जाता है।

‘तं सप्रपञ्चमधिरूढसमाधियोगः,

स्वाप्नं पुनन भजते प्रतिबुद्धवस्तुः ॥’—भागवत ११।१३।३७

जिसे वस्तुका प्रतिबोध हो गया—अपने स्वरूपका ज्ञान हो गया, उसे अब अपनेमें प्रतिभातमात्र प्रपञ्च मरुस्थलके जलके समान ज्ञात हो गया। मृगतृष्णाके जलकी वास्तविकता जिसे ज्ञात हो गयी, वह क्या उसे लेने दौड़ेगा? जिसे सीपका बोध हो गया, वह क्या उसमें प्रतीत होती चाँदीसे धनी बन सकता है?

‘मयि’ : का अर्थ है अदेश, अकाल, जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण परमात्मा। उसका बोध होना चाहिए।

‘अनन्येनैव योगेन’ : उस परमात्माको छोड़कर किसी परिच्छिन्न तत्त्वको भक्तिका विषय न बनाया जाय।

‘अव्यभिचारिणी’ : भक्ति स्वयं अपने परिवर्तित न हो, उसमें वासना न हो तथा चाञ्चल्य भी न हो। ऐसी चंचलता तथा वासनासे रहित जगत्के अभिन्ननिमित्तोपादान कारण परमात्माकी भक्ति ज्ञान है।

ऐसी भक्तिके लिए स्थान चाहिए। भीड़-भाड़में तो ऐसी भक्ति बननेसे रही। अतः कहते हैं :

‘विविक्तदेशसेचित्त्व’ : देशमें विविक्तता—पृथक्ता होनी चाहिए। ‘विचित्र पृथक्भावे’ एकान्तमें रहनेका अभ्यास होना चाहिए।

मैंने वृन्दावनमें प्रातःकालीन वेदान्त-सत्संगके समय कहा था : ‘परमात्माके ज्ञानके लिए सत्संग-स्वाध्याय आवश्यक है। एकान्त सेवन उतना आवश्यक नहीं है।’

हम एकान्तमें बैठकर अपने मनसे जितना ध्यान, चिन्तन कर सकते हैं, वह अपने जाने हुए पदार्थका ही कर सकते हैं। नितान्त अज्ञातका ध्यान नहीं हो सकता। इसका अर्थ है कि ध्यान हमें कोई नयी वस्तु नहीं दे सकता। ध्यान वही देगा जो इस जन्म या पूर्वजन्ममें देखी, जानी, सुनी, पढ़ी या सोची वस्तु होगी। ध्यान उसमें मनको अधिक दृढ़—स्थिर कर देगा D

परमात्मा आपको कभी किसी इन्द्रियसे तो ज्ञात हुआ नहीं, न इस जन्ममें, न पिछले किसी जन्ममें। वह कभी मानसिक कल्पनामें भी नहीं आया; क्योंकि मनकी वहाँ गति नहीं। अतः जिसने वेदान्तके द्वारा परमात्माका स्वरूप जाना नहीं है, वह ध्यान या उपासना करने बैठेगा तो अपनी जानी-सुनी वस्तुको अथवा कल्पनाको ही पुष्ट करेगा।

यदि यथार्थ वस्तुका ज्ञान प्राप्त करके अपना अज्ञान दूर करना हो तो पहले यथार्थ वस्तुका ज्ञान प्राप्त करना पड़ेगा। फिर यदि ध्यानकी आवश्यकता हो तो वह करना होगा।

जब हम अन्यवस्तुका ज्ञान प्राप्त करते हैं तब उसको प्राप्त करनेके लिए हमें कुछ करना पड़ता है अथवा उस वस्तु तक जाना पड़ता है; किन्तु यदि हम अपने आपको जानते हैं तो अपनेको पानेके लिए तो न कहीं जाना है, न कुछ छोड़ना है, न कुछ करना है।

एक सज्जन २०-२५ वर्षसे एकान्तमें रहते थे। देशमें उनकी बहुत प्रतिष्ठा थी। वे न किसी महात्माके पास जाते थे, न कुछ अध्ययन करते थे। मैंने उनकी आलोचना कर दी : ‘इन्होंने २०-२५ वर्ष ध्यान करके मनको सूक्ष्म बना लिया तो इससे ज्ञान थोड़े ही हो गया। इसके लिए तो इन्हें मेरे अथवा मेरे किसी भाईके पास जाना होगा।’

मेरी यह आलोचना उनके श्रद्धालुओंको बहुत बुरी लगी; किन्तु बात समझनेकी है। ध्यानके पूर्व बुद्धिकी जितनी जानकारी रहती है, ध्यानके पश्चात् भी उतनी ही रहती है। किसी भी अज्ञात पदार्थका ज्ञान प्राप्त करना हो तो वह प्रमाणके द्वारा ही होगा। जैसे रूप देखनेके लिए नेत्र करण हैं, वैसे ही ब्रह्मको लक्षित करानेके लिए महावाक्य करण है, ध्यानमें करणत्व नहीं है। अतः ध्यानसे नवीन कुछ ज्ञात नहीं हो सकता।

‘विविक्तदेशसेचित्त्व’ : पहले विवेक करो कि यह देश—स्थान पवित्र है या नहीं। एक महात्मा मेरे समीप आये। मैंने पासके लोगोंसे उन्हें आसन देनेको कहा। उन महात्माने कहा : ‘मुझे ऊनका या रेशमका आसन दिया जाय, ऐसा कोई नियम मेरा नहीं है। मेरा नियम इतना ही है कि जिस

१०७]

[गीताका तेरहवाँ अध्याय]

आसनपर दूसरे बैठे हों, उस आसनपर औरोंके साथ एकासनपर मैं नहीं बैठता । अतः मुझे बैठनेके लिए कुशासन या टाटका टुकड़ा कुछ भी दे दो ।’

यह विविक्त आसन हुआ । व्यवहारमें आसनका पार्थक्य, रहनेमें सबसे पृथक् और मनमें जो देखे-सुनेकी भीड़ है, उससे पृथक् हो जाओ । आसनके सम्बन्धमें श्रुतिका निर्देश है :

‘समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते ।’

साधकके बैठनेका स्थान सम होना चाहिए । स्थान नीचा होगा तो वहाँ जल भरेगा और ऊँचा होगा तो वहाँसे गिरनेका भय होगा । वायुका वेग वहाँ अधिक रहेगा । वह स्थान पवित्र होना चाहिए । कंकड़-पत्थर, अग्नि या रेत वहाँ न हो । रेतीले स्थानपर वायु चलनेपर नेत्र-कर्णादिमें रेत उड़कर पड़ेगी ।

‘शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः ।

नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥’—६।११

गीतामें भगवान् ने कहा : साधकको पवित्र देशमें अपना स्थिर आसन लगाना चाहिए । वह न बहुत ऊँचा हो, न बहुत नीचा । नीचे कुछ विछावे, उसपर मृगचर्म और उसपर वस्त्र ।

‘समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।’—६।१३

शरीर समान रहे । मस्तक, ग्रीवा, शरीर एक सीधमें रहें और निश्चल—स्थिर रहे । इस प्रकार देह समान रहे और मन भी समतामें स्थित रहे ।

‘विविक्तदेशसेवित्वं’ : इसमें ‘विविक्त’ शब्द ‘शुचौ’के स्थानपर आया है । भजनका स्थान और आसन पृथक् रखो । उस स्थानपर, उस आसनपर न सोयें, न ही खायें, किसी सांसारिक वस्तुका न उपभोग करें, न वहाँ सांसारिक चर्चा करें । यह निश्चय कर दें : ‘इस आसनपर बैठकर ईश्वरका ध्यान-चिन्तन ही करेंगे । यहाँ दूसरी कोई सांसारिक बात नहीं करेंगे । यहाँ बैठकर न नौकरपर शासन करेंगे, न पत्नी या बच्चेको उपदेश देंगे या डाँटेंगे ।’ विविक्त देशका अर्थ है कि तत्त्वज्ञानके लिए ही वह स्थान पृथक् कर लिया गया है । ऐसा करना ज्ञानमें सहायक है ।

‘विविक्तदेशसेवित्वं’ : विवेकसे जो वस्तु सिद्ध हो वह विविक्त । विवेक करते-करते इस निश्चयपर पहुँचे कि जिसमें वृत्तियाँ उठती हैं, जिसमें बुद्धि स्फुरित होती है, जिसमें अहंकार स्थित है, जिसमें विचार जागता-सोता है, वह हृदय विविक्त देश है । अतः ‘विविक्त देशसेवित्व’का अर्थ हुआ, अन्तर्मुख हो जाना । अधिकसे अधिक हृदयदेशमें ही रहना ।

‘सुरति विरहुलिया छाई निज देस ।

जहाँ न सूरत, जहाँ न मूरत, पूरत धनी धनेस ॥’

‘विविक्तदेशसेवित्वं’ : जहाँ ईश्वर-चिन्तनकी सुविधा हो, वहाँ बैठो । कुछ लोग समझते हैं कि कई लोग मिलकर अध्यात्ममार्गमें प्रवेश कर सकते हैं । चार

व्यक्ति बैठे प्रतिदिन परस्पर चर्चा करते हैं। यह बात सहायक तो नहीं ही है, विघ्न भी है। यह अध्यात्मका मार्ग बाहरसे भीतर जानेका—अन्तर्मुख होनेका मार्ग है और सबके अन्तःकरणकी वासनाएँ पृथक्-पृथक् हैं। अतः सबको पृथक्-पृथक् ढंगसे ईश्वर-प्राप्तिके मार्गमें बढ़ना होगा। जब चार व्यक्ति चाहते हैं कि हम चारों अपने हृदयमें समानरूपसे ईश्वरका अनुभव करें तब सफलता दूर हो जाती है; क्योंकि चारोंके अन्तःकरणकी वासनाएँ तो समान नहीं हैं। चारोंकी बुद्धि समान नहीं है।

एक बार तीन-चार साधक एकत्र हुए। उनमें 'रामचन्द्रिका' के रचयिता महाकवि केशवदास भी थे। उन लोगोंने निश्चय किया : 'हम परलोकमें भी साथ ही रहेंगे। भगवान् भी मिलें तो सबको साथ मिलें।'

मरनेतक उन्हें भगवत्प्राप्ति हुई नहीं। वृद्धावस्था आगयी। अब वे सोचने लगे : 'मरनेपर भी हम साथ कैसे रहें ?'

कर्मकी गति ज्ञात होती नहीं ! कर्म-नियन्ता जीवको कहाँ और किस योनिमें भेजेगा, पहलेसे पता लगता नहीं; किन्तु वे लोग शास्त्रोंके पण्डित थे। वे परस्पर विचार करने लगे : 'हम ऐसे ढंगसे मरें कि मरनेपर भी हमारा साथ न छूटे।'

वे तीनों-चारों एक कुएँमें गिरकर मरे। आत्महत्या करनेके कारण प्रेत हुए। एक साथ वहीं रहने लगे। बहुत दिन पीछे गोस्वामी तुलसीदासजी रात्रिमें घूमते हुए उस कूपके समीपसे निकले तो कूपमेंसे आता शब्द उन्हें सुनायी पड़ा। उसमेंसे कवितामें रामचरित-वर्णनकी ध्वनि आ रही थी। गोस्वामीजी चौंके : 'यह कूपमें श्रीराम-चर्चाकी ध्वनि कैसी ? कौन महानुभाव हैं इसमें ?'

गोस्वामीजीने पुकारा। प्रेत उनके सम्मुख प्रकट हुए। उन्होंने रोकर अपनी इस अधोगतिका कारण बतलाया। अपने उद्धारकी प्रार्थना की। गोस्वामीजीने अनुष्ठान करके उन लोगोंको प्रेतयोनिसे मुक्त किया।

इसका तात्पर्य यह है कि सबके अन्तःकरणकी स्थिति—सबकी वासनाएँ भिन्न-भिन्न हैं। अतः सबके अन्तर्मुख होनेका ढंग, सबकी बात समझनेकी शैली भिन्न-भिन्न होती है। जिस आसक्तिपाशका त्याग करना है, वह सबका पृथक्-पृथक् होता है। अतः उसके त्यागका प्रयत्न सबको अपने-अपने ढंगसे पृथक्-पृथक् करना पड़ता है। इस चिन्तन-प्रयत्नके लिए दूसरोंसे पृथक् स्थान अपेक्षित है।

'विविक्तदेशसेवित्' : बहुतसे भोगी पुरुष भी एकान्तमें रहते हैं। वे अपने भोगराममें निमग्न रहते हैं। लोगोंसे मिलना पसन्द नहीं करते। ऐसे एकान्तसे काम नहीं चलेगा।

'अरतिर्जनसंसदि' : जनसंसदमें प्रीति न हो तब एकान्तमें रहो। प्रेम तो लोगोंसे है और रहते एकान्तमें हो। जिससे तुम्हारा प्रेम है, उसकी स्मृति तो बनी रहेगी। मनमें लोगोंकी भीड़ हो तो एकान्तमें रहनेपर भी तुम एकान्तमें कहाँ हो ? दूसरी ओर जनसंसदमें अरुचि तो हो : —भीड़ रुचे नहीं।

किन्तु एकान्तमें कभी बैठे नहीं तो भीड़में रहनेका दुःख ही बना रहेगा। अतः भीड़में रुचि न हो और रहें एकान्तमें, इसका नाम ज्ञान है। यह ज्ञानका साधन है।

‘अरतिर्जनसंसदि’ : जनसंसदमें जाना वर्जित नहीं है; किन्तु वहीं रम जाना वर्जित है। सड़कपर चलना अपराध नहीं है, वहाँ बसना अपराध है।

‘जायन्त इति जनाः’ : यह प्रपञ्च क्या है? जनसंसद है अर्थात् इसमें उत्पन्न होने, मरने—आने-जानेवालोंकी भीड़ लगी रहती है।

कोई सज्जन विदेशसे बम्बई आये। उन्होंने चर्चगेट स्टेशनका बोर्ड देखा और स्टेशनमें आने-जानेवालोंकी भीड़ देखी तो बोले :—‘अहो ! भारतमें ईसापर आस्था रखनेवाले इतने लोग हैं।’

स्टेशनका नाम ‘चर्चगेट’ देखकर उन्हें भ्रम हो गया कि यह किसी चर्चका गेट—द्वार है। इसी प्रकार लोग इस संसारमें आकर नाना प्रकारके भ्रमोंमें पड़े हैं।

यह जनता उत्पत्ति-मरणके चक्रमें पड़ी है। लोग तो दिनमें कई-कई बार जन्म लेते और मरते हैं। वृत्तिका उदय-विलय भी जन्म-मृत्यु ही है। हिन्दू धर्ममें तो उपनयनको एवं संन्यासको भी दूसरा जन्म मानते हैं। देहकी उत्पत्ति-नाश ही जन्म-मृत्यु नहीं है। नवीन भावकी उत्पत्ति और पूर्वभावका विलय भी जन्म-मृत्यु है। इस जन्म-मृत्युके चक्रमें पड़ी जो भीड़ है :—इसमें अरति, इसमें आसक्तिका न होना, यह ज्ञान है।

‘अरतिर्जनसंसदि’ : परमहंस श्री रामकृष्णजी एक दृष्टान्त देते थे : ‘छोटा पौधा लगाते हैं तो उसकी रक्षाके लिए उसके चारों ओर बाड़ लगायी जाती है; किन्तु पौधेके बढ़कर वृक्ष बन जानेपर बाड़को हटा देना पड़ता है।’

संसारमें यह जो परिवार, जाति, सम्प्रदाय, सभा-संस्था, देश आदिके संगठन हैं, ये मनुष्यके रक्षक-पोषक हो सकते हैं; किन्तु अन्ततोगत्वा इस जन-संसदसे ऊपर उठना पड़ता है। इनके बन्धनको तोड़ देना आवश्यक है, तब परमात्माकी प्राप्ति होती है। अतः इनमें अरति होनी चाहिए।



● संगति

अब मुख्य अन्तरंग साधनकी बात कहते हैं। जनसंसदमें अरुचि, एकान्त देश-सेवन हुआ तो साधन-चिन्तनके लिए अन्तःकरणकी स्थिति हो गयी और 'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी' के सम्पन्न होनेसे 'तत्' पदार्थकी शुद्धि हो गयी। अब 'त्वं' पदार्थकी शुद्धिका प्रतिपादन भगवान् करते हैं :

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।

एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ ११ ॥

अध्यात्मज्ञानमें नित्यस्थिति तथा तत्त्वज्ञानके प्रयोजनको समझना यह (अबतक वर्णित बीस साधनोंका समुदाय) ज्ञान है और इससे जो विपरीत है, वह अज्ञान है ।

'अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं' : इसमें 'ज्ञाननित्यत्वं' ही क्यों नहीं कहा ? बात यह है कि संसारके जितने ज्ञान हैं : जो लोग वैज्ञानिक प्रयोगशालाओंमें सूक्ष्म-वीक्षण या दूरवीक्षण यन्त्रोंसे, अनेक अन्य प्रकारसे प्रयोग करके, अनुसन्धानके अनुभव प्राप्त करते हैं, उनका ज्ञान भी ज्ञान ही है। लेकिन एकको अनेक करनेवाले, एकमें अनेक रहस्य ढूँढ़नेवाले ज्ञानको विज्ञान कहते हैं और अनेकमें एकत्व दिखलानेवाली विद्याको ज्ञान कहते हैं। जो एक ज्ञानको विविधरूपसे दिखलाये, वह विज्ञान। नेत्र रूप देखते हैं, जिह्वा स्वादानुभव करती है, नासिका गन्ध बतलाती है, त्वचासे स्पर्श-बोध होता है और कर्ण हमें शब्दका ज्ञान कराते हैं। इन सब इन्द्रियोंमें जो एक है, वह ज्ञान है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये आते-जाते-बदलते रहते हैं और वह ज्ञान एकरस रहता है। शब्द आया और नष्ट हुआ; किन्तु ज्ञान नहीं नष्ट होता। शब्द आदि सबकी उत्पत्ति होती है; किन्तु ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती। ज्ञानकी उत्पत्ति होगी तो उस उत्पत्तिको कौन देखेगा ? वह ज्ञानसे दीखेगी या अज्ञानसे ?

दर्शनशास्त्रका नियम है कि ज्ञानका ज्ञान नहीं होता। वस्तुका ज्ञान होता है। ज्ञान तो तुम स्वयं हो। तुम जो अपनेको देह, अन्तःकरणादि जान रहे हो, यह मिथ्या ज्ञान है।

ज्ञानकी मृत्यु भी नहीं होती, क्योंकि ज्ञानकी मृत्यु होगी तो उसका और द्रष्टा कौन होगा ? अतः ज्ञान अजन्मा और अविनाशी है। ज्ञान देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न है। ज्ञानसे देश, काल और वस्तु सिद्ध होते हैं। देश, काल या वस्तुसे ज्ञान सिद्ध नहीं होता। ज्ञान निरपेक्ष, सत्तावान् एवं अनादि-अनन्त है। देश-कालसापेक्ष सत्तावान् अनादि-अनन्त हैं। ये देश-काल पर-प्रकाश हैं। ये स्वतन्त्र सत्तावान् नहीं हैं। अतः ये अपने अधिष्ठान ज्ञानमें अध्यस्त हैं।

विषयभेद, इन्द्रियभेद, देशभेद, और कालभेदसे ज्ञानमें भेद नहीं होता । ये विषय, इन्द्रिय, देश और काल तथा इनके भेद ज्ञानसे ही सिद्ध होते हैं । ऐसा ज्ञान 'मैं' हूँ—यह साधन है ।

'अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं' : बाहर कुछ है, इसका ध्यान मत करो । इन्द्रियाँ बाहर क्या-क्या दिखलाती हैं, इसके विचारमें मत लगे ।

'आत्मनि शरीरे एव इति अध्यात्मं' : शरीरके भीतर ज्ञान कैसे होता है ? नेत्र कैसे रूपका ज्ञान कराते हैं ? कर्ण कैसे शब्द सुनते हैं ? नासिका कैसे गन्ध-बोध कराती है ? त्वचासे स्पर्श कैसे जाना जाता है ? जीभ रसकी पहचान कैसे करती है ? मन बिना इन्द्रिय-सहयोगके कैसे मनोराज्य करता है ? बुद्धि कैसे सोचती है ? स्वप्न कैसे देखता है ? सुषुप्ति कैसे होती है ? सुषुप्तिको निर्विशेष रूपसे 'अहं' कैसे प्रकाशित करता है ? अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोशोंके भिन्न-भिन्न होनेपर भी एक ही ज्ञान इन पाँचों कोशोंमें कैसे रहता है ? महाभूत पाँच होनेपर भी इनका प्रकाशक ज्ञान एक ही कैसे है ? देहमें तो जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति, ये तीन अवस्थाएँ हैं; इनको एक ही ज्ञान कैसे प्रकाशित करता है ? साथ ही शरीरमें जो क्रियाएँ हो रही हैं—रक्त प्रवाहित होता है, श्वास चलती है, हाथ-पैर उठते हैं, संकल्प होता है, यह सब कैसे होता है ? इन सबका अन्वेषण करो । यह अध्यात्मज्ञान है ।

बाह्यज्ञान तो तुम्हें बहुत है । तुम रूस और अमेरिकाकी बातें बहुत जानते हो; परन्तु अपने शरीरके भीतर क्या-क्या है, क्या-क्या हो रहा है, कैसे हो रहा है, यह तुम जानते ही नहीं । यह तो—'दिया तले अँधेरा' है । इसे जानो । अनात्मासे आत्माका निषेध करके अपनेको पहिचानो । यह अध्यात्मज्ञान है । इसमें तुम्हारी नित्य-स्थिर स्थिति होनी चाहिए ।

'तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्' : तत्त्वज्ञानका क्या प्रयोजन है ? तत्त्वज्ञानसे लाभ क्या है ? इसे देखो-समझो, यदि हम जान जायँ कि यह विष है तो इस जान-कारीसे क्या लाभ होगा ? हम उसे नहीं खायेंगे । यदि हम जान जायँ कि मिश्री मीठी होती है तो उसे खायेंगे । संसारमें हेय-ज्ञान होनेपर उसका त्याग होता है और उपादेय-ज्ञान होनेपर उसका ग्रहण होता है । यदि हम जड़ीका ज्ञान प्राप्त करते हैं तो उसे ओषधिके काममें लेते हैं । इसी प्रकार यदि हमें तत्त्वज्ञान हो जाय तो उससे हमारा क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ?

'अनारोपिताकारत्वं तत्त्वम् ।'

आकारके आरोपसे पूर्व जो वस्तुका स्वरूप है, उसे तत्त्व कहते हैं । जैसे स्वर्णका तत्त्वरूप वह है जो हार, कंकण, कुंडल आदि आकार दिये जानेसे पूर्व है । इसीपर इस जगत्में स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, पानी-पत्थर आदि आकारोंकी कल्पनासे जो विनिर्मुक्त है, वह तत्त्व है । यह तत्त्वका ज्ञान व्यक्तिका ज्ञान नहीं है । श्रुति कहती है :

'तद्विज्ञानात् सर्वं विज्ञातं भवति ।'

● संगति

अब मुख्य अन्तरंग साधनकी बात कहते हैं। जनसंसद्में अरुचि, एकान्त देश-सेवन हुआ तो साधन-चिन्तनके लिए अन्तःकरणकी स्थिति हो गयी और 'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी' के सम्पन्न होनेसे 'तत्' पदार्थकी शुद्धि हो गयी। अब 'त्वं' पदार्थकी शुद्धिका प्रतिपादन भगवान् करते हैं :

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम् ।

एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥ ११ ॥

अध्यात्मज्ञानमें नित्यस्थिति तथा तत्त्वज्ञानके प्रयोजनको समझना यह (अबतक वर्णित बीस साधनोंका समुदाय) ज्ञान है और इससे जो विपरीत है, वह अज्ञान है ।

'अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं' : इसमें 'ज्ञाननित्यत्वं' ही क्यों नहीं कहा ? बात यह है कि संसारके जितने ज्ञान हैं : जो लोग वैज्ञानिक प्रयोगशालाओंमें सूक्ष्म-वीक्षण या दूरवीक्षण यन्त्रोंसे, अनेक अन्य प्रकारसे प्रयोग करके, अनुसन्धानके अनुभव प्राप्त करते हैं, उनका ज्ञान भी ज्ञान ही है। लेकिन एकको अनेक करनेवाले, एकमें अनेक रहस्य ढूँढ़नेवाले ज्ञानको विज्ञान कहते हैं और अनेकमें एकत्व दिखलानेवाली विद्याको ज्ञान कहते हैं। जो एक ज्ञानको विविधरूपसे दिखलाये, वह विज्ञान। नेत्र रूप देखते हैं, जिह्वा स्वादानुभव करती है, नासिका गन्ध बतलाती है, त्वचासे स्पर्श-बोध होता है और कर्ण हमें शब्दका ज्ञान कराते हैं। इन सब इन्द्रियोंमें जो एक है, वह ज्ञान है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये आते-जाते-बदलते रहते हैं और वह ज्ञान एकरस रहता है। शब्द आया और नष्ट हुआ; किन्तु ज्ञान नहीं नष्ट होता। शब्द आदि सबकी उत्पत्ति होती है; किन्तु ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती। ज्ञानकी उत्पत्ति होगी तो उस उत्पत्तिको कौन देखेगा ? वह ज्ञानसे दीखेगी या अज्ञानसे ?

दर्शनशास्त्रका नियम है कि ज्ञानका ज्ञान नहीं होता। वस्तुका ज्ञान होता है। ज्ञान तो तुम स्वयं हो। तुम जो अपनेको देह, अन्तःकरणादि जान रहे हो, यह मिथ्या ज्ञान है।

ज्ञानकी मृत्यु भी नहीं होती, क्योंकि ज्ञानकी मृत्यु होगी तो उसका और द्रष्टा कौन होगा ? अतः ज्ञान अजन्मा और अविनाशी है। ज्ञान देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न है। ज्ञानसे देश, काल और वस्तु सिद्ध होते हैं। देश, काल या वस्तुसे ज्ञान सिद्ध नहीं होता। ज्ञान निरपेक्ष, सत्तावान् एवं अनादि-अनन्त है। देश-कालसापेक्ष सत्तावान् अनादि-अनन्त हैं। ये देश-काल पर-प्रकाश हैं। ये स्वतन्त्र सत्तावान् नहीं हैं। अतः ये अपने अधिष्ठान ज्ञानमें अध्यस्त हैं।

विषयभेद, इन्द्रियभेद, देशभेद, और कालभेदसे ज्ञानमें भेद नहीं होता । ये विषय, इन्द्रिय, देश और काल तथा इनके भेद ज्ञानसे ही सिद्ध होते हैं । ऐसा ज्ञान 'मैं' हूँ—यह साधन है ।

‘अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं’ : बाहर कुछ है, इसका ध्यान मत करो । इन्द्रियाँ बाहर क्या-क्या दिखलाती हैं, इसके विचारमें मत लगे ।

‘आत्मनि शरीरे एव इति अध्यात्मं’ : शरीरके भीतर ज्ञान कैसे होता है ? नेत्र कैसे रूपका ज्ञान कराते हैं ? कर्ण कैसे शब्द सुनते हैं ? नासिका कैसे गन्ध-बोध कराती है ? त्वचासे स्पर्श कैसे जाना जाता है ? जीभ रसकी पहचान कैसे करती है ? मन बिना इन्द्रिय-सहयोगके कैसे मनोराज्य करता है ? बुद्धि कैसे सोचती है ? स्वप्न कैसे दीखता है ? सुषुप्ति कैसे होती है ? सुषुप्तिको निर्विशेष रूपसे ‘अहं’ कैसे प्रकाशित करता है ? अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोशोंके भिन्न-भिन्न होनेपर भी एक ही ज्ञान इन पाँचों कोशोंमें कैसे रहता है ? महाभूत पाँच होनेपर भी इनका प्रकाशक ज्ञान एक ही कैसे है ? देहमें तो जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति, ये तीन अवस्थाएँ हैं; इनको एक ही ज्ञान कैसे प्रकाशित करता है ? साथ ही शरीरमें जो क्रियाएँ हो रही हैं—रक्त प्रवाहित होता है, श्वास चलती है, हाथ-पैर उठते हैं, संकल्प होता है, यह सब कैसे होता है ? इन सबका अन्वेषण करो । यह अध्यात्मज्ञान है ।

बाह्यज्ञान तो तुम्हें बहुत है । तुम रूस और अमेरिकाकी बातें बहुत जानते हो; परन्तु अपने शरीरके भीतर क्या-क्या है, क्या-क्या हो रहा है, कैसे हो रहा है, यह तुम जानते ही नहीं । यह तो—‘दिया तले अँधेरा’ है । इसे जानो । अनात्मासे आत्माका निषेध करके अपनेको पहिचानो । यह अध्यात्मज्ञान है । इसमें तुम्हारी नित्य-स्थिर स्थिति होनी चाहिए ।

‘तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्’ : तत्त्वज्ञानका क्या प्रयोजन है ? तत्त्वज्ञानसे लाभ क्या है ? इसे देखो-समझो, यदि हम जान जायँ कि यह विषय है तो इस ज्ञानकारीसे क्या लाभ होगा ? हम उसे नहीं खायेंगे । यदि हम जान जायँ कि मिश्री मीठी होती है तो उसे खायेंगे । संसारमें हेय-ज्ञान होनेपर उसका त्याग होता है और उपादेय-ज्ञान होनेपर उसका ग्रहण होता है । यदि हम जड़ीका ज्ञान प्राप्त करते हैं तो उसे ओषधिके काममें लेते हैं । इसी प्रकार यदि हमें तत्त्वज्ञान हो जाय तो उससे हमारा क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ?

‘अनारोपिताकारत्वं तत्त्वम् ।’

आकारके आरोपसे पूर्व जो वस्तुका स्वरूप है, उसे तत्त्व कहते हैं । जैसे स्वर्णका तत्त्वरूप वह है जो हार, कंकण, कुंडल आदि आकार दिये जानेसे पूर्व है । इसीपर इस जगत्में स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, पानी-पत्थर आदि आकारोंकी कल्पनासे जो विनिर्मुक्त है, वह तत्त्व है । यह तत्त्वका ज्ञान व्यक्तिका ज्ञान नहीं है । श्रुति कहती है :

‘तद्विज्ञानात् सर्वं चिज्ञातं भवति ।’

उसके ज्ञानसे सबका ज्ञान हो जाता है ।

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तच्च चन्द्रमाः ।

तच्छुक्रश्च तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ॥

वही अग्नि है । वही सूर्य है । वही वायु है । वही चन्द्रमा है । वही शुक्र है । वही ब्रह्म है । वही अमृत—अविनाशी कहा जाता है । वह तत्त्व है । वह क्या है ? उसके ज्ञानसे क्या लाभ है, इसपर विचार करो ।

यह जो 'मैं'—'तुम', हिन्दू-मुसलमान, जातीयता-प्रान्तीयता, स्व-परका भेद है, यह भेद ही समस्त कष्टों एवं संघर्षका हेतु है । इन भेदोंसे ही जलन-द्वेष उत्पन्न होता है । इन बन्धनोंसे—भेदोंसे मोक्ष अभीष्ट है । मोक्षका अर्थ है कि संसारमें जो कुछ जन्म-मृत्यु, पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक, सुख-दुःख, अनुकूल-प्रतिकूल, अपना-पराया आदिका भेद है, वह छूट जाय । श्रुति कहती है :

आत्मलाभान्न परं विद्यते ।

आत्मलाभसे श्रेष्ठ कुछ है ही नहीं ।

यज्ज्ञात्वा न शोचति न काङ्क्षति ।

जिस (आत्मतत्त्व) को जानकर न शोक करता, न कोई कामना ही करता ।

मत्त्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ।

(अपनेको परमात्मासे अभिन्न) मानकर (अनुभव करके) धीर पुरुष हर्ष-शोकको त्याग देता है ।

परमात्माको जिसने जाना, वह हर्ष-शोकसे मुक्त हो जाता है । यह जीवन्मुक्ति है । यह सद्योमुक्तिका विलक्षण सुख है कि दुःख तुम्हारा स्पर्श नहीं कर सकता । इसके लिए तत्त्वज्ञान चाहिए ।

यह जो तुमने एक वस्त्र पहन रखा है, जिसे तुम शरीर कहते हो, इसे चाहे जो छू लेता है । एक अंगूठा दिखलानेसे, किसीके तनिक नेत्र टेढ़े करनेसे तुम्हारे हृदयमें आग भड़कती है । ऐसे दिन-रात चोट खानेवाले हृदयको ऐसा बनाना है कि संसारका कोई कष्ट तुम्हारा स्पर्श न कर सके । सम्पूर्ण बन्धनोंसे—राग-द्वेषसे मुक्ति हो । यह तत्त्वज्ञानसे होगा :

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।

यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥—६।१२

जिसे प्राप्त करके उससे बड़ा लाभ दूसरा कोई वह नहीं मानता और जिसमें स्थित होनेपर भारी दुःखके द्वारा भी विचलित नहीं किया जा सकता ।

तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम् ।—६।२३

दुःखके संयोगसे विमुक्त कर देनेवाली उस स्थितिको योग—तत्त्वज्ञान समझना चाहिए ।

(बाह्यपदार्थोंको महत्त्व न देना और तत्त्वज्ञानके प्रयोजन—मोक्षका चिन्तन करना, इसका नाम अध्यात्मज्ञान है।)

श्रीरामानुजाचार्यजी इस प्रसङ्गमें कहते हैं : 'जब पहले क्षेत्रका निरूपण करने लगे तब क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ ये दो विभाग भगवान् ने कर दिये। क्षेत्रमें महाभूत, अहंकार, महत्त्व, प्रकृति, इन्द्रियाँ और मनका वर्णन किया। इस क्षेत्रमें और सब तो अनात्मबुद्धिसे परित्याग करने योग्य हैं; किन्तु इसी क्षेत्रमें भगवान् ने ऐसी साधन-सामर्थ्य भी दी है कि उसे अपनाकर तुम्हें परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है। वह सामर्थ्य रहती है क्षेत्रमें; किन्तु परमात्माकी प्राप्ति तक जाती है। ये 'अमानित्व, अदम्भित्व आदि' क्षेत्रज्ञके धर्म नहीं हैं। ये परमात्माके धर्म भी नहीं हैं। ये रहते तो क्षेत्रमें हैं; किन्तु परमात्माकी प्राप्ति में उपयोगी हैं। जैसे खेतकी मिट्टी खादयुक्त हो तो वह अन्नोत्पादनमें उपयोगी होती है, वैसे ही जिस क्षेत्रमें ये अमानित्वादि साधन रहते हैं, वह क्षेत्र तत्त्वज्ञानमें उपयोगी होता है। अतः क्षेत्र-धर्म होनेपर भी इनका व्यक्तिमें रहना आवश्यक है। इस प्रकार इनका वर्णन भी क्षेत्रका ही वर्णन है।

(श्रीशंकराचार्यजीके मतके अनुसार ज्ञानमें धर्म, उपासना और योग परम्परा-साधन माने जाते हैं।) धर्म परिच्छिन्नताका आभूषण है। अन्तःकरणमेंसे पाप-वासना मिटाना और उसमें पुण्य-वासना जागरित करना धर्मका काम है। धर्म वस्तु या क्रियासे होता है, अतः यह बहिरंग साधन है। बाह्य वस्तु एवं बाह्य-क्रियाके आश्रयसे यह रहता है।

उपासना वस्तु या क्रियातन्त्र नहीं है। उपासना मनुष्यकी मनोवृत्तिको बाह्यक्रियामें नहीं लगाती। वह अपने भीतर ही परमात्मामें लगाती है। अतः यह उपासना अन्तरङ्ग क्रिया-प्रधान साधन है। यह भी अन्तःकरणमें अन्तरङ्ग ईश्वरकी प्रधानता उत्पन्न करती है।

योगाभ्यास चित्तको शान्त करता है। वह बहिरङ्ग द्रव्य एवं क्रियाप्रधान धर्म तथा अन्तरङ्ग क्रियाप्रधान उपासना—दोनोंको मिटाकर वृत्तिको शांत करता है।

इस प्रकार धर्म, उपासना एवं योग, इन तीनोंका अन्तःकरणके शोधनमें वहाँ तक उपयोग है, जहाँ तक विवेक-वैराग्यादि षट्सम्पत्तिकी उत्पत्ति हो। धर्म विवेकमें मुख्य हेतु है, उपासना वैराग्यमें मुख्य हेतु है और योग शम-दमादि साधन सम्पत्तिमें हेतु है। समाधानमें समाधि पर्यन्त योगका समावेश है। समाधि चित्तके विक्षेपकी निवारक है। उपासना ईश्वर और जगत्का विवेक करके जगत्के प्रति वैराग्य उत्पन्न करती है। धर्मानुष्ठान अवैध वस्तु एवं क्रियाके प्रति रुचि—पाप वासना—को निवृत्त करता है।

इन धर्म, उपासना और योगके फल विवेक, वैराग्य, शम-दमादि साधन-सम्पत्तिको अन्तरङ्ग साधन कहा जाता है। शंकर मतमें धर्म, उपासना और योगको परम्परा-साधन मानते हैं। विवेक-वैराग्यादिको बहिरंग साधन कहते हैं। बहिरंग इसलिए कि ये बुद्धिरूपी कारणका शोधन करते हैं। बुद्धिमें यदि

अश्रद्धा, चंचलता और वासना रहेगी तो वह परमात्माके चिन्तनमें नहीं लगेगी। अतः बुद्धिको अन्तर्मुख करनेमें जो साधन सहायक हैं, उन्हें बहिरङ्ग साधन कहते हैं। जो परमात्माके ज्ञानमें सहायक हैं, उन्हें अन्तरंग साधन कहते हैं। अन्तःकरणकी ईश्वरप्रवणता तो करणको ईश्वरमें लगाना है और श्रवण, मनन, निदिध्यासन, परमात्माके ज्ञानमें संशय, विपर्यय आदि जो बाधाएँ हैं उनको दूर करके, अज्ञानको दूर करनेवाली वृत्तिका मार्ग प्रशस्त करनेवाले हैं। 'तत्त्वमस्यादि' महावाक्य-जन्य वृत्ति ही अज्ञानको दूर करनेवाली साक्षात् साधन है। श्रवणमयी तात्पर्यनिश्चयात्मकवृत्ति ही अज्ञान-निवर्तक है। मननमयी वृत्ति संशय-निवर्तक है। निदिध्यासनमयी वृत्ति विपर्यय-निवर्तक है। अतः ये श्रवण, मनन और निदिध्यासन अन्तरंग साधन हैं। महावाक्य-जन्यवृत्ति अविद्या-निवर्तक है। शम-दमादि सम्पत्ति तो अन्तःकरणकी दोष-निवर्तक है। इस दोष-निवृत्तिमें धर्म, उपासना तथा योग सहायक हैं।

‘एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तं’ : यहाँ ‘ज्ञान’ शब्दका क्या अर्थ ?

ज्ञायते अनेनेति ज्ञानम् ।

जिसके द्वारा जाना जाय, वह ज्ञान। यह ज्ञान शब्दकी करणव्युत्पत्ति है।

‘ज्ञप्तिर्ज्ञानं’ : यह ज्ञान शब्दकी भाव-व्युत्पत्ति है। जानना ही ज्ञान है। यहाँ परमात्माके लिए ज्ञान शब्दका प्रयोग होता है, वहाँ यह भावव्युत्पत्ति होती है। जैसे :

ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ।—१३।१६

वह परमात्मा ही ज्ञान है, ज्ञेय है और ज्ञानसे जाना जाता है। वही सबके हृदयमें स्थित है।

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ।—तैत्ति० २।१।१

ब्रह्म सत्यं, ज्ञान एवं अनन्त है ।

‘विज्ञानमानन्दं ब्रह्म ।’—बृह० ३।१।२८

ब्रह्म विज्ञान एवं आनन्द है ।

‘ज्ञानं नाम ज्ञानसाधनं’ : यहाँ ‘एतज्ज्ञान’ में ज्ञानके साधनको ज्ञान कहा है। यहाँ ज्ञान शब्दका अर्थ ‘करण’ व्युत्पत्तिसे करना चाहिए; क्योंकि यह निर्विवाद बात है कि ज्ञान प्रमाणके द्वारा होता है। ये ‘अमानित्व, अदम्भित्वादि’ कौनसे प्रमाण हैं ? ये प्रमाण नहीं हैं, प्रमाणके सहकारी हैं। कोई निर्माण और अदम्भी हो सकता है और उसे ब्रह्मज्ञान न हो, यह भी हो सकता है। ये साधन वेदका रूप धारण करके ही ज्ञानमें सहायक होते हैं।

‘एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तं’ : लोकमें देखनेमें आता है कि घटके ज्ञानसे अग्निका ज्ञान नहीं होता और अग्निके ज्ञानसे घटका ज्ञान नहीं होता। घट-ज्ञान अग्निके अज्ञानका निवर्तक नहीं है। तब अमानित्वादिसे परमात्माका ज्ञान कैसे हो सकता है ?

इसमें विचार ग्रह करना चाहिए कि हमें यह जो संसारकी—जन्म-मरणकी प्राप्ति हुई है, वह घटके अज्ञानसे हुई है या अग्निके अज्ञानसे ? यह न तो घटके अज्ञानसे हुई है, न अग्निके अज्ञानसे । तब यह अपने अज्ञानसे हुई है ?

अपना अज्ञान तो किसीको होता नहीं ।

ईश्वरके अज्ञानसे हुई है ?

यह बात भी ठीक नहीं है । ईश्वरका अज्ञान संसारमें लगानेवाला कैसे होगा ?

सच बात तो यह है कि आत्माको ईश्वररूप न जाननेके कारण हम संसारी हो रहे हैं । आत्मा और ब्रह्मकी एकताका अज्ञान हमें संसारी बनाये हुए है । इस एकत्वके अज्ञानके कारण हम अपनेको पापी-पुण्यात्मा, सुखी-दुःखी, आवागमनवाला, परिच्छिन्न समझते हैं । यह सब भ्रान्तिका विलास है ।

वेदान्तशास्त्र कहता है—भ्रान्तिसे जो दुःख-दारिद्र्य प्राप्त हो रहा है, वह भ्रान्तिके मिटनेसे ही मिटेगा । भ्रान्ति केवल ज्ञानसे ही मिटती है :

‘ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ।—श्वेता० १।८

आत्मदेवको जानकर मनुष्य सब पापोंसे छूट जाता है ।

तमेव विदित्वा तिमृत्युमेति ।—श्वेता० ३।८

उस परमात्माको जानकर ही मनुष्य मृत्युसे पार होता है ।

तमेवं विद्वानमृत इह भवति—नृ० पू० १।६

विद्वान् इस प्रकार (आत्मासे अभिन्न) उस परमात्माको जानकर यहीं, संसारमें ही अमृत हो जाता है ।

इसका अर्थ है कि जब ज्ञानसे अमृतत्व प्राप्त होता है तो वह प्राप्त ही है । वह अप्राप्त क्यों लगता है ? अज्ञानसे—न जाननेसे । जब ज्ञानसे ही हम बन्धन-मुक्त होते हैं तब बन्धन अज्ञानसे ही है । श्रुति कहती है : ‘अस्ते ज्ञानान्न मुक्तिः ।’ ज्ञानके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकारसे मुक्ति होती ही नहीं । इससे सिद्ध है कि बन्धन अज्ञानसे ही है । किसका अज्ञान ? अपने ब्रह्मत्वका अज्ञान; क्योंकि अपनेको मनुष्य, बलवान्, विद्वान् अथवा निर्बल, अपठित जाननेसे तो मुक्ति होती नहीं । अपनेको देश, कालके भीतर मुक्त जाननेवाला भी अज्ञानी ही है; क्योंकि देश या काल उसे कभी बद्ध बनायेगा, कभी मुक्त । देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न, सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदशून्य ब्रह्मरूपसे जो अपनेको जानेगा, वह मुक्त होगा । यदि द्वैत रह गया तो : द्वितीयाद् वै भयं भवति—(बृह० १।४।२) द्वितीयसे : दूसरेकी सत्ता होनेसे भय होता है ।

अब प्रश्न यह है कि जब अपनेको ब्रह्मरूपसे जानना ही ज्ञान है, तब यहाँ अमानित्वादिको ज्ञान क्यों कहा ? इनमेंसे कोई एक ज्ञान है या सब मिलकर ज्ञान हैं ?

इनमेंसे कोई ज्ञान नहीं है। ज्ञानके सहकारी कारण होनेसे इनको ज्ञान कहा गया है। ये ब्रह्मज्ञानमें सहायक हैं, अतः इनका नाम ज्ञान है। जैसे श्रुति कहती है : 'आयुर्वै घृतम्' घी आयु है। इसका तात्पर्य है कि घी आयुके रक्षण-पोषण-वर्धनमें सहायक है।

१. 'अज्ञानं यदतोऽन्यथा' : इन अमानित्वादिके जो उलटे गुणधर्म हैं, वे अज्ञान हैं। अभिमानी बनोगे तो एक घेरेमें रहना होगा। यदि हिन्दुत्वका अभिमान है तो ईसाई-मुसलमानादिके तुम पृथक् हो। यदि ब्राह्मणत्वका अभिमान है तो क्षत्रिय, वैश्य, शूद्रसे पृथक् हो। इस प्रकार 'मानित्व' परिच्छिन्न करनेवाला होनेसे अज्ञान है और अपरिच्छिन्न, आत्मदृष्टि करनेवाला होनेसे 'अमानित्व' ज्ञान है।

२. अदम्भित्व : दम्भ होगा दूसरेको ठगनेके लिए। जिसे तुम ठगना चाहते हो, उससे पृथक् हो गये, यह अज्ञान हुआ। किसीको ठगना न चाहो, सबको अपना स्वरूप ही समझो, यह अदम्भित्व ज्ञान हुआ।

३. अहिंसा : किसीकी हिंसा करोगे, किसीको कष्ट दोगे तो यह तभी होगा, जब उसे अपनेसे भिन्न देखोगे। अन्यको अपनेसे भिन्न देखना अज्ञान हुआ। सबको अपना स्वरूप देखोगे तो हिंसा सम्भव ही नहीं। अतः अहिंसा ज्ञान हुई।

४. क्षान्ति : कोई तुम्हारा अपराध करे और उसे दण्ड देनेकी वृत्ति मनमें उठे तो वह तुमसे पृथक् हो गया। यह अज्ञान है। अपने हाथसे अपनेको चोट लग जाय तो क्रोध किस पर ? अतः अपराधीको भी अपना स्वरूप देखकर क्षमा कर देनेकी वृत्ति ज्ञान है।

५. आर्जव : कुटिलता—बनावट तो दूसरेके प्रति की जाती है। अतः कुटिलताकी प्रेरक भेदबुद्धि होनेसे कुटिलता अज्ञान है। सरलता—सहजता अपना स्वरूप है, अतः यह ज्ञान है।

६. आचार्योपासना : स्पष्ट बात है कि तत्त्वज्ञान तो उसके ज्ञातासे ही मिलेगा। अतः आचार्यसे विमुख रहना, उसकी सेवा न करना अज्ञान है। समझदारी—ज्ञान यही है कि ज्ञानीकी सेवा करके तत्त्वज्ञान उपलब्ध किया जाय।

७. शौच : मलिन रहना अज्ञान है। प्रत्येक समझदार व्यक्ति साफ सुथरा रहना चाहता है। स्वच्छता ज्ञान है। देह एवं अन्तःकरणके मलको बनाये रखना अज्ञान है और मलरूप आवरणको दूर करना ज्ञान है।

८. स्थैर्य : जैसे मलिन रहना अज्ञान है, वैसे ही चंचल बने रहना भी अज्ञान है। शरीरकी और चित्तकी चंचलता—विक्षेपको मिटाना ज्ञान है।

९. आत्मविनिग्रह : स्वयंको मनके पराधीन कर देना अज्ञान है और मनको अपने वशमें रखना ज्ञान है।

१०. इन्द्रियोंमें वैराग्य : मनके पराधीन रहना अज्ञान है तो इन्द्रियोंके पराधीन हो जाना भी तो अज्ञान ही है। इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त रहोगे तो

११७]

[गीताका तेरहवाँ अध्याय

इन्द्रियोंकी पराधीनता रहेगी ही। इन्द्रियोंके विषयोंसे विरक्त रहकर इन्द्रियोंको वशमें रखना ज्ञान है।

११. अनहंकार : परिच्छिन्न वस्तु या गुणको अपना स्वरूप मानकर परिच्छिन्न बन जाना अज्ञान है और परिच्छिन्नताका अहंकार त्याग देना ज्ञान है।

१२. जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधिमें दुःखदोषानुदर्शन : इससे बड़ा अज्ञान क्या होगा कि जन्म-मृत्यु, रोग-बुढ़ापेमें दुःख और दोष ही नहीं दीखता और तुम देहसे चिपके हो। ये दोष सदा दीखें-सदा इनको मन देखे तो यह ज्ञान होगा। यह सचाई समझनी होगी।

१३. आसक्ति : देह अथवा देहसे सम्बन्धित किसी तत्त्वमें आसक्त हो जाना अज्ञान है; क्योंकि देह तो तुम हो नहीं। अतः ज्ञान समझदारी है, परिच्छिन्न पदार्थोंकी आसक्तिका त्याग।

१४. अन्तर्भिवंग पुत्रदारगृहादिमें : देहमें तादात्म्य ही अज्ञान है तो पुत्र-स्त्री, घर-धनादिमें तादात्म्य कर लेना तो और प्रगाढ़ अज्ञान हुआ। इस तादात्म्यका त्याग ज्ञान है।

१५. इष्टानिष्टकी उपपत्तिमें नित्य समचित्त रहना : यह तुम्हारे वशमें ही नहीं है कि सदा अभीष्ट वस्तु, व्यक्ति एवं स्थिति मिलती रहे। कभी अनुकूल स्थिति मिलेगी और कभी प्रतिकूल। जो अपने वशमें नहीं, उसे लेकर क्षुब्ध या दुःखी होना अज्ञान है और प्रत्येक परिस्थितिमें चित्तको समान रखना ज्ञान है।

१६. अलग्न योगसे परमात्माकी अव्यभिचारिणी भक्ति : करोगे तो 'तत्' पदार्थका शोधन हो जायेगा, तत्त्वज्ञानके अधिकारी बनोगे। अतः यह भक्ति ज्ञान है। ऐसा नहीं करोगे तो ब्रह्मात्मैक्य ज्ञानसे वंचित रहोगे, यह अज्ञान है।

१७. विविक्त-देशसेचित्त : भीड़-भाड़में ही बने रहोगे तो न तत्त्व-चिन्तन होगा, न विवेक जागेगा। फिर तो आवागमनके चक्रमें ही पड़े रहोगे। अतः यह अज्ञान है और एकान्त-सेवन समझदारी-ज्ञान है।

१८. जलसंस्पर्धमें अरति : एकान्तमें रहो या भीड़में, लोगोंमें रुचि बनी रही तो चिन्तन लोगोंका होगा, आत्म-चिन्तन नहीं होगा। यह अज्ञान है। लोगोंकी भीड़में रुचि न हो, यह ज्ञान है।

१९. अध्यात्मज्ञानमें नित्य लगना : बहिर्मुख प्रवृत्ति ही बन्धनका हेतु है—अतः अज्ञान है। अन्तर्मुख प्रवृत्ति स्थिर हो, यह ज्ञान है।

२०. तत्त्वज्ञानके प्रयोजनको देखना : तत्त्वज्ञानसे विमुख होनेका अर्थ ही है संसार-चक्रमें पड़े रहना। यही मूल अज्ञान है। तत्त्वज्ञानके प्रयोजनको जाननेसे जिज्ञासाका उदय होगा, अतः यह ज्ञान है।



● संगति

अबतक जो बीस साधन भगवान् ने बतलाये वे ज्ञानके साधन होनेसे ज्ञान कहे गये। ये ज्ञान हैं अर्थात् इनको जीवनमें लाना समझदारी है। अब इनके द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है, उस वास्तविक ज्ञानका स्वरूप-निरूपण करते हैं। यह अब क्षेत्रज्ञका वर्णन है। क्योंकि भगवान् ने कहा था : 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि।'

यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या ज्ञानके लिए साधनकी अपेक्षा है? ज्ञान साधन-साध्य है? इसपर कहते हैं कि ज्ञानवृत्ति—ब्रह्माकार वृत्तिके उत्पन्न होनेमें तो साधनकी अपेक्षा है; किन्तु उत्पन्न वृत्तिको फल देनेमें—मुक्ति देनेमें साधनकी अपेक्षा नहीं है। ज्ञानकी उत्पत्तिमें तो धर्म, उपासना, योग, षट्सम्पत्ति, श्रवण, मनन, निदिध्यासन रूप साधन अपेक्षित हैं; परन्तु ज्ञानसे मोक्ष होनेमें साधन अपेक्षित नहीं है। कुछ महापुरुष कहते हैं : 'वृत्तिज्ञानमें भी साधनोंकी अपेक्षा नहीं है। जैसे कोई सो रहा है और तुमने पुकारा : 'देवदत्त ! उठो !' वह उठ गया। अब प्रश्न यह है कि वह पहले जाग गया, तब तुम्हारा शब्द उसने सुना या तुम्हारा शब्द सुनकर जागा? यदि तुम्हारा शब्द सुनकर जागा तो उसने सुषुप्तिमें शब्द सुना कैसे? और जागकर शब्द सुना तो वह जाग तो पहले ही गया था। इसमें विवरणकारका मत है :

‘शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वात् विज्ञस्तन्मोहहानतः ।’

अचिन्त्य शब्दशक्तिसे उसका मोह नष्ट हुआ। ऐसे ही 'तत्त्वमस्यादि' महावाक्यमें अचिन्त्य शक्ति है। वाचस्पति मिश्रके मतसे समझदारीपूर्वक महावाक्य-जन्यवृत्ति अविद्या-निवर्तक है, केवल महावाक्य नहीं। अज्ञान चाहे महावाक्यसे मिटे या तज्जन्य वृत्तिसे, वहाँ तो कर्म, उपासना और योग हैं नहीं। धर्म, उपासना, योग, जिज्ञासा तथा श्रवण, मनन, निदिध्यासन भी नहीं हैं। जिन धर्म, कर्म, उपासना, योगसे पापनाश एवं संसारके विषयोंसे वैराग्य हुआ और परमात्माके विषयमें जिज्ञासाका उदय हुआ, उनकी महत्ता इस जिज्ञासाके जागरणमें है। समुग्र परमात्माकी प्राप्तिमें ध्यानपक्ष स्वतन्त्र साधन है और निर्गुण परमात्माकी प्राप्तिमें ज्ञानपक्ष स्वतन्त्र साधन है। यहाँ ध्येय ब्रह्म नहीं, ज्ञेय ब्रह्मका प्रतिपादन है। यह तद्राकार वृत्तिसे उत्पाद्य नहीं, स्वतःसिद्ध है, यह बतलाते हैं :

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते ।

अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ १२ ॥

(अब) जो ज्ञेय है, उसका वर्णन करता हूँ । जिसे जानकर अमृतका उपभोग (जाननेवाला) करता है । (वह) ब्रह्म अनादि और मत्पर है । उसे न सत् कहा जाता, न असत् ।

ज्ञेयं : ज्ञेय = जानने योग्य । जानने योग्य परमात्मा ही है । संसारमें और कुछ जानने योग्य नहीं है । ज्ञेयका अर्थ है ज्ञानका विषय होना । जैसे—मैं जाननेवाला हूँ । नेत्र जाननेका साधन—ज्ञानका करण है और यह घड़ी जानी जा रही है । यह ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयकी त्रिपुटी है । इस अर्थमें यहाँ 'ज्ञेय' शब्दका प्रयोग नहीं है; ज्ञानका विषय ज्ञेय अन्य होता है । प्रमाता-प्रमाण-प्रमेयकी त्रिपुटीमें जो 'प्रमेय' शब्द है, वह यहाँ 'ज्ञेय' नहीं कहा जा रहा है ।

‘ज्ञानविषयत्वं ज्ञेयत्वम् ।’

ज्ञानका विषय ज्ञेय, यह अर्थ यहाँ नहीं है । यहाँ अर्थ इस प्रकार है :

‘ज्ञातुं योग्यं ज्ञेयम् ।’

ज्ञेय वह जो जानने योग्य है । यह 'ज्ञेय' शब्द हमारे ज्ञानकी कर्तव्यताका सूचक है :

‘आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ।’

बृह० २।४।५; ४।५।६

अरे ! आत्मा ही देखने, सुनने, मनन करने और निदिध्यासन करने योग्य है ।

इस श्रुतिमें 'द्रष्टव्यः' जिस अर्थमें है, उसी अर्थमें गीतामें यहाँ 'ज्ञेय' शब्दका प्रयोग है ।

संत ज्ञानेश्वरजीने अपनी टीकामें कहा : यहाँ 'ज्ञेय' शब्द उपाधका सूचक है :

यतो ज्ञानं विनान्येनोपायेन नोपलभ्यते ततो ब्रह्माभिधेयं तद्वस्तु ज्ञेयमितीर्यते :

क्योंकि ब्रह्माभिधेय वह वस्तु ध्येय या उपास्य नहीं है, आत्मस्वरूप होनेके कारण केवल ज्ञानगम्य है, अन्य किसी उपायसे वह उपलब्ध नहीं होती, अतः उसे 'ज्ञेय' कहा गया है ।

‘यत्तद्’ : ये शब्द उस ज्ञेयतत्त्वकी अनिर्वचनीयताके सूचक हैं :

‘यत् ज्ञेयं तत् प्रवक्ष्यामि ।’

जो 'ज्ञेय' है, उसे कहता हूँ ।

‘प्रवक्ष्यामि’ : ‘वच्’ धातुसे भविष्यत्कालिक क्रियामें प्रवक्ष्यामि बनता है और ‘वह्, प्रापगो’ धातुसे भी भविष्यत्कालिक क्रियामें प्रवक्ष्यामि शब्द बनता है ।

प्रवक्ष्यामि : 'प्रकृष्टं वक्ष्यामि'—उत्कृष्ट वर्णन करूँगा । अथवा मैं हाथमें लेकर वह तत्त्व तुम्हें दे दूँगा ।'

'ज्ञेय'—इसी जीवनमें वह अवश्य जानने योग्य है, क्योंकि श्रुति कहती है :

न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।—केन० १३

इस जीवनमें ही उसे नहीं जान लिया तो महान् विनाश हुआ ।

यदि जीवनको सफल करना चाहते हो तो परमात्माको जानो । इसी जीवनमें उसे नहीं जान लिया तो जन्म-मृत्युके चक्करमें पड़े रहोगे । अतः परमात्माका ज्ञान इसी जीवनमें अवश्य प्राप्त करना है ।

यह ज्ञान कैसे प्राप्त होगा ?

'प्रवक्ष्यामि' : भगवान् कहते हैं—'मैं बतलाऊँगा ।' उसको जाननेका मुख्य साधन श्रवण है । अतः 'मैं उसका प्रवचन करूँगा । तुम श्रवण करो ।'

आत्मा वा अरे श्रोतव्यः ।

यह आत्मा श्रवणका विषय है । संशय हो तो मनन करो । विपर्यय हो तो निदिध्यासन कर्तव्य है । यदि संशय और विपर्यय न हो तो केवल श्रवणमात्रसे इसका साक्षात्कार हो जाता है । अतः—'प्रवक्ष्यामि ।'

जब अन्यवस्तुका ज्ञान होता है, तब जाननेके पश्चात् भी उसको पाना शेष रह जाता है । अतः उसे पानेके लिए कर्म, ध्यान अथवा उपासना करणीय होती है; परन्तु अनन्त, अपरिच्छिन्न, स्वरूपभूत ब्रह्मका जब ज्ञान होता है तब ज्ञानानन्तर कोई कर्तव्य शेष नहीं रहता । जहाँ जानना और पाना एक ही है, उसका नाम आत्मा है । जहाँ जानना और पाना दो हैं, उसका नाम अनात्मा है । ज्ञान और प्राप्ति यहाँ दो नहीं, अतः श्रवणमात्रसे ज्ञान होगा ।

प्रश्न : ठीक है, आप प्रवचन करेंगे और हमें सुनने मात्रसे उसका ज्ञान हो जायेगा; किन्तु उसे जानकर होगा क्या ? उस जानकारीका कोई उपयोग, कोई लाभ है या नहीं ? इसका उत्तर भगवान् दे रहे हैं :

'यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते' : जिसको जानकर तुम अमृतका आस्वादन करोगे ।

यहाँ 'अश्नुते' खानेके अर्थमें नहीं है । भोजनार्थक धातुसे 'अश्नाति' बनता है । यहाँ अर्थ है 'अश्नुते व्याप्नोति' तुम अमृतमें व्यापक हो जाओगे । अमृत तुम्हारा स्वरूप हो जायेगा । तुम स्वयं अमृत हो जाओगे । तुम वह हो जाओगे कि संसारी लोग तुम्हारा ध्यान, नाम-स्मरण करके अपना कल्याण कर सकेंगे ।

'यज्ज्ञात्वा' : जिसको जानकर अमृतत्वकी प्राप्ति होती है । इसका तात्पर्य है कि अमृतत्वकी जो अभी अप्राप्ति है, वह अज्ञानमात्र है । जैसे कोई राजकुमार अपनेको कंगाल मानकर दुःखी हो रहा हो । है तो वह राजकुमार; किन्तु अपनेको राजकुमार नहीं जानता, यही उसके दुःखका हेतु है ।

श्रीकृष्णके पुत्र प्रद्युम्नको सूतिका-गृहसे ही शम्बरासुर हरण करके ले गया । [शम्बर=आडम्बर=माया] शं अर्थात् शान्तिरूप परमात्माको जो

आवरणमें डाल दे। श्रीकृष्ण (परमात्मा) के पुत्र—जीवका हरण यही करता है] शम्बरासुरने प्रद्युम्नको समुद्रमें डाल दिया। वहाँ उस शिशुको एक बड़े मत्स्यने निगल लिया। उसी दिन वह मत्स्य मछली मारनेवालोंके जालमें पड़कर पकड़ा गया और उसे उन लोगोंने शम्बरासुरको ही भेंटमें दे दिया। असुरके रसोई-घरमें पेट फाड़नेपर मत्स्यके पेटसे बालक निकला। भगवान् शिवने जब श्रीकृष्णके पुत्र-रूपमें उत्पन्न होगा। यह भी वतला दिया था कि रतिको उसका पुत्र शम्बरके घरमें मिलेगा। तबसे रति मायावती नाम रखकर उस असुरके घर रहती थी और उसके भोजनालयकी अध्यक्षा बन गयी थी। रसोइयोंने वह मत्स्यके पेटसे निकला शिशु अपनी अध्यक्षाको दे दिया। मायावतीने अपने पतिको पहचान लिया और उसका पालन करने लगी।

प्रद्युम्न बड़े हुए। लेकिन वे तो मायावतीको अपनी माता और शम्बरासुरको अपना पिता समझते थे। वे समझते थे : 'मुझे दानव-कुलका धर्म सीखकर उसका पालन करना चाहिए।'।

एक दिन मायावतीने वतलाया : 'आप शम्बरके पुत्र नहीं हैं। आप तो द्वारकानाथ श्रीकृष्णचन्द्रके पुत्र हैं। यह शम्बर तो आपका शत्रु है। मैं आपकी जन्म-जन्मकी पत्नी हूँ।'।

अब प्रद्युम्नको अपने स्वरूपका ज्ञान हुआ। उन्होंने शम्बरासुरको ललकारा और युद्धमें मार डाला। मायावतीके साथ वे द्वारका लौट आये।

एक राजकुमारको डाकू वचपनमें ही उठा ले गये। उसका उन्होंने पालन किया। बड़ा होकर राजकुमारने समझा कि मैं डाकूका पुत्र हूँ। वह भी डकैती करने लगा। अचानक एक बार वह पकड़ा गया और पहचान लिया गया। यह पता लगते ही कि वह राजपुत्र है, वह स्वयं डाकूओंके उन्मूलनमें लग गया।

इसी प्रकार यह जीव इस शरीरके आडम्बरमें पड़कर अपनेको भूल गया है। यह समझता है : 'मैं परिच्छिन्न हूँ। मैं संसारी हूँ।' इसने जैसे ही अपनेको पहचाना वस, अमृतत्वकी प्राप्ति हो गयी।

'यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते' : इसके केवल ज्ञानसे ही अमृतत्वकी प्राप्ति हो जाती है। धर्मके द्वारा मृत्युके पश्चात् स्वर्गमें जाकर अमृतपान करनेको मिलता है। उपासनामें इष्टदेव कृपा करें तो उनके धामकी प्राप्तिरूप अमृतत्व मिलता है। ज्ञानके मार्गमें ज्ञान समकाल अमृत हो गये। अविद्यानिवृत्तिरूप मोक्ष हो गया। इस प्रकार अज्ञात आत्माका ही नाम ईश्वर है और ज्ञात आत्माका ही नाम ब्रह्मा है।

'यत् तत्' : 'अनिर्देश्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं निर्विशेषमित्यर्थः।'।

यत् तत्का तात्पर्य है कि वह अनिर्देश्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य, एकात्मप्रत्ययसार और निर्विशेष है।

मनुष्यका कर्तव्य है, परमात्माका ज्ञान प्राप्त करना। वह परमात्मा यद्यपि निर्विशेष है; किन्तु महावाक्यादि द्वारा जान लिये जानेपर उसके ज्ञानसे स्वतःसिद्ध मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

‘न सत्तन्नासदुच्यते’ : इसीका नाम निर्विशेष है। यदि वह ‘सत्’ होता तो ‘असत्’से विशेष होता और यदि ‘असत्’ होता तो ‘सत्’से विशेष होता। वह ‘सत्’से विशेष नहीं है, क्योंकि ‘असत्’ नहीं है और ‘असत्’से विशेष नहीं है, क्योंकि ‘सत्’ नहीं है। वह वचनका विषय नहीं है : ‘तदुच्यते’ ऐसा कहकर उसका वर्णन होता है। ‘अवचनेन प्रोवाच ।’

‘अनादिमत्’ : ‘न आदिर्यस्य स अनादिः, अनादिर्यस्यास्ति तत् अनादिमत् ।’

जिसकी आदि नहीं है, वह अनादि और यह अनादित्व जिसमें है, वह अनादिमत्। आदिमत् यह जगत् है। यह जन्म-मृत्युवान् है। यह आदिमत् जगत् जिसमें नहीं है, वह अनादिमत् परमात्मा है।

वह परमात्मा कैसा है ?

परं : प्रत्यक् है।

‘पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः ।’—कठ० ३।११

पुरुषसे परे कुछ नहीं है। वही सबकी काष्ठा और परम गति है।

‘परं’का अर्थ है अपरता आत्मा—ब्रह्म। देश, काल और वस्तुसे अपरिच्छिन्न, सजातीय-विजातीय-स्वगत-भेद-शून्य।

मत्परं ब्रह्म : वैष्णव इसका अर्थ इस प्रकार करते हैं :

अहं परं यस्मात् तत् मत्परं ब्रह्म ।

मैं परे हूँ जिससे, वह ब्रह्म अक्षर है और मैं पुरुषोत्तम हूँ।

ईश्वरका जब निरूपण करना पड़ता है, तब किसी न किसी कक्षामें अज्ञानको स्वीकार करना ही पड़ता है। ईश्वर कितना बड़ा ? नहीं जानते। ईश्वरकी आयु कितनी ? नहीं जानते। तुमको अज्ञान क्यों है ? नहीं जानते। अज्ञान कहाँसे आया ? नहीं जानते। अज्ञान कब आया ? नहीं जानते।

अज्ञानसे कालके अवयवकी सिद्धि होती है। कालके अवयवमें अज्ञानकी सिद्धि नहीं होती। अज्ञानसे देशकी सिद्धि होती है। देशके अवयवमें अज्ञानकी सिद्धि नहीं होती। अज्ञानसे वस्तुकी सिद्धि होती है। वस्तुके अवयवमें अज्ञानकी सिद्धि नहीं होती।

अन्ततोगत्वा होता यह है कि अज्ञान किसके विषयमें ? इसके उत्तरमें कहना पड़ता है : देश, काल और वस्तुसे अपरिच्छिन्नके विषयमें।

अज्ञान किसको ?

प्रश्नकर्ताको। अज्ञान आश्रय एवं विषयकी एकताके ज्ञानसे सिट जायेगा। जो अज्ञानका आश्रय है, वही अज्ञानका विषय भी है। जिसको अज्ञान

है, उसे अपने विषयमें ही अज्ञान है। ज्ञानके प्रकाशमें अज्ञान कहीं सिद्ध नहीं होता। अज्ञान-दशामें ही अज्ञान सिद्ध होता है।

‘अविद्याऽपि अविद्यामेवासित्वा प्रकल्प्यते ।
ब्रह्मदृष्ट्याऽविद्येयं न कथञ्चन विद्यते ॥
तद्ब्रह्मदृष्ट्याविद्येयं नासीदस्ति भविष्यति ॥’

अविद्या भी अविद्याका आधार लेकर ही कल्पित होती है। ब्रह्मदृष्टिसे तो अविद्या न थी, न है और न आगे कभी होगी।

श्रीउड़ियावावाजी महाराज कहते थे : ‘जब ब्रह्मका निरूपण ही नहीं हो सकता तो उसको कैसे समझायें’ : यह मत कहो। पहले यह निरूपण करके बतलाओ कि ब्रह्मका निरूपण कैसे नहीं हो सकता।’

ब्रह्मका नेत्रसे प्रत्यक्ष होना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार कर्ण, नासिका, त्वचा, रसनासे भी ब्रह्मका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। बुद्धिसे अनुमान करो तो जो अनुमानका विषय होगा, वह अनन्त नहीं हो सकता। समस्त प्रमाता-प्रमाण-प्रमेयका जो साक्षी है, उसे ब्रह्म बतलाना वेदान्तका लक्ष्य है। वह भीतर द्रष्टा और बाहर स्रष्टा है अथवा भीतर ही द्रष्टा-स्रष्टा दोनों रूपोंमें है। ‘त्वं’ पदवाच्यार्थ द्रष्टा और ‘तत्’ पदवाच्यार्थ स्रष्टाके एकत्वका वेदान्त प्रतिपादक है।

‘अनादिमत्परं ब्रह्म’ : ज्ञेय क्या है ? परंब्रह्म। जो सबसे परे हैं। गाँव या खेत नदीके परे हैं, यह देशका संस्कार है। एक वर्ष-दो वर्ष परे, यह कालका संस्कार है। कपड़ा घड़ेके परे रखा है, यह वस्तुका संस्कार काम कर रहा है। संस्कृतिकी बात करना कालके संस्कारकी बात है। भारतीय या पाश्चात्यपनेकी बात कहना देशकी बात है। इसी प्रकार हिन्दू-मुसलमान, सम्प्रदाय-भेद, पशु-मनुष्य जाति-भेद, धनी-निर्धन वर्ग-भेद हैं। ये वर्ग, जाति, सम्प्रदाय, देश, काल, वस्तुके भेद तो भेदके ही निरूपण हैं। परंब्रह्म क्या ?

‘अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्र च कृताकृतादन्यत्र भूताच्चभव्याच्च तत् सत्यमिति तद्वद ।’

धर्म-अधर्म, कृत-अकृत, भूत-भव्य सबसे जो विलक्षण है उस सत्यका वर्णन करो।

कार्य-कारण भाव वस्तुमें होता है, भूत-भव्य भाव कालमें होता है, धर्माधर्मभाव देशमें होता है, इन सबसे जो परे है, वह सत्य है।

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।

मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।

पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥

—कठ १।३।१०, ११

इन्द्रियोंसे उनके विषय परे हैं। विषयोंसे मन परे है। मनसे परे बुद्धि है। बुद्धिसे परे अहंकार है। अहंकारसे परे महत्तत्त्व है। महत्तत्त्वसे परे अव्यक्त

(प्रकृति) है। अव्यक्त (प्रकृति)से परे पुरुष है। पुरुषसे पूरे कुछ नहीं है। वही सीमा है। वही परम गति है।

गीतामें जहाँ-जहाँ 'ब्रह्म' शब्द आया है, वहाँ जगत्कारण रूपमें ब्रह्मका वर्णन है; किन्तु जहाँ ब्रह्मके पूर्व 'परं' शब्द आया है, वहाँ कार्यकारण-भावका निषेध हो जाता है :

ब्रह्मभूयाय कल्पते—१०।२६

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा—१८।५४

प्रकृतिको भी गीतामें ब्रह्म कहा गया है :

मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्—१४।३

तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता—१४।४

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च—१४।२७

वास्तवमें जो ब्रह्म है, उसमें तो न मातापन है, न पितापन। लेकिन गीतामें 'ब्रह्म' शब्द अनेक अर्थोंमें आया है :

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः—४।२४

जहाँ कार्य-कारणभाव नहीं है, उस तत्त्वके लिए भी 'ब्रह्म' शब्द आया है :

यान्ति ब्रह्म सनातनम्—४।३१

इसी प्रकार यहाँ यह 'अनादि मत्परं ब्रह्म' में 'ब्रह्म' शब्द प्रत्यक्चैतन्याभिन्न ब्रह्मका बोधक है :

परं : 'पुरुषान्न परं किञ्चित्' : में वर्णित पुरुष अर्थात् प्रत्यक् चैतन्य और ब्रह्म—श्रुत्युक्त अद्वयतत्त्व। यहाँ इस प्रकार आत्मा और ब्रह्मके एकत्वका प्रतिपादन है :

नासत्तन्नासदुच्यते : इसमें ब्रह्मके सत्-असत् होनेका निषेध है या उसके प्रवचनका निषेध है ? 'तत् न सत्, न असत्' यह कहना अभीष्ट है या 'तत् न सत् उच्यते, तत् न असत् उच्यते' यह कहना अभीष्ट है ?

इस श्लोकमें 'न' का अन्वय केवल 'उच्यते'के साथ है। सत् या असत्के साथ नहीं है। अतः 'न सदिति उच्यते, न असदिति उच्यते' इसका यह अभिप्राय नहीं है कि वह है ही नहीं। अभिप्राय है कि उसे न सत् कहा जा सकता, न असत् कहा जा सकता।

गीताकी दृष्टिमें परमात्मा सत् और असत् दोनों है :

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।

प्रभवः प्रलयस्थानं निधानं बीजमव्ययम् ॥—९।१८

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।

अमृतं चैव मृत्युञ्ज च सदसच्चाहमर्जुन ॥—९।१९

भक्त इसे भगवान्के द्वादश-लक्षण कहते हैं। भगवान् कहते हैं : 'मैं अमृत भी हूँ, मृत्यु भी। मैं अस्ति भी हूँ और नास्ति भी।

श्री वल्लभाचार्यजी कहते हैं : 'भगवान् परस्पर विरुद्धधर्माश्रय हैं।'।

१२५.]

[गीताका तेरहवाँ अध्याय]

श्री शंकराचार्यजीका कहना है : 'भगवान् परस्पर विरुद्धधर्माधिष्ठान हैं ।'
गीतामें तीन दृष्टियाँ हैं : १. भक्तदृष्टि २. भगवद्दृष्टि ३. तात्त्विकदृष्टि ।
भक्तदृष्टिसे अर्जुन कहता है :

‘सदसत् तत्परं यत्’

भगवान् सत् भी और असत् भी तथा सदसत् दोनोंका प्रकाशक एवं अधिष्ठान भी, ईश्वर ही सर्व है । भगवान् ने जो विराटरूप अर्जुनको दिखलाया, उसमें जीवित भीष्म, द्रोणादि भी थे और मृत भीष्म, द्रोणादि भी ।

दोका होना और न होना भी विराट ही है । सम्पूर्ण सृष्टि जब जीवित है, तब भी वही है और जब सब सृष्टि प्रलयके गर्भमें मृत है, तब भी वही है । भगवान् न जीवित हैं, न मृत । वे जीवन-मरण दोनोंसे ही विलक्षण हैं । श्रीकृष्णने अपनी उपासनाके लिए कहा : ‘सदसच्चाहमर्जुन ।’ इस प्रकार सबमें ब्रह्मदृष्टि करो । श्रुति तो सबको ब्रह्म बतलाती है :

‘अत्र ब्रह्मेत्युपासीत ।’

अत्र ब्रह्म है, इस प्रकार उपासना करे ।

भूरसि भूमिरसि

पृथ्वी भी परमात्माका रूप है ।

सलिलमासीदाप्रचेता इदं

इस प्रकार जल भी परमात्मा है ।

‘अग्निमीडे पुरोहितम् ।’

अग्नि भी ब्रह्म है ।

वायोस्त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासीः

वायु ! तुम प्रत्यक्ष ब्रह्म हो ।

कं ब्रह्म खं ब्रह्म

ब्रह्मसूत्रमें भो आकाशके लिए आया है :

आकाशस्तल्लिङ्गं

प्राणो ब्रह्मेत्युपासीत

प्राणकी ब्रह्मरूपसे उपासना करे । पहले अन्नको, अन्नमय कोशको ब्रह्म कहा था, अब प्राणमय कोशको ब्रह्म बताया ।

‘विज्ञानं ब्रह्म ।’

विज्ञान-विज्ञानमयकोश ब्रह्म है ।

‘मनो वै ब्रह्मेत्युपासीत ।’

मनोमयकोश ब्रह्म है ।

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्

आनन्दमयकोशको ब्रह्म समझना चाहिए ।

तात्पर्य यह कि सब ब्रह्म ही ब्रह्म है । यह उपासनाकी दृष्टि है ।
वामदेवने कहा :

‘अहं मनुरभवं सूर्यश्च ।’

भगवान् कहते हैं :

‘सदसच्चाहमर्जुन ।’

इसका तात्पर्य है कि शत्रुको शत्रु मत समझो । उसमें भगवान् हैं । धर्म, अधर्म, जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख सबको भगवद्रूप देखो । सृष्टिको भगवदात्मक बनाओ ।

बुद्धिमें दो प्रकारकी वृत्ति होती है : सत्-स्वरूप या असत्-स्वरूप । घट हो तो ‘घटः अस्ति’ यह ‘अस्तीति सत्’ वृत्ति बनेगी और घट न हो तो ‘घटो नास्ति’ यह ‘नासीदिति असत्’ वृत्ति बनेगी । ‘घट नहीं है’ इस वृत्तिमें अभाव है और ‘घट है’ इस वृत्तिमें भाव है । हमारी वृत्ति कभी अभावात्मक बनती है और कभी भावात्मक । अब ईश्वरको हम इनमेंसे किस रूपमें बोलें ?

जैसे घट नेत्र देख सकते हैं और देखकर कहते हैं कि ‘घट है’ वैसे क्या हम ईश्वरको देखकर कह सकते हैं कि ईश्वर है ? अथवा वृत्तिसे देखकर कह सकते हैं कि ईश्वर नहीं है ?

हम लोगोंका कहना है कि सृष्टिमें यदि कोई सबसे अधिक भावुक और श्रद्धाप्रधान व्यक्ति है तो वह नास्तिक है; क्योंकि उसकी खोज तो पूरी है नहीं, उसने अपना अभाव देखा नहीं और ईश्वरका अभाव मान लिया । तुम अपना अस्तित्व तो स्वीकार करते हो; किन्तु परमात्माका अस्तित्व स्वीकार नहीं करते, यह भावुकताके अतिरिक्त और क्या है ?

‘घड़ा है’ इसमें भी ‘है’ है और ‘घड़ा नहीं है’ इसमें भी ‘है’ है । यदि मैं नहीं होता तो घड़ा है या घड़ा नहीं है, यह किसे प्रतीत होता ? अतः आत्मानुगत जो वृत्ति है, वही विषयके अस्ति या नास्ति-पनेका निश्चय करती है । अर्थात् पहले आत्मा होगा, तब वह ‘घड़ा नहीं है’ इस वृत्तिका साक्षी होगा । अपना अभाव कोई कल्पित करे भी तो ‘मैं नहीं हूँ’ इस वृत्तिका साक्षी कौन होगा ? इसमें भी आत्मा साक्षी होगा । अतः अनुभवके क्षेत्रमें ‘अहं नास्मि इति न कश्चित्प्रतीयात्’ मैं नहीं हूँ, ऐसी प्रतीति किसीको कभी नहीं हो सकती । आत्मासे एक होकर ही ‘अस्ति’ या ‘नास्ति’ प्रत्यय होता है ।

तात्पर्य यह है कि हम प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे जैसे जानकर ही किसी पदार्थके सत् या असत् होनेका निश्चय करते हैं और यह निश्चय विषयके ही सम्बन्धमें होता है कि वह है या नहीं है, उसी प्रकार इन्द्रियादि प्रमाणोंके द्वारा हम परमात्माके सम्बन्धमें सत् या असत्का निश्चय नहीं कर सकते :

‘मैं हूँ’ ऐसा प्रत्यय तो सबको होता ही है; किन्तु ‘मैं नहीं हूँ’ ऐसा प्रत्यय किसीको कभी नहीं हो सकता । ऐसी अवस्थामें ‘मैं मर जाऊँगा’ ऐसी कल्पना आप क्यों करते हैं ?

इसलिए करते हैं कि हम दूसरोंकी मृत्यु अपने सामने देखते हैं ।

आप दूसरोंका मरना देखते हैं, यह बात भ्रमपूर्ण है। आप देखते तो हैं दूसरोंकी देहका ही मरना। अतः पहले अपनेको पहचान लीजिए, तब मृत्युका भय नहीं रहेगा।

उपनिषदोंमें परमात्माके प्रतिपादनकी शैली है :

‘दूरमथो विदितादविदितादपि ।’

विदित और अविदित एक ही वस्तु है। सत्ताकी दृष्टिसे जिसे ‘अस्ति-नास्ति’ कहते हैं, उसीको ज्ञानकी दृष्टिसे ‘विदित-अविदित’ कहते हैं और आनन्दकी दृष्टिसे उसीको सुख-दुःख कहते हैं। दुःख एवं दुःखाभावमें भी वही आनन्दस्वरूप स्थित है। विदित-अविदितमें वही ज्ञानस्वरूप स्थित है और सत्-असत्में वही सत्स्वरूप स्थित है।

दूसरेके विषयमें आप ‘अस्ति-नास्ति’का निर्णय दे सकते हैं; किन्तु अपने विषयमें आप ‘अस्ति-नास्ति’ का निर्णय नहीं दे सकते। जिसकी दृष्टिमें व्यष्टि-समष्टि दोनों अस्ति-नास्ति, विदित-अविदित, दुःख-दुःखाभाव नहीं है, वह सच्चिदानन्द स्वरूप परमब्रह्म आप हो।

आप किस वाणीसे ‘अस्ति-नास्ति’ कहोगे ? वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती या परावाणीसे ? वाणीकी तो उस परमात्मा तक गति ही नहीं है।

‘न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात् ।’

बृहदारण्यकोपनिषद्की यह श्रुति कहती है कि—वाणीकी जिज्ञासा न करे। वेदान्ततत्त्व वाक्की जिज्ञासा नहीं है कि यह वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती या परावाणी बोलती है।

‘वक्तारं विद्यात्’ जो वाणीकी उपाधिसे भीतर बैठकर बोल रहा है, उस वक्ताको जानो। क्या कहा जा रहा है, उसके सम्बन्धमें शंका हो सकती है। कही बात भूठी भी हो सकती है और सच्ची भी; किन्तु बोलनेवालेमें शंका नहीं हो सकती।

रासपञ्चाध्यायीमें गोपियोंका एक भाव है निम्न श्लोकमें :

‘यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग

स्त्रीणां स्वधर्ममिति धर्मविदस्त्वयोक्तम् ।

अस्त्येवमेतदुपदेशपदे त्वयीशे

प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा ॥’

गोपियाँ कहती हैं : ‘प्यारे श्यामसुन्दर ! तुम आज धर्मके बड़े भारी ज्ञाता बन गये हो और स्त्रियोंका स्वधर्म पति-पुत्र तथा उनके सुहृदोंकी सेवा वत्तला रहे हो, यह तुम्हारा उपदेश हमें तो तुम्हारे चरणोंमें ही सार्थक लगता है; क्योंकि आप ही समस्त शरीरधारियोंकी आत्मा हो।’

श्रीविश्वनाथचक्रवर्तीने इस श्लोककी टीकामें लिखा है : गोपियाँ कहती हैं : ‘नन्दनन्दन ! तुम हमें जो उपदेश दे रहे हो, उसमें शंका हो सकती है कि तुम ठीक कह रहे हो या नहीं; किन्तु तुममें बोलनेवालेमें तो शंका हो नहीं सकती।’

इसलिए हम तुम्हारी वाणीके अर्थसे प्रेम नहीं करतीं, वाणीके वक्तासे हमारा प्रेम है।

‘न सत्तन्नासदुच्यते’ : यदि बुद्धिके भीतर कोई ‘सत्’ आता है तो वह परिच्छिन्न होगा। बुद्धि भले व्यष्टिकी पृथक्-पृथक् न होकर समष्टि बुद्धि महत्तत्त्व हो; किन्तु उसमें भी जो आयेगा, वह उस समष्टि बुद्धिसे तो परिच्छिन्न ही होगा। जो बुद्धिके पीछे बैठकर बुद्धिको प्रकाशित कर रहा है, जो देशाकार, कालाकार, वस्त्वाकार, अर्हणाकार, शान्ताकार आदि समस्त बुद्धियोंका साक्षी है, जो स्वयंप्रकाश अधिष्ठान है, उसे बुद्धिवृत्तिसे ‘अस्ति’ या ‘नास्ति’ कैसे कहा जा सकता है।

इसलिए बुद्धिकी वृत्ति, अवस्था, स्वभाव, उपादानका ‘नेति-नेति’के द्वारा निषेध कर देनेपर जो शेष रहता है, वह अशेष-विशेष-निषेधावशेष परमात्मा है। बुद्धि उसे ‘सत्’ या ‘असत्’ कैसे कहे !

बुद्धि स्वयं सदसत्से अनिर्वचनीय है। बुद्धिका विषय भी सदसत्से अनिर्वचनीय है। ऐसी अवस्थामें जो बुद्धिसे परे रहकर बुद्धिका प्रकाशक एवं बुद्धिका अधिष्ठान है, उसे सत् या असत् कैसे कहोगे ?

भक्तदृष्टिसे सदसत् और उससे परे जो कुछ ज्ञाताज्ञातसे परे है, सब परमात्माका स्वरूप है।

भगवद्दृष्टिसे जो कुछ सदसत् है, सब भगवान्का अपना स्वरूप है।

स्वदृष्टिसे जो कुछ सद्वृत्ति या असद्वृत्तिका विषय है, स्वयं सद्वृत्ति और असद्वृत्ति तथा इन वृत्तियोंकी उपाधिमें जो अनुगत और इनसे व्यावृत्त है, सब अपनेसे अभिन्न है। आत्मसत्तामें ‘है’ या ‘नहीं बोलना’ अथवा वृत्तिसे पृथक् ‘हैं’ या ‘नहीं’को देखना तथा इससे भी विलक्षणपना अध्यस्त है।

‘न उच्यते’ प्रत्यक् होनेसे चैतन्य और अधिष्ठान होनेसे अद्वितीय ब्रह्म वर्णनका विषय नहीं है।

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि।

‘यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि।’ केन ४.५

मनसे जिसका मनन नहीं हो सकता, मन जिसके द्वारा प्रकाशित होता है, वह ब्रह्म है। उसे जानो। वाणीके द्वारा जिसका वर्णन सम्भव नहीं, वाणी जिससे प्रकाशित होती है, वह ब्रह्म है। उसे जानो।

‘न सत्तन्नासदुच्यते’ भगवान्ने बड़े दृढ़ स्वरमें तो घोषणा की : ‘ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि’ अब मैं ज्ञेयका प्रवचन करूँगा और लगे हाथ कह दिया : ‘उसे न सत् कहा जा सकता और न असत्।’ यह तो ऐसा ही हुआ जैसे कोई कहे : ‘मैं सिद्ध करूँगा कि यह नियम ऐसा है’ और फिर कह दे : ‘यह सिद्ध किया नहीं जा सकता।’

वात ऐसी नहीं है। भगवान्ने यहाँ जो कहा, वात वही ठीक है; क्योंकि उपनिषदोंमें ब्रह्मका निरूपण ‘नेति नेति’के द्वारा ही हुआ है। ब्रह्ममें प्रकार नहीं है। इस विषयमें पञ्चदशीकार कहते हैं :

वह परमतत्त्व 'ईदृक्' ऐसा है या वैसा है, इस प्रकार कुछ नहीं है। 'ऐसा-वैसा' की कल्पना तो मनमें होती है। इस श्लोककी व्याख्यामें महाभारतके टीकाकार नीलकण्ठजी कहते हैं : 'यह तो ऋग्वेदके मन्त्रका अनुवाद है।' ऋग्वेदका मन्त्र है :

'न सदासीन्नोऽसदाक्षीत्तदानीम् ।'

जगत्के मूलतत्त्वमें न अस्ति है और न नास्ति। दृश्य वस्तुके विषयमें ही 'अस्ति-नास्ति'का प्रयोग होता है। यह 'अस्ति-नास्ति'का प्रयोग बुद्धिप्रत्यय-विषयत्वको लेकर ही होता है। बुद्धिसे ब्रह्म ज्ञात होता तो कहते : 'ब्रह्म है या नहीं है। लेकिन सुषुप्तिमें जब बुद्धि सो जाती है, तब वह किसी विषयको अस्ति या नास्ति नहीं कहती। यह बुद्धि भी साक्षिभास्य है। साक्षी ही जानता है कि वह जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्था-विशेषसे विलक्षण है।

'ननु केन दृष्टः' वह अवस्था-विशेष किसके द्वारा देखा गया ?

जिस समय हम स्मृतिके द्वारा अनुमान करते हैं कि जाग्रत् एवं स्वप्नसे विलक्षण एक अवस्था सुषुप्ति है, उस अवस्थामें बुद्धि रहती है या नहीं ?

बुद्धि नहीं रहती तो उस अवस्थाकी स्मृति कैसे होती है ? यदि बुद्धि रहती है तो सुषुप्ति कैसी ?

उस सुषुप्ति-दशामें केवल साक्षी रहता है। वही सुषुप्तिको प्रकाशित करता है :

न तत्र माता न पिता न देवताः ।

वहाँ न माता रहती, है न पिता, न देवता। सुषुप्तिको तो साक्षी ही देखता है; किन्तु स्मृति तो बुद्धिमें होती है; क्योंकि बुद्धि और साक्षी पृथक्-पृथक् हैं, यह ज्ञान तुमको नहीं हुआ है। अतएव जाग्रत्-दशामें साक्षी बुद्धिसे तादात्म्य कर लेता है। अतः साक्षीद्वारा दृष्टको बुद्धि स्मरण करती है और बुद्धिकी स्मृतिको साक्षी अपनेमें आरोपित कर लेता है। इसीलिए तुम कहते हो : 'मुझे स्मरण हो रहा है कि मेरी सुषुप्ति-दशा थी।' सुषुप्तिमें अज्ञानकी निवृत्ति नहीं होती। साक्षी तो जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनोंसे विलक्षण है। श्रुति कहती है :

अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः

वह आत्मा अप्राण, अमना, निर्मल है। तात्पर्य यह कि वह अतीन्द्रिय है।

जैसे कहते हैं : 'प्रकाशते सूर्यः' सूर्य प्रकाशित कर रहा है। लेकिन सत्य यह है कि सूर्य प्रकाश-दानकी क्रिया नहीं करता। प्रकाशकत्व उसका सहज स्वभाव है। लोकदृष्टिसे उसमें प्रकाशकत्व आरोपित किया जाता है। इसी प्रकार ज्ञान-स्वरूप आत्मदेवका स्वरूप ही प्रकाशक है, उनमें प्रकाशनकी क्रिया नहीं है।

आत्मा बुद्धिके उदय-विलय दोनोंका साक्षी है। अतएव बुद्धिकी 'अस्ति-नास्ति' दोनों वृत्तियाँ अपने साक्षीके विषयमें नहीं हो सकतीं। साक्षी अप्राण, अमना, अवोद्ध है। वह बुद्धिके पीछे रहकर बुद्धिको प्रकाशित करता है। यह प्रकाशकत्व

ब्रह्मज्ञान और उसकी साधना]

भी उसमें उपलक्षणमात्र है। अतः यह अबौद्ध वस्तु बुद्धि-प्रत्ययका विषय नहीं हो सकती। उसे लखानेके लिए श्रुति आवश्यक है। 'तत्त्वमस्यादि' महावाक्य-जन्य वृत्तिके द्वारा ही इस अतीन्द्रिय, अमना, अप्राण, अद्वितीय वस्तुका साक्षात्कार सम्भव है।

इस आत्मतत्त्वको अनुभवका विषय भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि यह 'भव' के 'अनु' पीछे अवस्थित है। भवका अर्थ है इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि। 'भवन्ति इति भवः' जो होकर मिटते हैं। इनके पीछे विराजमान स्वतःसिद्ध स्वयंप्रकाश आत्मदेव हैं। ये अनुभाव्य नहीं हैं।

किसीने पूछा : 'आत्मानुभव किसे होता है ?'

अरे, समस्त अनुभवों एवं अनुभवोंके निषेधका जो द्रष्टा है, उसका नाम आत्मा है। उसका अनुभव किसे होगा ?

जो देशका द्रष्टा होनेसे अनन्त है, कालका द्रष्टा होनेसे अविनाशी है, वस्तुका द्रष्टा होनेसे वस्तुके भावाभावसे विनिर्मुक्त है, ऐसा अदेश, अकाल, अवस्तु, अतीन्द्रिय, अमना, अबौद्ध, सबके भावाभावका साक्षी आत्मा है। श्रीवाचस्पति मिश्रके शब्दोंमें :

'प्रपञ्च-भावाभावानुकूल-शक्त्यावच्छिन्न प्रत्यक्चैतन्याभिन्न ब्रह्ममें विवर्त प्रपञ्च हैं।'

प्रपञ्चके भावाभाव : सृष्टि-प्रलयके अनुकूल शक्ति अर्थात् मायासे अवच्छिन्न शक्ति ब्रह्म तो प्रत्यक् चैतन्यसे अभिन्न है। उसमें यह प्रपञ्च विवर्तित है। सम्पूर्ण अखण्ड ब्रह्ममें प्रपञ्च नहीं है। केवल मायावच्छिन्न ब्रह्ममें ही प्रपञ्च भासता है :

अस्थूलमनणुमदीर्घम् ।

ब्रह्म स्थूल नहीं है अर्थात् 'न स्थूलं जाग्रत्प्रपञ्चजातं यस्मिन् अस्थूलं' जाग्रत्में प्रतीत होनेवाला स्थूल जगत् उसमें नहीं है :

'नास्ति अणुः स्वप्नप्रपञ्चो यस्मिन् तत् अनणु ।'

अणु अर्थात् सूक्ष्म स्वप्न-प्रपञ्च जिसमें नहीं है वह अनणु कहा गया। ऐसा परम ब्रह्म परमात्मा है। वेद अशेष-विशेषका प्रतिरोध करके ही अवशेष अपने आत्माका प्रतिपादन करते हैं। सम्पूर्णका जब निषेध कर दिया जायेगा तब अपना आपा ही रहेगा; क्योंकि हम अन्यका ही निषेध कर सकते हैं। 'स्व' का निषेध करनेमें कोई समर्थ नहीं है :

'नेदं तदिति निषेधेनैव निर्दिश्यते वाचोऽगोचरत्वात् ।'

'यह वह नहीं है' इस प्रकार श्रुति 'नेति नेति' के द्वारा निषेध-मुखसे ही परमात्माका निर्देश करती है, क्योंकि वह वाणीका विषय नहीं है :

दूरमथो विदितादविदितादपि ।

इस श्रुतिमें विदितसे दूर कहकर उसे 'अस्ति' प्रत्ययका अविषय बतलाया

और अविदितसे दूर कहकर बतलाया कि वह 'नास्ति' प्रत्ययका भी विषय नहीं है ।

अब प्रश्न उठता है कि साक्षी सभी अन्तःकरणोंके पीछे बैठा लगता है तो यह एक है या अनेक ?

शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च ।

जीवनमें सहस्रों शोकके स्थान हैं और सैकड़ों भयके स्थान हैं । एक दिनमें ही अनेक बार भय अथवा शोक आते-जाते हैं । ये भय-शोक 'मूढमाविशन्ति' अज्ञानीको ही प्राप्त होते हैं । अर्थात् ये अज्ञानसे सिद्ध हैं । जहाँ-जहाँ जगत्में भय या शोककी कारणता है, वहाँ-वहाँ मूढ़ता सिद्ध है । एक तो व्यक्ति रोया—आनन्दसे वञ्चित हुआ और ऊपरसे उसे मूढ़ कह दिया अर्थात् वह चित्से वञ्चित हो गया । जो आनन्दसे वञ्चित है, वह ज्ञानसे भी वञ्चित है और जो आनन्द एवं ज्ञानसे वञ्चित है वह जन्म-मरणके चक्रमें बार-बार पड़ेगा—सत्से भी वञ्चित है । इस 'वञ्चित है' का अर्थ है कि अविद्याके कारण ही वह अपनेको दुःखी, अज्ञानी, जन्मने-मरनेवाला मान रहा है ।

'न सत्तन्नासदुच्यते' : जो वस्तु 'अस्ति' नहीं है, वह ज्ञेय कैसे होगी ?

इस 'न सत्' का अर्थ है कि वह 'अस्ति बुद्धि' का विषय नहीं है । उसे 'अस्ति' कह नहीं सकते । साथ ही वह 'नास्ति बुद्धि' का भी विषय नहीं है । अतः उसे 'नास्ति' भी नहीं कह सकते ।

यह पुष्प नेत्रका विषय है । नेत्रसे दीखता है । पुष्प नेत्रके द्वारा बुद्धिका विषय होता है । नेत्रका आश्रय है 'मैं' । परमात्माको ढूँढ़ना है तो नेत्रके विषयमें नहीं, नेत्रके आश्रयमें ढूँढ़ो । जैसे पुष्पके होने-न होनेका नेत्रपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, इसी प्रकार बुद्धिके होने-न-होनेका, बुद्धिके साक्षीपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता ।

जो वस्तु बुद्धिसे ज्ञात अथवा अज्ञात होती है, वह अन्य होती है । 'नास्ति' को कुछ दार्शनिक अभाव कहते हैं । वेदान्त अभावको पदार्थ नहीं मानता । नैयायिक अभावको पदार्थ मानते हैं । वे कहते हैं : 'घटाभाववद् भूतलम्' घटा-भाव पदार्थ न होता तो घटाभाववद् भूतल क्यों कहते ? वे कालमें प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव मानते हैं, देशमें अत्यन्ताभाव मानते हैं और वस्तुमें अन्योन्याभाव मानते हैं ।

घड़ा नहीं है : यह प्रागभाव है । घड़ा था; किन्तु फूट गया, यह प्रध्वंसा-भाव है । 'अस्मिन् देशे घटो नास्ति' इस देश-स्थानमें घड़ा नहीं है, यह अत्यन्ता-भाव है । 'घटः पटो नास्ति, पटः घटो नास्ति' घड़ा कपड़ा नहीं है और कपड़ा घड़ा नहीं है, यह अन्योन्याभाव है ।

वेदान्ती कहते हैं : अभाव अपने अधिष्ठानसे भिन्न नहीं होता । जैसे रज्जुमें प्रतीयमान सर्पका अभाव रज्जु ही है । इसी प्रकार प्रपञ्चका अभाव ब्रह्मसे भिन्न नहीं है । प्रपञ्चका अभाव ब्रह्ममें है तो प्रपञ्च क्या है ?

'स्वाभावाधिकरणे भासमानत्वं मिथ्यात्वम्'

जो अपने अभावके अधिकरणमें भासता है, वह मिथ्या होता है।

अनन्तमें सान्त वस्तु भास रही है। खिड़कीसे आते प्रकाशमें त्रसरेणु दीखते हैं; किन्तु उस प्रकाशमें त्रसरेणुका अभाव है या नहीं? आकाश अनन्त है। उसीमें ये कण-कण भास रहे हैं। जिस अनन्तमें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड त्रसरेणुवद् भास रहे हैं, वह अनन्त ही उन ब्रह्माण्डोंका अधिष्ठान है।

ये अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड जिस अनादि-अनन्त-परिपूर्ण वस्तुमें भास रहे हैं, उसीमें इनका अभाव भी है। अतः अपने अभावके अधिकरणमें भासमान होनेके कारण ये अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड मिथ्या हैं।

१. अनन्तमें सान्त भास रहा है, सान्तका अभाव अनन्तमें है, इसलिए सान्त मिथ्या है।

२. एकमें अनेक भास रहा है, अनेकका अभाव एकमें है, अतः अनेकत्व मिथ्या है।

३. स्वमें अन्य भास रहा है, अन्यका अभाव स्वमें है, अतः अन्य मिथ्या है।

४. चेतनमें जड़ भास रहा है, जड़का अभाव चेतनमें है, अतः जड़ मिथ्या है।

५. परम प्रेमास्पद आनन्दमें दुःख भास रहा है, दुःखका अभाव आनन्दमें है, अतः दुःख मिथ्या है।

६. सत्स्वरूप आत्मामें मृत्यु असत् भास रहा है, असत्का अभाव सत्में है, अतः असत् मिथ्या है।

७. प्रत्यक्में पराक् भास रहा है, पराक्का अभाव प्रत्यक्में है, अतः पराक् मिथ्या है।

८. ब्रह्ममें जीव और जगत् भास रहा है, जीव और जगत्का अभाव ब्रह्ममें है, अतः जीव और जगत् मिथ्या हैं।

अन्तःकरणके भेदसे साक्षीमें भेद हो सकता है या नहीं?

इसके उत्तरमें सांख्यवादियोंसे प्रश्न है कि तुम अन्यके द्वारा (अन्तःकरणके द्वारा) अन्यका (साक्षीका) निरूपण ही कैसे करते हो?

सांख्यवादी कहते हैं: 'सबकी जन्म-मृत्यु पृथक्-पृथक् होती है। सबके अन्तःकरण, उनके प्रत्यय, प्रवृत्तियाँ भिन्न-भिन्न हैं। एकके सुखी होनेसे सब सुखी नहीं हो जाते और एकके दुःखी होनेसे सब दुःखी नहीं होते। अतः प्रत्येक अन्तःकरणका साक्षी पृथक्-पृथक् है।'

लेकिन ये जितने भेद सांख्यने गिनाये, सब दृश्यमें होते हैं। जन्म-मरण प्राकृत देहका होता है या द्रष्टाका? प्रवृत्ति-निवृत्ति, सुख-दुःख अन्तःकरणमें होते हैं या द्रष्टाके? सांख्यके भेदके हेतु तो रहते हैं प्रकृतिमें और उनसे द्रष्टाका भेद करने जाते हो? यह बात तो असंगत है।

अब प्रश्न है कि द्रष्टा, साक्षी, स्वयंप्रकाशकी एकता किस प्रमाणसे जानें ?

१. जो प्रमाण अतीन्द्रिय-तत्त्वमें होता है, उससे जानो ।
२. जो प्रमाण अविषय-तत्त्वमें होता है, उससे जानो ।
३. जो प्रमाण अकरण-तत्त्वमें होता है, उससे जानो ।
४. जो प्रमाण अविच्छिन्न-तत्त्वमें होता है, उससे जानो ।
५. ऐसा प्रमाण केवल श्रुति है, अतः श्रुति-प्रमाणसे जानो ।

उसे तुम नेत्रसे या मानसवृत्तिसे देखना चाहते हो ? अतीन्द्रिय-तत्त्वके सम्बन्धमें ऐन्द्रियक प्रमाणकी कल्पना ही व्यर्थ है । इसमें नेत्र, कर्ण, नासिका, रसना, त्वचा, मन, बुद्धिकी तो गति नहीं है । इन सबका जो विषय है, वह तो प्रमाण नहीं है । इसमें प्रमाता, प्रमाण, प्रमेयका व्यवहार ही नहीं है :

अव्यवहार्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यम् ।

श्रुति कहती है : परमात्मा अव्यवहार्य, अलक्षण, अचिन्त्य एवं अव्यपदेश्य है :

नाधेदचिन्मनुते तं बृहन्तम् ।

अवेदविदको उस ब्रह्मका बोध नहीं हो सकता :

तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि ।

वह पुरुष परमात्मा उपनिषदैकगम्य—वेदान्तैक-वेद्य है । भगवान् शंकराचार्य कहते हैं :

इदं तु ज्ञेयमतीन्द्रियत्वेन शब्दैकप्रमाणगम्यत्वात् ।

यह ज्ञेयतत्त्व अतीन्द्रिय होनेके कारण एकमात्र गम्य है—श्रुतिसे ही इसका बोध होता है ।

जब नेत्रसे वस्तु नहीं दीखती तब मनसे उसका अनुमान करते हैं । अर्थात् जहाँ नेत्रज्योति—सूर्यज्योतिने काम नहीं किया, वहाँ मनोज्योति—चन्द्रज्योतिसे काम लिया जाता है; किन्तु परमात्माके सम्बन्धमें तो अर्थापत्ति-अनुपलब्धि आदि अनुमान भी काम नहीं देते, तब शब्द काम देता है ।

कोई अपने यहाँ आया । प्रत्यक्ष तो दीखता नहीं और अनुमान करके पहचान नहीं सके, तब पूछा : 'कौन है ?'

उसने कहा : 'मैं हूँ ।'

अब बोल पड़े : 'अरे मोहन !' यह शब्द-प्रमाणसे मोहनका परिचय हुआ ।

'न सत्तन्नासदुच्यते' : यहाँ सत्ता या असत्ताका निषेध नहीं है, उक्ति-मात्रका निषेध है । अब प्रश्न हुआ : तुम इसमें युक्ति बतलाओ कि ब्रह्मको सत् या असत् दोनों ही नहीं कहा जा सकता । इसपर भगवान् शंकराचार्य कहते हैं :

उपपत्तेश्च सदसदादिशब्दैर्ब्रह्मनोच्यत इति ।

सत्-असत् आदि शब्दोंसे ब्रह्मका वर्णन नहीं हो सकता, कैसे ? 'उपपत्तेश्च' अब युक्ति चाहिए, क्योंकि जिसका जहाँ तादात्म्य है, वह उसे चाहता है।

एक व्यक्ति मेरे परिचित थे। वे कहते थे : 'हम भगवान्‌को भगवान्‌ तब मानेंगे जब वे अपने हाथसे मेरे मुखमें कुछ भोजन डाल दें।'।

यह मनुष्य जिह्वासे तादात्म्यापन्न है। इसके लिए सबसे बड़ा प्रमाण उसकी जिह्वा है। जो नेत्रमें बैठा है, उसके लिए बड़ा प्रमाण नेत्र है। जो मनमें बैठा है, उसके लिए बड़ा प्रमाण मन है। जो बुद्धिमें बैठा है, उसके लिए बड़ा प्रमाण बुद्धि है।

लोग स्वयं द्रष्टा बनकर परमात्माको दृश्य बनानेमें जीवन व्यतीत कर देते हैं। जैसे वैज्ञानिक प्रयोगशालामें विश्लेषण करके एक सौ दस तत्त्वका निश्चय करते हैं; इसी प्रकार हमलोग शब्दराशिका विश्लेषण करते हैं :

‘सर्वो हि शब्दो अर्थप्रकाशनाय प्रयुक्तः श्रूयमाणश्च श्रोतुभिः जातिक्रिया-गुणसम्बन्धद्वारेण सङ्केतग्रहणं शब्दापेक्षां प्रत्याययति, नान्यथादृष्टत्वात्।’

जितने भी शब्द अर्थको प्रकट करनेके लिए प्रयुक्त किये जाते हैं और सुने जाते हैं एवं जिन शब्दोंको सुनकर श्रोता कुछ समझता है, वे सबके सब शब्द जाति, क्रिया, गुण अथवा सम्बन्धके द्वारा ही एक अपेक्षासे संकेतका ग्रहण कराके ही अर्थका ज्ञान कराते हैं, अन्यथा नहीं।

शब्दोंकी भी अर्थ ग्रहण करानेकी एक रीति है। इस रीतिसे भिन्न शब्दोंसे अर्थप्रकाशनकी रीति लोकव्यवहारमें देखनेमें नहीं आयी। जब गाय, घोड़ा आदि बोला गया तो यह एक पशु-जाति-विशेषका बोधक हो गया। 'पठति-पचति' क्रिया देखकर कहा कि पढ़ता है, रसोई पकाता है 'शुक्ल-कृष्ण' यह काला-गोरापना गुणसे बतलाया गया है। यह व्यक्ति धनी है, इसके पास बहुत गायें हैं—यह बात सम्बन्धसे कही गयी है। लेकिन ब्रह्ममें न जाति है, न गुण, न क्रिया, न सम्बन्ध और न रूढ़ि। जैसे कोई अपने पुत्रका नाम करोड़ीमल रख देते हैं, भले उसके पास सौ-दो सौ रुपये भी न हों। यहाँ शब्दार्थका सम्बन्ध नहीं है, यह केवल रूढ़ि-संकेत है।

ब्रह्मका निरूपण शब्द इस प्रकार नहीं कर सकते, अतः 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निर्गुणं निर्विकारं' कहकर ब्रह्मका वर्णन करते हैं। अतः ब्रह्म 'सदसत्' शब्द निर्देश्य नहीं है।

जैन-सिद्धान्तमें तीन रत्न माने जाते हैं : १. सम्यक् चारित्र्य २. सम्यक् सङ्कल्प ३. सम्यक् समाधि। इनसे अनेकान्त रूप वस्तुतत्त्वका साक्षात्कार होता है। अनेकान्तका अर्थ है : वस्तु ऐसी है भी, नहीं भी है। जैसे हीरेमें-से कई प्रकारकी आभा निकलती है, वैसे ही भीतर प्रभाका अनुभव चित्तकी पवित्रता है।

युक्तिके द्वारा 'सर्वं शून्यं, सर्वं निष्प्रपञ्चं' सब शून्य है, सब निष्प्रपञ्च है—यह अनुभव हो सकता है। लेकिन इसमें अनुभवका स्वरूप अज्ञात रह गया। यह बौद्ध सिद्धान्त है।

अभ्यासजन्य चित्तका निरोध : निर्वीज—निःसङ्कल्प असम्प्रज्ञात समाधि और उसमें द्रष्टाका कैवल्य-स्वरूपमें अवस्थान, योग है। लेकिन वहाँ भी दूसरा द्रष्टा नहीं है—यह ज्ञान न होनेसे दूसरे द्रष्टाके होनेका संस्कार निर्वीजमें भी बीज रूपसे विद्यमान है।

वेदान्त जिस तत्त्वका निरूपण करता है वह वेदान्तके अतिरिक्त अन्य किसी साधनसे—युक्तिसे उपलब्ध नहीं है।

परमात्मा में जाति नहीं है, शुक्ल-कृष्णादि गुण नहीं हैं और शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, पर, अपर, संयोग, विभागादि गुण भी नहीं हैं, निष्क्रिय होनेसे उसमें क्रिया भी नहीं है, अद्वितीय होनेसे उसमें सम्बन्ध नहीं है और रूढ़ि भी नहीं है :

अद्वयत्वाद् विषयत्वादात्मत्वात् न केनचिच्छब्देन उच्यते।

परमात्मा अद्वय है, अतः वाच्य-वाचक-सम्बन्ध भी उसमें नहीं बनता। वह अविषय है, अतः उसमें कोई संकेत नहीं बनता। वह अपना आपा ही है। अतः किसी शब्दसे परमात्माका वर्णन नहीं हो सकता :

‘यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न विभेति कदाचन ॥—तैत्ति० २।४।१

जिसे न पाकर वाणी मनके साथ लौट आती है, उस आनन्द-स्वरूप ब्रह्मको जानकर ज्ञानी पुरुष कहीं—किसी अवस्थामें डरते नहीं।

वक्ताका सबसे बड़ा सखा वेद है। वाक्-सूक्तका मन्त्र है :

‘यस्तत्त्याज सखिविदं सखायं न तस्य वाचि भागोऽस्ति।

जिसने अपनेसे प्रेम करनेवालेके प्रति सच्ची कृतज्ञता-ज्ञापक वेदको त्याग दिया, उसे वाणीसे बोलनेका कोई अधिकार नहीं है :

यतो वाचो निवर्तन्ते

परमात्मा नायक है। वाणी उसकी प्रेयसी है लेकिन वह वाणी बैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती, परा रूप अनेक वर्णा—अनेक रूपा है। ‘वाचः’ बहुत-सी वाणियाँ हैं। वे परमात्मासे मिलने चलीं तो अकेली कैसे जायें, एक नपुंसकको—मनको साथ ले लिया। मन प्रेमका ढोंग बहुत रचता है; किन्तु प्रेमका उपभोग नहीं कर सकता। भोक्ता तो चैतन्य ही है। चैतन्यसे अनारूढ मनु भोक्ता नहीं हो सकता। जब तक साक्षी मनसे तादात्म्यकर मनकी वासनाको अपनी वासना नहीं मानेगा, तब तक भोग नहीं होगा। परन्तु उन वाणियोंको परमात्मा मिला नहीं। मनके साथ वाणियाँ लौट आयीं अर्थात् बोलना एवं सोचना दोनों बन्द हो गया :

यद् वाचाभ्युदितं येन वागभ्युद्यते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥

जिसका वाणीसे वर्णन नहीं होता, जिसके द्वारा वाणी प्रकाशित होती है, वही ब्रह्म है—ऐसा तुम समझो। 'यह यह' कहकर तुम जिसकी उपासना करते हो, वह ब्रह्म नहीं है।

वह वाणीकी क्रियाका विषय नहीं है :

‘न विद्वः न विजानीमः ।’

बुद्धिकी क्रियाका भी विषय नहीं है।

परमात्माका किसी शब्दके द्वारा प्रतिपादन सम्भव नहीं है। इसका अर्थ है कि परमात्मा, ब्रह्म, ऋत, सत्य, परमार्थादि शब्दोंके द्वारा भी उस वस्तुका प्रतिपादन नहीं होता। समझानेके लिए ही ये नाम हैं। संकेतवृत्ति—लक्षणाके द्वारा ही शब्द परमात्माका बोध कराता है जो देश काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न, सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदसे रहित है, उसका बोध कल्पित वृत्तिसे ही होता है। तब नाममें वर्गीकरण अकारण है; क्योंकि सभी नाम कल्पित ही हैं :

कल्पितव्यवहारार्थं तस्य संज्ञा महात्मनः ।

गुरु-शिष्यके व्यवहारके लिए उस परमात्माका नाम कल्पित किया जाता है। जैसे ब्रह्म, परमात्मा, परमार्थादि संज्ञा कल्पित हैं, वैसे ही उपासनाके लिए उसके अनेक नाम कल्पित हैं। नामको लेकर विवाद करना व्यर्थ है।



● संगति

इस वर्णन-क्रममें एक उपासकका दृष्टिकोण था तो दूसरा जिज्ञासुका दृष्टिकोण। एक ओर कहा गया : 'न सत्तन्नासदुच्यते' तो दूसरी ओर कहने जा रहे हैं : 'सर्वतः पाणिपादं'—उसके पाणि-पाद सर्वत्र हैं। उसके नेत्र, सिर, मुख चारों ओर फैले हैं, उसके कर्ण सर्वत्र हैं, वह सबको ढँके है।

ईशावास्योपनिषद्में 'ईशावास्यमिदं सर्वम्'में 'आवास्य' पदका जो अर्थ है, वही अर्थ अगले श्लोकमें 'आवृत्य' पदका है।

'न सत्तन्नासदुच्यते' यह परमार्थ ब्रह्मकी ओर संकेत है। घड़ीका होना, न होना यह वस्तुनिष्ठ है। 'होना', 'न होना' यह शब्द मुखसे बोला जाता है, बुद्धिसे यह विचार किया जाता है। परमात्मा कैसा है? वस्तुका होना, न होना तो परमात्मा है नहीं। शब्दका होना, न होना और विचारका होना, न होना भी परमात्मा नहीं। इनके द्वारा अज्ञात, इनके द्वारा उपलक्षित स्वयं-प्रकाश परमात्मा है।

संसारमें जो होता है, उसे 'है' कहते हैं और जो नहीं है, उसे 'नहीं' कहते हैं। तुम यह स्पष्ट कहो कि इन दोनोंमें परमात्मा क्या है? कैसा है? यह 'है', 'नहीं' की गड़बड़ क्यों?

परमार्थके लखानेको कहा : 'अस्ति नास्ति'—जिसे दोनों प्रतीत होते हैं, वह परमात्मा है अर्थात् तुम परमात्मा हो; किन्तु यदि तुम व्यवहारमें ही परमात्माको देखना चाहते हो तो अब वैसा वर्णन करते हैं।

यह अगला वर्णन व्यावहारिक सत्यका प्रतिपादन है, यह कैसे ज्ञात हुआ? श्लोकमें ही 'लोक-व्यवहारे' स्पष्ट है। भगवान् शंकराचार्य कहते हैं :

तथा हि सम्प्रदायचिदां वचनम् ।

गीताके सम्प्रदायको समझने-जाननेवालोंका ऐसा ही कहना है।

जब वस्तु सीधे समझमें नहीं आती तब :

अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते ।

अध्यारोप और अपवादके द्वारा निष्प्रपञ्च ब्रह्ममें ही प्रपञ्चका प्रतिपादन शास्त्र करते हैं। यह ब्रह्मके स्वरूपको समझानेके लिए किया जाता है।

ध्रुवका दर्शन कराना हो तो पहले सप्तर्षिका दर्शन कराते हैं और उन तारोंके सहारे ध्रुवको दिखलाते हैं। इसी प्रकार 'शाखा-चन्द्र-न्याय' है। द्वितीयाका नन्हा-सा चन्द्र सहजमें नहीं दीखता। उसका दर्शन शुभ माना जाता है। एकने चन्द्रका दर्शन कर लिया। दूसरेको दिखलानेके लिए बोला : 'वृक्षकी उस डालसे एक हाथ ऊपर चन्द्रमा है।' तात्पर्य यह कि उस डालसे एक हाथ ऊपर देखनेसे चन्द्र दीखेगा। इसी प्रकार अध्यारोपापवादसे परमात्माका बोध कराया जाता है।

‘न सत्तन्नासदुच्यते’ यह परमात्माका स्वरूप-वर्णन है। अब परमात्माके अवाङ्मनसगोचर स्वरूपको दिखलानेकी पद्धति—अध्यारोपापवादको अपनाकर वर्णन करते हैं। इस अध्यारोपण-न्यायसे पाणि-पादादि एवं इनकी व्यापकताका अध्यारोप करके, फिर इनका अपवादकर परमात्माका स्वरूप लक्षित करानेके लिए यह श्लोक प्रवृत्त हुआ है :

सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।

सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १३ ॥

लोकमें उस (परमात्मा) के हाथ-पैर चारों ओर हैं। चारों ओर नेत्र, सिर और मुख हैं। चारों ओर उसके कान हैं। वह सबको ढँककर स्थित है।

‘सर्वतः पाणिपादं’ : पाद गतिके लिए हैं। ‘सर्वतः पाद’ का अर्थ है कि परमात्मा सर्वत्र पहुँचा हुआ है :

तद्दूरे तद्वन्तिके ।—ईशा० ५

परमात्माकी गति सर्वत्र है। वह दूर है और पास भी है।

‘तदेजति तन्नैजति ।’—ईशा० ५

वह सोपाधिक रूपसे हिल रहा है और निरुपाधिक रूपसे हिलता ही नहीं है। अर्थात् परमात्माका नृत्ययुक्त पाद-विन्यास सर्वत्र परिपूर्ण है। परमात्माके पाद-विन्यास—नृत्यगतिपर ही सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, वायु, अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड एवं प्रकृतिका अणु-अणु नृत्य कर रहा है :

यद्भयाद् वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति यद्भयात् —भाग०

भीषाऽस्माद् वातः पवते भीषोदेति सूर्यः ।—तैत्ति० २।७।१

उस परमात्माके भयसे ही वायु चलता है। उसीके भयसे सूर्य नारायण उदित होते हैं।

तब क्या परमात्मा पादयुक्त है ? पादयुक्त होनेपर ही तो चल पाता होगा ? नहीं, ऐसा नहीं है।

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता

पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।

स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता

तमाहुरथ्यं पुरुषं महान्तम् ॥—श्वेता० ३।१९

उसके पैर नहीं हैं; किन्तु बड़े वेगसे दौड़ता है। हाथ नहीं हैं, पर सबको पकड़े हुए है। बिना नेत्रके ही वह देखता है और बिना कर्णके ही सुनता है। वह सबको जानता है; किन्तु उसे जाननेवाला कोई नहीं है। उसे अग्र, महान् पुरुष कहते हैं।

सृष्टिमें जितनी आकर्षण-विकर्षण शक्तियाँ काम कर रही हैं, जितनी गति या प्रत्यागतियाँ हो रही हैं, सब उस परमात्माकी ही है। उसकी सत्ताके बिना प्रज्ञा भी नहीं हिलता। उसकी गतिके बिना मति नहीं चलती।

‘सर्वतः पाणिपादं’ : परमात्मा यहीं खड़ा है। उसे चलना नहीं पड़ता। चलकर आना नहीं पड़ता।

तब वह कर क्या रहा है ?

हम सबको पकड़े हुए है।

अन्तःप्रविष्टः शास्ता जनानाम् ।

सबके भीतर प्रविष्ट होकर सबका वही शासन—नियन्त्रण करता है।

सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः

सबको वशमें रखनेवाला, सबका शास्ता है।

लोके सर्वतः पाणिपादं, लोके सर्वतश्चिशिरोमुखम् ।

यह विराट्का वर्णन नहीं है। सर्वत्र उसके नेत्र हैं। नेत्रोंसे जो देखता है, वही देखता है।

‘पश्यन्तं योऽभिपश्यति ।’

अपनेको देखनेवाले परमात्माको जो देखता है, वही देखता है। अपनेको अर्थात् देह, इन्द्रिय, मनको ‘मैं’ समझ तुम अज्ञानमें बैठे हो। इनको ईश्वर देख रहा है। तुम कौन हो ? तुम न देह हो, न इन्द्रिय, न मन हो, न बुद्धि। ये और इन्हें देखनेवाले ईश्वर, दोनोंको देखनेवाले तुम हो।

ईश्वरास्तित्वनिर्णेता त्वं ततोऽसि महेश्वरः ।

गुरोरपि त्वं निर्णेता त्वं ततोऽसि गुरोर्गुरुः ॥

‘ईश्वर है या नहीं’ यह निर्णय करनेवाले होनेके कारण तुम महेश्वर हो। ये हमारे गुरु होने योग्य हैं या नहीं, यह निर्णय तुम्हीं करते हो, अतः तुम गुरुके भी गुरु हो।

यह मनोविज्ञानका ध्रुव सत्य है कि श्रेष्ठता अन्यनिष्ठ कभी नहीं होती। श्रेष्ठता प्रत्यक् चैतन्यनिष्ठ ही होती है।

लोके (व्यवहारकाले) : प्राणी जहाँ उपस्थित है वहाँ इन प्राणियोंमें ही परमात्मा कैसे है ?

आत्माको ब्रह्मरूपमें जानना हो तो सबका निषेध करना पड़ता है। विषय, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, वासना, कर्तृत्व, भोक्तृत्व, संसारित्व, परिच्छिन्नत्व आदि प्रकृति-प्राकृत समस्त प्रपञ्चका निषेध आवश्यक है।

किसीने कहा : ‘जब ब्रह्म न अस्ति है, या न नास्ति कहा जा सकता है तब ब्रह्म है ही नहीं।’

इसके उत्तरमें भागवत-रीतिसे व्यवहारमें ब्रह्म दिखलाते हैं। जैसे भगवद्-भक्त कार्य-कारणरूपमें सर्वत्र भगवान्को देखते हैं, वही प्रक्रिया सर्वत्र ब्रह्मको देखनेकी है।

आभूषणकी आकृति चाहे जो हो, पर वह है स्वर्ण ही। उपयोगकी दृष्टिसे जैसे कड़ा, कंकण, नूपुर, हार पृथक्-पृथक् हैं, वैसे ही पशु-पक्षी, मानव पृथक्-पृथक् हैं। मानवमें भी स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध-युवा आदि भेद हैं। एक शरीरमें भी हाथ-पैर, सिर-पेट आदि पृथक्-पृथक् अंग हैं; किन्तु पञ्चभूत सबमें वे ही एक ही हैं। सभी प्रकारके निर्मित आभूषणोंके रूपोंमें जैसे धातुरूपसे स्वर्ण अन्वित है, नाम-रूपसे स्वर्ण व्यतिरिक्त है, नाम-रूप ही स्वर्ण नहीं है। यही उपादानका स्वरूप है। इसी अनुवृत्ति-व्यावृत्तिकी युक्तिसे यदि देखें तो सब आकृतियों और नामोंमें—सबमें धातु एक ही है। इसी प्रकार शुद्ध परमात्मामें सब आकृतियाँ कल्पित हैं। अतः अन्वय दृष्टिसे कहना हो तो कहेंगे : सर्वतः पाणिपादम्।

जैसे स्वर्णपट्टपर खचित मूर्तियोंमें सबके सब पाणि-पाद, सिर-मुख स्वर्ण-रूप ही हैं, उसपर खचित गायका लम्बा कान, मनुष्यका छोटा कान सब स्वर्णरूप हैं, वैसे ही जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान परमात्मा है। इस परम ब्रह्म परमात्मामें कल्पित समस्त सृष्टिके सब हाथ-पैर, सिर-कान-नाक परमात्मा ही है। इसीलिए 'सर्वमावृत्य तिष्ठति' सबको घेरकर, सबको आच्छादित करके वही बैठा है। तत्त्वदृष्टिसे देखनेपर सब नाम-रूप हट जायेंगे, परमात्मा ही रहेगा। अतएव लोकव्यवहारमें भी सर्वरूप परमात्मा ही है।

'सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्' : सर्वत्र ईश्वरका सिर है। सब कहीं उसीका मस्तिष्क काम कर रहा है। सर्वत्र उसका मुख और उसके कर्ण हैं। सर्वत्र उसके नेत्र हैं।

ईश्वरको चलनेके लिए पैरोंकी आवश्यकता नहीं; क्योंकि वह सर्वत्र परिपूर्ण है। किसीको पकड़नेके लिए उसे हाथ नहीं चाहिए; क्योंकि समस्त शक्ति उसीकी है। देखनेके लिए ईश्वरको नेत्र नहीं चाहिए; क्योंकि सर्वत्र उसीकी दृष्टि—उसीका ज्ञान सबको प्रकाशित करता है।

सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु आदिकी शक्ति सीमित है। मैं, तुम, वहकी शक्ति सीमित है; किन्तु ईश्वर तो असीम ज्ञान है। उसकी शक्ति असीम है।

'लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति' : लोकमें सबको ढँककर वह स्थित है। कहीं मन्दिरमें चोर घुसे। वहाँ नारायण, लक्ष्मी, दुर्गा-शिव, गणेश-मूषक आदिकी स्वर्णकी मूर्तियाँ थीं। चोरोंके लिए तो न नारायण, न लक्ष्मी, न दुर्गा, न शिव, न गणेश, न मूषक; केवल स्वर्ण था उन मूर्तियोंके रूपमें। इसी प्रकार संसारके इन सब आकार-विकार-प्रकारोंमें वही परमात्मा है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि ये वर्ण हैं। इनमें जो मनुष्यत्व है, वह सुवर्ण है। हिन्दूको स्वयंको मनुष्य समझनेमें कितनी देर लगेगी? मनुष्य तो वह है ही। उतनी ही देर, उतना ही श्रम एक जीवको अपनेको ब्रह्म समझनेमें लगेगी; क्योंकि ब्रह्म तो वह है ही।

जैसे कोई मनुष्य भूल गया कि वह मनुष्य है। वह अपनेको ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादिमेंसे कुछ समझने लगा तो उसने मनुष्य होनेपर भी मनुष्यत्वके

एक अंशसे तादात्म्य कर लिया। इसी प्रकार परिपूर्ण ईश्वरसे एक होनेपर भी हम अपनेको जीव समझते हैं। एक हिन्दूको अपनेको मनुष्य समझनेके लिए कोई क्रिया या अनुष्ठान आवश्यक नहीं है। केवल अपने सम्प्रदाय-विशेषके अध्यारोपको भूलना आवश्यक है। इसी प्रकार अपनेमें जीवत्वका अध्यारोप सर्वथा भ्रान्ति-संस्कारजन्य है। इसकी निवृत्तिमें देर नहीं लगती। अविरोध भावकी उत्पत्तिके लिए सम्पूर्ण विशेषोंका बाध करके, अपनेको निर्विशेष देखो। 'सर्वमानृत्य तिष्ठति' सम्पूर्ण भेदोंको ढँककर तुम्हारा ब्रह्मत्व प्रकाशित हो रहा है।

‘न यत्पुरस्तादुत यन्न पश्चान् मध्ये च तन्न व्यपदेशमात्रम् ।
भूतं प्रसिद्धं च परेण यद्यद् तदेव तत्स्यादिति मे मनोषा ॥’

—भागवत

जो पहले नहीं था और पीछे नहीं रहेगा, वह बीचमें भी नहीं है। वह तो संकेतमात्र—कल्पित है। जैसे स्वर्णमें पहले गाय, बैल, स्त्री, पुरुष, देवता-दानव नहीं थे और उसके गला दिये जानेपर भी नहीं रहेंगे तो मध्यमें इनके जो आकार स्वर्णमें दीखते हैं, संकेतमात्र हैं। जिससे जो प्रकाशित होता है और जिससे जो उत्पन्न होता है, वह प्रकाश्य अपने प्रकाशकसे—कार्य अपने कारणसे भिन्न नहीं होता।

पञ्चभूतोंमें जो बनेगा, वह पञ्चभूत रूप ही बनेगा। मनमें जो बनेगा, वह मनोरूप ही होगा। इसी प्रकार परमात्मामें जो सृष्टि बनती है, वह परमात्म-रूप ही है।

सूर्यसे सब लाल, पीले, नीले रंग प्रकाशित होते हैं, अतः ये रंग सूर्यसे भिन्न नहीं हैं।

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ।—ब्रह्मसूत्र २।१।१४

परमात्मासे यह प्रपञ्च अनन्य—अपृथक् है, यह बात श्रुति कहती है :

वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ।

वाणीका आरम्भ—नामकरणमात्र सब विकार हैं। उनमें मृत्तिका—उपादानतत्त्व ही सत्य है।

घटाकाश, मठाकाश सत्य नहीं हैं, आकाश ही सत्य है। तरंग-बुद्बुदादि सत्य नहीं हैं, जल सत्य है। घट-शरावादि सत्य नहीं हैं, मिट्टी सत्य है। विस्फुलिंग, लपट आदि सत्य नहीं हैं, अग्नि सत्य है। स्वाप्निक स्त्री-पुरुषादि सत्य नहीं हैं, मन सत्य है। ऐसे ही परमात्मामें प्रतीयमान प्रपञ्च—यह सब ब्राह्मण-क्षत्रिय, हिन्दू-मुसलमान, पशु-मनुष्य, देव-दानव, ब्रह्मा-विष्णु-महेश, प्रकृति-महत्-अहं, तन्मात्रा-महाभूतादि सब नामधेयमात्र हैं। ये वस्तुएँ सत्य नहीं हैं।

ब्रह्म इत्येव सत्यम्

ब्रह्म ही सत्य है। सम्पूर्ण नामधेय एवं रूपोंमें अनुगत होनेके कारण 'तत्'

ब्रह्मज्ञान और उसकी साधना]

१४२

वही प्रकृत क्षेत्रज्ञ क्षराक्षर-विलक्षण सदसदादि शब्दाभिधेय जो परम ब्रह्म परमात्मा है, वही सत्य है। शेष सब उसमें कल्पित हैं।

परमात्मामें अन्य वस्तु नहीं है। वही सबका हाथ-पैर, नेत्र-सिर, कर्ण है। यह भागवत-दृष्टिकोण है :

न यदिदमग्र आस न भविष्यदतो

निधनादनुमितमन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरसे ।

अत उपमीयते द्रविणजातिविकल्पपथै-

र्वितथमनो - विलासमृतमित्यवयन्त्यबुधाः ॥

—भागवत १०।८७।३७

‘यस्मात् इदं अग्रे न आस न भविष्यत् अतो निधनात् अनुमितं अन्तरा एकरसे त्वयि मृषा विभाति ।’

क्योंकि यह प्रपंच सृष्टिसे पूर्व नहीं था और प्रलयके पश्चात् भी नहीं रहेगा, केवल मध्यमें ही, आप एकरसमें यह मिथ्या प्रतीत हो रहा है।

अब प्रश्न उठा कि यदि परमात्मा ही प्रपंच रूपमें है तो प्रपंचमें जो दुःख-दोष, जन्म-मृत्यु हैं, वह क्यों हैं ? वे परमात्मामें हैं या नहीं ?

दुःख-दोष, जन्म-मृत्यु तो आकारोंकी होती है। सोना नहीं मरता, उसमें बने आकार मिटते हैं। आकृति बनायी-बिगाड़ी जाती है।

निम्बार्क, रामानुज, मध्व, विष्णुस्वामी, वल्लभ, श्रीकण्ठ आदि सब वैष्णवाचार्य, शैवाचार्य, शाक्ताचार्य आदि सिद्धान्तमें चाहे अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैत आदि किसी भी मतके माननेवाले हों, किन्तु यह सब मानते हैं कि परमेश्वरसे पृथक् यह सृष्टि नहीं है।

श्रुतियाँ जो प्राप्त होती हैं, वे स्पष्ट ही आत्माको ही ब्रह्म एवं अद्वितीय बतलाती हैं।

आत्मैवाधस्तादात्मोपरिष्ठात् ।—छान्दो० ७।२५।२

ब्रह्मैवाधस्तात् ब्रह्मैवोपरिष्ठात् ।

स एवाधस्तात् स एवोपरिष्ठात् ।—७।२५।१

अहमेवाधस्तादहमेवोपरिष्ठात् ।—छा० ७।२५।१

ब्रह्मैवेदं विद्वमिदं वरिष्ठम् । मुण्डक० २।२।११

जब लक्षण एक ही है, तब स्वतः आत्मा, ब्रह्म, सः और ब्रह्म पदका अर्थ एक हो गया।

लक्षणैक्यात् लक्ष्यैक्यम्

यह भागवत-सिद्धान्त है जो शाण्डिल्य-सूत्र, पञ्चरात्रागम तथा श्रीमद्-भागवतमें प्रतिपादित है। इसमें परमात्मा कार्यमें अन्वित होनेसे और कार्यसे व्यतिरिक्त होनेसे मुख्य है और कार्य गौण है। कार्यरूप प्रपञ्च गौण है, कारणरूप परमात्मा मुख्य है।

अद्वैत वेदान्तकी प्रक्रिया इससे भिन्न है। कार्य-कारणभावरूप प्रक्रिया वेदान्तकी नहीं है। वेदान्तकी प्रक्रिया अध्यारोप-अपवादकी है। भागवत-सिद्धान्तमें कार्य-कारण-प्रक्रियाको वास्तविक मानते हैं, वेदान्तमें इसे कल्पित माना जाता है।

जड़-सृष्टिवादमें सम्प्रदायका महत्त्व नहीं है। जहाँ जड़से सृष्टिका होना मानते हैं, वहाँ जड़ता प्रथम होती है और ज्ञान जड़के विकाररूपमें उत्पन्न माना जाता है। इसमें ज्ञानका उत्तरोत्तर विकास माना जाता है, अतः प्राचीनताका—ज्ञानकी सम्प्रदाय-परम्पराका कोई महत्त्व नहीं है। लेकिन जहाँ ब्रह्मसे अथवा सर्वज्ञ ईश्वरसे सृष्टि मानी जाती है, वहाँ सम्प्रदायका बहुत बड़ा महत्त्व है; क्योंकि वहाँ आदिपुरुष सर्वज्ञ होगा। उसके ज्ञान-दानसे सम्प्रदाय चला। दायका अर्थ है उत्तराधिकार। पिताकी सम्पत्तिपर पुत्रका जो स्वाभाविक अधिकार है, उसका नाम 'दाय' है :

यथा चरेद् वालहितं पिता स्वयं तथा त्वमेवार्हसि नः समीहितम् ।

भगवान्से प्रार्थना करते हुए कहा जा रहा है : 'जैसे पिता स्वयं बालकका हित करता है, वैसे स्वयं आप हमारा कल्याण करें।'

जैसे पिताकी सम्पत्तिमें पुत्रका दाय है, वैसे ही गुरुकी सम्पत्तिमें शिष्यका प्रदाय है। धनका दाय 'दाय' कहा जाता है, आनन्दका दाय 'प्रदाय' कहा जाता है। सं = सम्यक् + प्र = प्रकृष्ट + दाय = सम्प्रदाय। अतः विधिपूर्वक गुरुकी शरणमें जाकर उनसे ज्ञानकी दीक्षा लेनेका नाम सम्प्रदाय है :

सम्यगुपसृत्य प्रकृष्टदायं गृह्णातीति सम्प्रदायः ।

भलीभाँति उपसन्न : शरणागत होकर गुरुसे प्रकृष्ट दायको ग्रहण करता है, इसका नाम सम्प्रदाय है। वेदान्तका सम्प्रदाय भगवान् नारायणसे प्रारम्भ होता है। नारायणने ब्रह्माको, ब्रह्माने वसिष्ठजीको वह ज्ञान दिया। इस क्रमसे परम्परा चलती आयी। इस सम्प्रदायमें अध्यारोपापवादकी प्रक्रिया है।

मेरे पिताकी मृत्यु मेरी सात वर्षकी आयुमें हो गयी थी। बचपनमें ही मैं शिष्योंके यहाँ कर्मकाण्ड कराने जाता था। वहाँ गोबरसे गौरी बनायी जाती और सुपारीपर रक्षासूत्र लपेटकर उससे गणेशजी बनाये जाते। पूजनके लिए यह गोबरकी पिण्डीमें गौरी तथा रक्षासूत्र-लिपटी सुपारीमें गणेशका अध्यारोप हुआ। उनका पूजन किया और जब कर्म पूरा हो गया तो गौरी-गणेशका विसर्जन कर दिया। यह अपवाद करना हो गया। अतः यह अध्यारोप-अपवादका अभ्यास तो मुझे बचपनसे है। धर्मदृष्टिसे कालमें आवाहन-विसर्जन जिसे कहा जाता है, वेदान्तकी दृष्टिसे वही अध्यारोपापवाद है।

आजका दिन मंगलवार हनुमान्जीका क्यों है? काल तो एक और निरवयव है। उसमें दिन-रातका भेद नहीं है। आजके सूर्योदयसे सूर्यास्तपर्यन्त अवच्छिन्न कालका नाम मंगलवार क्यों है? कालमें यह मंगलवार नाम अध्या-

ब्रह्मज्ञान और उसकी साधना]

१४४

रोपित है और आजके दिनका सम्बन्ध हनुमान्जीसे है, यह भी अध्यारोप है। इसी प्रकार कालमें एकादशी, शिवरात्रि आदिमें पवित्रताका अध्यारोप है।

देश भी एक और अखंड है। उसमें यह वाराणसी पवित्र और यह मगध अपवित्र इस प्रकार पवित्र-अपवित्र भाव अध्यारोप है।

गौ वही और बछड़ा वही; किन्तु यदि बछड़ेके उत्पन्न होते समय—जब कि बछड़ेका केवल मुख बाहर आया हो उस समय गोदान कर दिया जाय तो उसे द्विमुखी गौका दान कहते हैं। यह गोदान कोटि यज्ञोंके समान फलप्रद होता है। यह क्रियामें अध्यारोप है।

भक्तिमें भगवान्के वियोगकी जो कल्पना है, वह अध्यारोप है। इसका अपवाद है; भगवान्के संयोगका भाव। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं :

‘ऐसेहि जनम समूह सिराने ।

प्राननाथ रघुनाथ सौं पति तजि सेवत पुरुष विराने ॥’

पुत्र-स्त्री, धन-भवन, देहके लिए तो रोते हैं, आँसू वहाते हैं; किन्तु जिन भगवान्से बिछुड़े हैं, उनके लिए नेत्रोंमें दो बूंद आँसू नहीं आते ! इस प्रकार वियोगका भाव हुआ, रो लिये और फिर संयोगका भाव आगया :

वंशी-विभूषितकराचनवीरदाभात् पीताम्बरादरुणविम्बफलाधरोष्ठात् ।

पूर्णन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात् कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥’

कोमल करोंमें वंशी सुशोभित है, नवीन मेघमालाके समान श्रीअंग है, विद्युत्के समान चमकता पीताम्बर पहन रखा है, लाल-लाल सुपक्व बिम्बफलके समान ओष्ठ हैं, पूर्णिमाके चन्द्रके सदृश श्रीमुख है और उत्फुल्ल कमल जैसे नेत्र हैं, हम ऐसे श्रीकृष्णचन्द्रसे परे किसी तत्त्वको नहीं जानते ।

भगवान् न कहीं चले जाते हैं और न कहींसे आते हैं। संयोग-वियोगके भाव द्वारा मनुष्यके हृदयके निर्माणकी यह एक युक्ति है। इसी प्रकार परमात्मा न कार्य होता है, न कारण और ब्रह्म कारण नहीं और प्रपञ्च कार्य नहीं; किन्तु श्रुति कहती है :

‘यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत् प्रयन्त्य-
भिसंविशन्ति । तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति ।’—तैत्ति० ३।१।१

जिससे ये सब भूत उत्पन्न होते हैं, जिस अपने कारणमें ये जीते हैं, जिसमें क्रियाशील रहते हैं और जिसमें प्रवेशकर जाते हैं, उसकी जिज्ञासा करो, वह ब्रह्म है ।

ब्रह्मसूत्र कहता है :

‘जन्माद्यस्य यतः ।’—१।१।२

जिस (ब्रह्म) से (जगत्के) जन्म आदि (स्थिति-प्रलय) होते हैं ।
ऐसी अवस्थामें तुम कैसे कहते हो कि परमात्मामें कार्य-कारणभाव नहीं है ?

कार्य-कारणभाव विना कालकी कल्पनाके सम्भव नहीं है। जो पहले होता है, वह कारण होता है और जो पीछे होता है, वह कार्य होता है।

नियतपूर्ववृत्तित्वं कारणत्वम् ।

किसी भी वस्तुके पूर्व जिसकी उपस्थिति अनिवार्य हो, उसे कारण कहते हैं।

यह पूर्ववृत्ति, और पश्चाद्वृत्ति कालमें है। कालमें पहले पीछेका भेद कहाँसे आया ? काल, देश और आकाश हुए विना घड़ा नहीं बन सकता। घड़ा और मिट्टी दोनोंके बननेसे पूर्व आकाश, काल एवं देशका होना अनिवार्य है। वस्तु-भेद ही तब प्रतीत होता है, जब उसके साथ देश-भेद एवं काल-भेद संलग्न हों। वस्तुभेद, देशभेद और कालभेदकी प्रतीति युगपत् होती ही है। स्वप्नका देश, स्वप्नका काल और स्वप्नकी वस्तुएँ जैसे युगपत् प्रतीत हो रही हैं, वैसे ही यह जगत् रूप जाग्रत्का प्रपञ्च भी युगपत् ही प्रतीत हो रहा है। यह तो ब्रह्मत्वके अज्ञानसे ही कार्य-कारणभावकी कल्पना है।

अज्ञानका कोई कारण नहीं हो सकता। अज्ञानका कोई कारण होगा तो वह अज्ञात ही नहीं होगा। यदि कारण अज्ञात होगा तो वह भी अज्ञान ही होगा। अतः अज्ञानका कारण नहीं होता। ज्ञानसे अज्ञानकी उत्पत्ति कहो तो 'वदतो व्याघात' दोष आता है। एक अज्ञानसे दूसरे अज्ञानकी उत्पत्ति माननेपर अन्योन्याश्रय दोष होगा। तीन अज्ञान माननेपर चक्रकापत्ति दोष और चार माननेपर अनवस्था दोष बनता है। अतः अज्ञान केवल भासता है तब तक, जब तक 'अज्ञान किसके विषयमें और किसको'—यह ज्ञात न हो अर्थात् जब तक अज्ञानके विषय और आश्रयका ज्ञान नहीं होता :

‘आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विशेषचित्तिरेव केवला ।

पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः ॥’

—संक्षेप-शारीरक

आश्रय और विषयके रूपमें भासित होनेवाली केवला निर्विभाग चिति—ज्ञान ही है। पहले पश्चिममें जो अन्धकार सिद्ध था (सूर्योदय होनेपर) न तो वह दिखालायी पड़ता है, न उसका कोई आश्रय होता है।

श्रुतिमें या सूत्रमें जो कार्यकारणभावका वर्णन है वह उनकी दृष्टिका अनुवाद है; जिनकी दृष्टिमें कार्यकारणभाव भासता है। किसीको आकाशमें इन्द्रधनुष दीख रहा हो और उससे हम कहें : 'तुम्हें जो यह आकाशमें लाल-पीला-नीला रंग दीख रहा है, वह है ही नहीं। वर्षा होते जलमें पड़ती सूर्यकी किरणोंके वक्रोभवनसे ये रंग उत्पन्न हुए हैं।' इसमें सूर्यकी किरणों और रंगमें कार्य-कारणभावका निरूपण करनेपर भी क्या वहाँ रंगकी उत्पत्ति हुई है ? रंग उत्पन्न नहीं हुआ, वह केवल दीखता है। वहाँ जाकर लाना चाहो तो वस्तुरूपसे रंग मिल नहीं सकता। वह ऐन्द्रियक प्रतीतिमात्र है। कार्य-कारणभावका वर्णन तो सूर्य-किरणोंके वैलक्षण्यके वर्णनके लिए है। इसी प्रकार :

‘अहं सर्वस्य प्रभवः मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।’—गीता १०।८

इस प्रकारके वर्णनका अभिप्राय द्रव्यमें कार्य-कारणभाव, कालमें पूर्वापर-भाव तथा देशमें अन्तर्बहिर्भावको तथ्यरूपमें प्रतिपादित करनेमें नहीं है ।

शून्यवादी बौद्ध कहते हैं—‘सृष्टि निरुपादान है ।’

चार्वाक, वैशेषिक, नैयायिक कहते हैं : वहिरंग पदार्थ (परमाणु) से सृष्टि हुई है ।

सांख्य और योग कहते हैं : ‘अन्तरंग कारणसे सृष्टि हुई है ।’

ईश्वरसे सृष्टि, कर्मसे सृष्टि, विज्ञानसे सृष्टि और दृष्टिसे सृष्टि—यह सब अन्तरंग कारणवाद है । काल, नियति, यदृच्छा, स्वभावको सृष्टिका हेतु मानना भी अन्तरंग कारणवाद है ।

अद्वैतवेदान्तमें ब्रह्मकी अद्वितीयताका निरूपण करनेके लिए कि प्रपञ्च ब्रह्मसे भिन्न नहीं है, कार्य-कारणभावका निरूपण आता है । परमब्रह्म परमात्मा ज्योंका त्यों रहता हुआ ही कार्य-कारणभावमें प्रतीत होता है । वस्तुतः परमात्मा कार्य-कारणरूप नहीं होता ।

इसका अर्थ यह है कि यह सबके हाथ-पैर, सिर-मुख, नेत्र-कर्णके रूपमें जो प्रपञ्च दृश्यमान हो रहा है, वह वस्तुतः ब्रह्म है और प्रतिभासतः प्रपञ्च है । अर्थात् प्रपञ्चकी केवल प्रातिभासिक सत्ता है, पारमार्थिक सत्ता नहीं है । इसी प्रातिभासिकी सत्तासे ही ब्रह्मकी पारमार्थिकी सत्ता सिद्ध की जाती है । पारमार्थिकी ब्रह्मसत्ताकी अपेक्षा किञ्चिन्न्यूनसत्ताकत्वेन इस प्रपञ्चकी स्थिति है । इसलिए सर्वत्र अपने विवर्तभूत प्रपञ्चमें अधिष्ठान-रूपसे ब्रह्म है । जैसे रज्जुमें प्रतीयमान सर्पमें सर्वत्र रज्जु ही रज्जु है । सर्पका सिर, पूँछ, नेत्र, जिह्वादि सब अंगोंके रूपमें रज्जु ही है ।

जैसे अर्धस्तवस्तु अधिष्ठानसे किञ्चित् भी पृथक् नहीं होती, वैसे ही प्रपञ्चमें जितने भी प्रतीयमान पाणि-पाद, अक्षि-शिर-मुख हैं, सब अपने अधिष्ठानसे सर्वथा अभिन्न हैं ।

‘स्थित्युद्भवप्रलयहेतुरहेतुरस्य यत्स्वप्नजागरसुषुप्तिषु सद् बहिश्च ।
देहेन्द्रियासु हृदयानि चरन्ति येन संजीवितानि तदवेहि परं नरेन्द्र ॥’

—भागवत

शुक्रदेवजी कहते हैं : ‘राजन् ! जो इस जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका कारण होनेपर भी स्वयं अकारण है—जिसका कोई कारण नहीं, जो जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओंमें रहते हुए भी इनसे बाहर है, देह, इन्द्रियाँ, प्राण और हृदय जिसकी शक्तिसे जीवन पाकर कार्य करते हैं, उसे परम तत्त्व समझो ।

दृश्यमान स्थितिके आधारपर उत्पत्ति एवं प्रलयकी कल्पना होती है । इस उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयका जो कारण है; किन्तु स्वयं अकारण है : उसका

कोई कारण नहीं है। यह वर्णन परोक्ष हुआ। अब कहते हैं; जो जगत्की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयका कारण है, वही जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिमें रहता हुआ इससे बाहर भी है। जाग्रत्में वैश्वानर, स्वप्नमें तैजस, सुषुप्तिमें प्राज्ञ है और वही इन तीनों अवस्थाओंमें तीनोंसे विलक्षण तुरीय है।

‘सर्वतः पाणिपादं’ की व्याख्यामें श्री बेंकटब्रह्मानन्दजी कहते हैं : ‘ये जो सब पाणि-पाद हैं, इनका सञ्चालक वही है।’

यहाँ व्यापकताको समझ लेना चाहिए। १. घड़ेमें मिट्टीके समान २. तरंगमें जलके समान ३. लोहेके गोलेमें अग्निके समान ४. चिनगारीमें अग्निके समान ५. श्वासमें वायुके समान ६. घटाकाशमें महाकाशके समान ७. स्वप्नमें मनके समान ८. मनोरथ वस्तुमें मनके समान व्यापकता होती है। इनसे विलक्षण व्यापकता है भ्रान्तिकी रज्जुमें सर्पके समान। इस भ्रान्तिकी व्यापकतामें व्याप्य-व्यापकभाव वास्तविक नहीं है। अज्ञानीकी दृष्टिसे सर्प ही है, रज्जु नहीं है। ज्ञानीकी दृष्टिसे रज्जु ही है, सर्प नहीं है। अतः यहाँ व्याप्य-व्यापक भाव अध्यारोपित है।

जिज्ञासुसे कहा गया : ‘जिसे तुम सर्प देख रहे हो, वह रस्सी है।’

जिज्ञासुने समझा : कदाचित् सर्प रस्सीमें लिपटा है। अतः कहा गया : ‘ध्यानसे देखो ! वहाँ सर्प है ही नहीं। रस्सीको ही तुम सर्प देख रहे हो।’

‘सर्वतः पाणिपादं’ : अज्ञानीकी दृष्टिमें पाणिपाद, अक्षि-शिर-मुख-कर्ण हैं। संसार है—सत्य लगता है। ज्ञानीकी दृष्टिमें केवल परमात्मा सत्य है, संसार नहीं है। जिज्ञासुकी स्वतःकी दृष्टिसे संसार है और गुरुकी दृष्टिसे परमात्मा है। ऐसी अवस्थामें जिज्ञासु सोचता है : ‘कदाचित् गुरुजीके द्वारा वर्णित परमात्मा मुझे दीखते हुए इस जगत्में व्यापक होगा।’

तब गुरुने समझाया : यह व्याप्य-व्यापक-भाव अध्यारोपसिद्ध है। इसका अपवाद कर देनेपर मूलवस्तु तो स्वतःसिद्ध है।

वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकः ।

जैसे ठूठ अपने स्थानपर खड़ा है। लोगोंमें कोई भ्रमसे उसे चोर कहता है, कोई भूत। यह भ्रम दूर हो जाय तो ठूठ है ही।

‘सर्वमावृत्य तिष्ठति’ : वह सबको ढँककर अर्थात् ‘सर्वं बाधित्वा’ सबका बाध करके स्थित है।

जे० के० वालोंने कानपुरमें एक बहुत सुन्दर मन्दिर बनवाया है। भारतके दर्शनीय मन्दिरोंमें वह है। जब मन्दिर बना तो उसमें ऊपर लिखनेके लिए उन लोगोंने मुझसे एक श्लोक माँगा। स्वप्नमें एक श्लोक स्फुरित हुआ। वह जगनेपर स्मरण रहा। मैंने उन्हें बतला दिया। उस मन्दिरमें वह श्लोक लिखा है :

‘आयान्तु सर्वे पुत्रा ये पृथिव्यां पश्यन्तु देवं अभितो भ्राजमानम् ।
अमृतं ज्योतिर्य दिवो दीप्तं तिष्ठत् तदस्मिन् दहरे असंवृतं चकास्ति ॥’

जो पृथिवीके पुत्र हैं वे यहाँ आयें और इस अत्यन्त प्रकाशमान देवताका दर्शन करें। स्वर्ज्योतिका अतिक्रमण करके जो अमृतज्योति स्थिर है—अपना स्वरूप है वह इस हृदय-मन्दिरमें बिना किसी आवरणके प्रकाशित हो रही है।

यह वैदिक मन्त्र और वैदिक छन्द है। यह भाषा आजसे २००० वर्ष प्राचीन है। अब यह स्वप्नमें कैसे स्फुरित हुई—इसके कारणका अध्यारोप ही तो करना है।

‘सर्वमावृत्य तिष्ठति’ : तिष्ठतिका अर्थ है कि यह समाधिमें प्रवेश नहीं करता-विक्षेपसे भागता नहीं। कार्य-कारणरूपमें, इदंता-अहंताके रूपमें, बहिः-अन्तःके रूपमें, आत्मा-अनात्माके रूपमें—सर्वरूपमें यही है।



● संगति

अक्षराभिन्न क्षेत्रज्ञ और क्षेत्रज्ञाभिन्न अक्षरतत्त्वका निरूपण अगले श्लोकमें है। 'सर्वतः पाणिपादं' में अध्यारोप किया था, अब उस अध्यारोपका अपवाद करते हैं। पहले सब इन्द्रियों और विषयोंसे ब्रह्मका सम्बन्ध बतलाया, सर्वरूप वही है—यह कहा। अब उसका अपवाद कर रहे हैं।

वैदिक दर्शनोंको छोड़कर दूसरा कोई दर्शन नहीं है जो जगत्का उपादान कारण परमात्माको मानता हो। कोई परमात्माको जगत्का निमित्त कारण मानते हैं; कोई प्रकृतिको ही कारण मानते हैं। चार्वाक और वैज्ञानिक जड़को ही मूल कारण मानते हैं।

जैन सृष्टिको अनादि और नित्य मानते हैं। वे मानते हैं कि आत्मा अपने-को अष्टादश दूषणरहित करके, शुद्ध, उज्ज्वल होकर सृष्टिसे पृथक् हो जाता है और अलोकाकाशमें चला जाता है। इस मतके प्रचारक परिच्छिन्न स्वयंप्रकाश आत्माका प्रतिपादन करते हैं। वे आत्माको जब स्वतन्त्र कहते हैं तब उनका तात्पर्य होता है कि आत्मा ईश्वररहित है। वे आत्माको परिच्छिन्न द्रष्टा, परिच्छिन्न स्वयंप्रकाश कहते हैं। उनके प्रतिपादनमें भ्रम होता है कि वे वेदान्तका ही प्रतिपादन करते हैं; किन्तु उनका मत सर्वथा अवैदिक एवं वेदान्तके प्रतिकूल है।

बौद्ध-दर्शनमें तो आत्माका उच्छेद ही मानते हैं। वे कहते हैं : 'आत्माका स्वयंप्रकाशत्व एवं स्वातन्त्र्य अन्तःकरणके कारण ही प्रतीत होता है। अन्तःकरण कालके पेटमें है, वृत्तियाँ क्षणिक हैं, अतः तत्त्व शून्य ही है। अन्तःकरण तथा उसमें प्रकाशित जीव तत्त्व नहीं है।

ये चार्वाक, जैन, बौद्ध, तीनों अवैदिक धर्म हैं। जगत्के निमित्त कारण रूपमें भी ये ईश्वरको नहीं मानते। अवैदिक दर्शनोंमें यहूदी, ईसाई, मुस्लिम, आचारकी दृष्टिसे भिन्न-भिन्न हैं। ये अपौरुषेय प्रमाण ही मानते हैं। अमुक कालमें अमुक पैगम्बरके प्रति ईश्वरने जो 'इलहाम' किया, उसमें अपने पहले आदेशोंको रद्द कर दिया। ये यद्यपि ईश्वरको मानते हैं, ईश्वरकी प्रेरणासे अपने धर्म-ग्रन्थका आविर्भाव मानते हैं; पर ईश्वरको जगत्का केवल निमित्त कारण मानते हैं।

जड़वादी चार्वाकादिमें जगत्के उपादान-निमित्त-कारणकी कल्पना ही है। वे जड़तत्त्वको नित्य मानते हैं और जड़की ही एक रासायनिक प्रक्रिया चेतनको मानते हैं।

जैन-सिद्धान्त दो द्रव्य मानता है जीव-द्रव्य और अजीव-द्रव्य। जीव जब अजीव द्रव्यसे अपनेको पृथक् करता है; आश्रव और संवर कर्मोंसे अपने आपको पृथक् बना लेता है; सम्यक् चारित्र्य, सम्यक् सङ्कल्प, सम्यक् समाधि द्वारा उज्ज्वल, स्वयंप्रकाश, स्वतन्त्र, कर्मसे असम्बद्ध हो जाता है तो तीर्थङ्कर पद

पा लेता है। इस सिद्धान्तके अनुसार कलियुग मुक्तिका युग नहीं है। इस युगमें किसीकी मुक्ति नहीं होती। इस समय साधन करो तो आगे दूसरे युगमें मुक्ति होगी। स्त्रीकी मुक्ति भी नहीं होती।

वैदिक दर्शनोंमें न्याय और वैशेषिक परमाणुको जगदारम्भक मानते हैं। सांख्य और योग जगत्को प्रकृतिका परिणाम मानते हैं। पूर्वमीमांसा जगत्को अनादि और प्रवाहरूपसे नित्य मानता है। वे मानते हैं कि जीवको कर्मानुसार देह मिलती है।

वेदान्त-दर्शन (उत्तरमीमांसा) की विशेषता है जगत्का उपादान कारण ईश्वरको मानना। वेदान्त परमात्माको जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण समझता है। वेदान्तदर्शन घटमें मिट्टी-सा, बूंदमें जल-सा, चिनगारीमें अग्नि-सा, भोंकेमें वायु-सा, घटाकाशमें महाकाश-सा, स्वप्नमें मन-सा ईश्वरको बतलाकर उसे व्यावहारिक बना देता है :

‘यदिदं दृश्यते किञ्चिद् यदिदं श्रूयतेऽपि वा ।

अन्तर्बहिश्च तत्सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः ॥’

श्री रामानुजाचार्यजी यह वचन उद्धृत करते हैं : जो कुछ यहाँ संसारमें दिखायी पड़ता है अथवा जो कुछ इहलोक या स्वर्गादिके सम्बन्धमें सुना जाता है, उन सबमें श्री नारायण बाहर और भीतर व्यापक होकर स्थित हैं।

इसीसे ब्रह्मसूत्रमें ब्रह्मका पहला लक्षण है :

‘जन्माद्यस्य यतः ।’

जिससे सृष्टिका जन्म हुआ अर्थात् जो जगत्का निमित्तकारण है, जिसमें जगत् स्थित है अर्थात् जो इसका आधार—अधिष्ठान है और जिसमें जगत्का लय हो जाता है अर्थात् जो इसका उपादान कारण है, वह ब्रह्म है।

इस विषयमें श्री विष्णुस्वामी, श्री रामानुजाचार्य, श्री चैतन्यमहाप्रभु सब एकमत हैं। सब परमात्माको ही जगत्का निमित्तकारण और उपादानकारण भी मानते हैं।

श्री निम्बार्काचार्य कहते हैं : ‘जगत् परमात्माकी शक्तिका विक्षेप है ।’

श्री वल्लभाचार्य कहते हैं : ‘जगत् परमात्माका सङ्कल्प है ।’

श्री रामानुजाचार्य कहते हैं : ‘चित्-अचित् दोनों परमात्माके विशेषण हैं ।’

श्री मध्वाचार्य कहते हैं : ‘परमात्माने अपने आपसे अपने आपमें जगत् बनाया है ।’

शैव, शाक्त, गाणपत्यादि आचार्य मानते हैं : जगत् ब्रह्मका परिणाम है।

जगत् ब्रह्मसे अतिरिक्त कुछ है, यह बात ब्रह्मसूत्रका व्याख्याता कोई आचार्य नहीं मानता। श्री भास्कराचार्य औपाधिक द्वैताद्वैत मानते हैं। श्रीनिम्बार्काचार्य स्वाभाविक द्वैताद्वैत मानते हैं। श्री बलदेव विद्याभूषण अचिन्त्य द्वैताद्वैत मानते हैं।

बौद्ध लोग जगत्को चित्तका परिणाम मानते हैं। सांख्य प्रकृतिका परिणाम मानता है। उपासक ब्रह्मका परिणाम मानते हैं। जड़वादी जड़का परिणाम मानते हैं। श्री शंकराचार्य ब्रह्ममें जगत्को विवर्त मानते हैं।

ब्रह्ममें जगत् विवर्त है, यह बात अध्यारोप-अपवादके द्वारा समझायी जाती है। 'सर्वतः पाणिपादं' इस श्लोकमें अध्यारोप किया। अब उस अध्यारोपका अपवाद करते हैं।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।

असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तु च ॥ १४ ॥

उस (परमात्मा)में सब इन्द्रियोंके गुणोंका आभास है; किन्तु उसमें कोई इन्द्रिय नहीं है। वह अनासक्त होते हुए सर्वभृत् है। वह निर्गुण रहते हुए गुणोंका भोक्ता है।

परमात्मामें कोई इन्द्रिय नहीं है; किन्तु सभी इन्द्रियोंके गुणोंके रूपमें वही भास रहा है। सबको वह अपनेमें धारण किये है; किन्तु कहीं आसक्त नहीं है। स्वयं निर्गुण है; किन्तु गुणोंका भोक्ता भी है।

परमात्मा परस्पर विरुद्धधर्माश्रय अथवा परस्पर विरुद्धधर्माधिष्ठान है। इस सिद्धान्तमें खुदा और शैतान दो नहीं हैं। एक ही वस्तु पुण्यात्माको खुदा और पापीको शैतान दीखती है। स्वयं वह पाप-पुण्य दोनोंसे वजित है।

जैसे शरीरमें मिट्टी, जल, अग्नि, वायु, आकाश हैं, वैसे ही ये शरीरसे बाहर भी हैं। यह जो पञ्चभूत तुम्हारे शरीराकार परिणामको प्राप्त हुए हैं, या तो इन्हें समष्टिसे एक करो अथवा व्यष्टि और समष्टिका पृथक्-पृथक् विचार करो—वेदान्तकी यही दो प्रक्रिया हैं।

शरीरके भीतर पञ्चकोशका विवेक करो और शरीरके बाहर पञ्चभूतका विवेक करो। जब एक अन्तःकरणको तुम मेरा कहते हो : 'यह मन, बुद्धि, चित्त मेरा, तब मेरावाला 'मैं' कौन ?' यहाँ इस भूलमें मत पड़ना कि मैं ब्रह्म हूँ और अन्तःकरणको 'मेरा' कह रहा हूँ। क्योंकि जब तुम 'मन मेरा-मैं मनवाला' कहते हो तो देहको ही 'मैं' कहते हो। तुम्हारा 'मैं' देह है और देहको 'मैं' करके तुम मन-बुद्धिको 'मेरा' बोल रहे हो। जैसे जड़वादी चार्वाक, डार्विन आदि कहते हैं : 'यह देह मैं, इस देहके सम्बन्धी मेरे' वैसे ही तुम भी हो। अतः या तो इस स्थूलसे मनको हटाकर चैतन्यमें स्थापित करो, या फिर देहके पञ्चभूतोंको समष्टिमें मिला दो। देखो कि इनका साक्षी कौन है ?

'मैं' यह अन्नमय शरीर है और इस अन्नमय शरीरमें 'मैं' करके जो पैरसे सिरतक व्याप्त होकर चैतन्यपुरुष स्थित है, उसका नाम 'अन्नमय पुरुष' है। इस देहकी क्रियाका जो ज्ञाता है, वह प्राणमय कोशमें स्थित चैतन्य 'प्राणमय पुरुष' है। जो अपनेको संकल्प-विकल्पवाला मान रहा है, वह मनोमय कोशमें

स्थित चैतन्य 'मनोमय पुरुष' है। जो अपनेमें कर्तृत्व मान रहा है, वह विज्ञानमय कोशमें स्थित चैतन्य 'विज्ञानमय पुरुष' है। जो अपनेको सुख-दुःखका भोक्ता मान रहा है, वह आनन्दमय कोशमें स्थित चैतन्य 'आनन्दमय पुरुष' है।

इसी प्रकार पृथ्वीसे तादात्म्यापन्न चैतन्य 'भूपुरुष' है। अन्तरिक्षसे तादात्म्यापन्न चैतन्य 'भुवःपुरुष' है। अन्तरिक्ष-वातावरणसे युक्त आकाशसे तादात्म्यापन्न चैतन्य 'स्वःपुरुष' है।

यही चैतन्य जाग्रत्-अवस्थासे तादात्म्यापन्न 'विश्व', स्वप्नावस्थासे तादात्म्यापन्न 'तैजस' और सुषुप्ति-अवस्थासे तादात्म्यापन्न होकर 'प्राज्ञ' कहा जाता है।

इस प्रकार समष्टि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाशसे तादात्म्यापन्न पुरुषके सम्बन्धमें विचार करो। जैसे देहमें स्थित चैतन्यका विचार देहस्थ पञ्च-भूतसे, क्रियाशक्ति, संकल्पशक्ति, विचारशक्ति एवं आनन्दशक्तिको लेकर पञ्च-कोश रूपमें पृथक्-पृथक् करते हैं, वैसे ही सारी सृष्टिमें पृथिवी, जल, अग्नि, वायु आकाशको लेकर उनसे चैतन्य न्यारा है, यह विचार करो।

इस प्रकार विचार करनेपर 'क्षेत्रज्ञ' दो प्रकारका हो गया। एक 'इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्गतश्चेतना धृतिः' को धारण करनेवाला व्यष्टिगत क्षेत्रज्ञ और दूसरा 'महाभूतान्यहङ्कारो बुद्धिरव्यक्तमेव च' को धारण करनेवाला समष्टि-गत क्षेत्रज्ञ इसमें क्षेत्रज्ञकी उपाधिका जब अपवाद करेंगे तब महावाक्यसे दोनोंका ऐक्य सिद्ध होगा : 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि।'।

गीतामें 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' वैसे ही महावाक्य है, जैसे छान्दोग्य-पनिषद्में 'तत्त्वमसि,' बृहदारण्यकोपनिषद्में 'अहं ब्रह्मास्मि,' ऐतरेयोपनिषद्में 'प्रज्ञानं ब्रह्म' और माण्डूक्योपनिषद्में 'अयमात्मा ब्रह्म'।

क्षेत्रकी उपाधिसे जो विविक्त चैतन्य है, वह न व्यष्टिमें और न समष्टिमें ही उपाधिके गुण, धर्म, अवस्था, स्वभाव, कर्म, आकार और नामको धारण करता है। चैतन्य नित्य असंग है। समष्टि व्यष्टिमें रहनेवाला असङ्ग चैतन्य है। दो नहीं, एक ही है। यह बात महावाक्य बतलाते हैं :

'अखण्डं सच्चिदानन्दं महावाक्येन लक्ष्यते।'

एक ही अखण्ड सच्चिदानन्द है, यह बात महावाक्य द्वारा लक्षित होती है।

जबतक समष्टिमें चैतन्य न्यारा और व्यष्टिमें चैतन्य न्यारा करके विवेक नहीं करोगे, तबतक एक अखण्ड सच्चिदानन्दका बोध नहीं होगा। जैसे घटमें आकाश घटसे पृथक् और महाकाश पृथक् जान पड़ता है, तबतक आकाशका ज्ञान नहीं हुआ। इसी प्रकार आकाशका अधिष्ठान ब्रह्म आकाशसे विलक्षण है।

ब्रह्ममें देश, काल, द्रव्य आदि सब भानात्मक ही हैं। ब्रह्मके पहले-पीछे, बाहर-भीतर, स्व या अन्य रूपमें प्रपञ्चका अस्तित्व नहीं है। ब्रह्म देशके अधिष्ठान रूपसे पूर्ण है, कालके अधिष्ठान रूपसे नित्य—अतः अविनाशी है, प्रत्येक बीजात्मक,

सत्तात्मक रूपका अधिष्ठान होनेसे सनातन है। ऐसा ब्रह्म ही अपना आत्मा है। इस प्रकार ब्रह्मसे जो भिन्न भास रहा है, उसका बाध हो गया।

पहले अध्यारोप करो, फिर अपवाद। तब दोनोंके—अध्यारोप-अपवादके साक्षी तुम स्वतःसिद्ध हो। जहाँ साक्षी पृथक् और अधिष्ठान पृथक् हैं, वहाँ दो वस्तुएँ हैं। जैसे सर्पका अधिष्ठान रज्जु और 'मैं' रज्जुका साक्षी। यह बात ठीक नहीं है। रज्जुमें प्रतीयमान सर्पका अधिष्ठान रज्जु नहीं है, वह तो तुम्हारे मनका भ्रम है।

‘अधिष्ठान जड़ वस्तु जहाँ है। द्रष्टा ताते भिन्न तहाँ है ॥

जहाँ होय चेतन आधारा। तहाँ न द्रष्टा होवे न्यारा ॥’

‘सर्वेन्द्रियगुणाभासं’ : इस बातको गीतामें अन्यत्र भी स्पष्ट किया गया है :

‘मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ॥’—९।४।५

एक ही श्रीकृष्ण एक ही प्रयत्नमें दो बात कहते हैं : ‘मत्स्थानि सर्वभूतानि’ सब भूत मुझमें हैं और ‘न च मत्स्थानि भूतानि’ मुझमें कोई भूत नहीं हैं। इसका स्पष्ट तात्पर्य है : अज्ञानीकी दृष्टिसे सब भूत (प्राणी) भगवान्में हैं। भगवान् कारण होनेसे समस्त कार्योंमें अनुस्यूत हैं। कार्य कारणमें, व्याप्य व्यापकमें, आधेय आधारमें, व्यष्टि समष्टिमें, और व्यक्ति जातिमें कल्पित होता है। देशमें पूर्वादि दिशा, कालमें आजकल आदि भेद कल्पित हैं। ये जिसमें कल्पित हैं, उससे भिन्न नहीं हैं। अतः भगवान्की दृष्टिसे ‘न च मत्स्थानि भूतानि’ उनमें कोई भूत सत्तारूपमें नहीं हैं।

‘सर्वेन्द्रियगुणाभासं’ : ‘इन्द्रियन्ति समर्थयन्ति शब्दादीन् विषयानिति इन्द्रियाणि।’ जो शब्दादि विषयोंको सत्तावान् करके दिखलायें, उनका नाम इन्द्रिय है। शब्द विषय है, गुण है, कर्ण इन्द्रिय है इसका और देवता है। दिक् जहाँ शब्द हो रहा है, वहाँसे दिशा द्वारा ही वह श्रोत्रकी शब्दनाड़ीसे सम्बन्ध कर सकेगा। इसमें मनोयोग होना—सुननेकी इच्छा होना आवश्यक है। रूप—श्वेत, हरा, लाल, नीला, पीला—विषय हैं। इनकी इन्द्रिय है नेत्र और देवता हैं सूर्य। सूर्यके प्रकाशमें नेत्रके द्वारा मनोयोग होनेपर रूप दीखेगा। नेत्रसे पुष्प नहीं, पुष्पका रंग दीखता है।

पदार्थमें पाँचों इन्द्रियोंके विषय होते हैं। जैसे पुष्पमें रंग, गन्ध, रस, स्पर्श और शब्द भी है। मनमें भी पाँचों विषय रहते हैं, किन्तु मनमें विषय अपंचीकृत रूपमें और पदार्थमें पंचीकृत रूपमें रहते हैं। इन्द्रियाँ एक-एक रूप, रसादिको ग्रहण करती हैं तो मन पाँचोंको ग्रहण करता है। किन्तु एक साथ एकको ही ग्रहण करता है।

हम विषय नहीं हैं। इन्द्रियगोलक नहीं हैं। इन्द्रिय नहीं हैं, मन नहीं हैं, बुद्धि नहीं हैं। ये अनेक हैं, दृश्य हैं। जड़ हैं, ये हमारे लिए हैं।

‘सर्वेन्द्रियगुणाभासं’ : सब इन्द्रियाँ और इनके गुण जिसमें आभासित होते हैं—वह स्वयंप्रकाश चैतन्य ही क्षेत्रज्ञ है। यह व्यष्टि क्षेत्रज्ञ है।

‘सर्वेषां प्राणिनां यानि इन्द्रियाणि ये च तेषां गुणाः तान् आभासयति इति सर्वेन्द्रियगुणाभासम् ।’

सब प्राणियोंकी इन्द्रियाँ, उनके गोलक, उनके विषय, उनके देवता—इन सबको जो आभासित करता है वह सर्वेन्द्रियगुणाभास क्षेत्रज्ञ है। यह समष्टि क्षेत्रज्ञ हुआ।

यहाँ व्यष्टि-समष्टि दोनोंकी सब इन्द्रियाँ, उनके गुण, मन एवं बुद्धि तथा इनकी अंकुरावस्था और बीजावस्था—इन सबका जो आभासक है, उस चेतनको ‘सर्वेन्द्रियगुणाभासं’ कहा गया।

तब तो चेतनमें इन्द्रियत्व हुआ—ऐसी शंका न हो, इसके लिए आगे कहा गया :

‘सर्वेन्द्रियविवर्जितं’ : वह असंग, उदासीन, कूटस्थ सम्पूर्ण इन्द्रियों और उनके गुण, धर्म, अवस्था, विषय, देवता, उनके सहयोगी मन-बुद्धि तथा उनका भोक्ता आदि सबसे विलक्षण है। उसमें यह सब है ही नहीं।

कालमें कोई वस्तु उत्पन्न होती है तो होकर मिट जाती है, देशमें वस्तु दूर हो जाती है, वस्तुएँ एक आकारसे दूसरे आकारमें बदल जाती हैं। तुम न गेहूँ, जौ आदिके समान बीज हो, न लम्बाई-चौड़ाईवाले देश हो और न आयु-वाले हो। अपनेको देश-काल एवं नामरूपात्मक वस्तुसे पृथक् कर लो। तुम स्वयंप्रकाश सर्वाधिष्ठान हो। ऐसे तत्त्वमें न सर्व है, न इन्द्रियाँ हैं, न उनका विषय, अवस्था, गुण, या धर्म है।

‘सर्वेन्द्रियगुणाभासं’ : वस्तुतः अन्तःकरणसे ही बहिःकरणकी उपाधि बनती है। परमात्माके प्रकाशसे ही अन्तःकरण और बहिःकरण (इन्द्रियाँ) प्रकाशित होते हैं। परमात्माका प्रकाश न हो तो न बुद्धि निश्चय कर पाये, न मन संकल्प कर सके। उस प्रकाशके बिना कान सुने नहीं, त्वचा स्पर्श न करे, जीभ स्वाद न ले सके, नेत्र देख न सकें, नासिका सूँघ न सके। पाँव चल न सकें, हाथ काम न कर सकें, मुख खा न सके, उपस्थ मूत्र एवं गुद मल-विसर्जन न कर सके। परमात्माका प्रकाश न हो तो न अन्तःकरण काम करे और न कोई इन्द्रिय काम कर सके। परमात्माका प्रकाश भरपूर न हो तो न इन्द्रियोंके विषय सत्ता प्राप्त कर सकें और न इन्द्रियाँ स्फुरित हो सकें। न कुछ ज्ञात हो सके। अतः सम्पूर्ण इन्द्रिय-करणोंके रूपमें एक परमात्मा ही व्यापृत न होनेपर भी व्यापृत-सा दीख रहा है :

‘ध्यायतीव लेलायतीव ।’—बृहदारण्यक ४।३।७

ऐसा लगता है मानो परमात्मा ध्यान कर रहा—स्थिर है और वही मानो चंचल-सा हो रहा है।

प्रतीत ऐसा होता है कि परमात्मा सब विषयोंवाला है; किन्तु वह विषयोंवाला है नहीं। प्रतीत होता है कि वह इन्द्रियोंवाला है; किन्तु वह इन्द्रियों-

वाला है नहीं। लगूता है कि वह मन-बुद्धिवाला है, पर वह मन-बुद्धिवाला है नहीं। क्योंकि वह सब इन्द्रियोंके काम करते रहनेपर भी स्वयं काम नहीं करता।

‘सर्वेन्द्रिय’—इन्द्रियाँ दो प्रकारकी हैं, अन्तरेन्द्रियाँ मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार तथा बाह्येन्द्रिय हैं कर्ण, नेत्र, जिह्वा, नासिका, त्वचा, हाथ-पैर, वाणी, उपस्थ और गुदा। लेकिन यह भेद बहुत स्थूल है। वस्तुतः इन्द्रियोंमें बाह्य-अन्तरका भेद नहीं है। नेत्र खुले रहते हैं; किन्तु मन कहीं और हो तो सामनेकी वस्तु भी दीखती नहीं। लोग कहते हैं :

‘अन्यत्रमना अभूवम् नापश्यम्।

अन्यत्रमना अभूवम् नाशृण्वम् ॥”

मन अन्यत्र था, इसलिए मैंने देखा नहीं। मन अन्यत्र था, इसलिए मैंने सुना नहीं।

इन्द्रियाँ वृत्तिरूप हैं। ये नेत्रगोलक, कर्ण गोलक आदि इन्द्रियाँ नहीं हैं। ये गोलक निष्क्रिय रहते हैं; किन्तु स्वप्नमें मनुष्य शब्द-स्पर्श, रूप-रस, गन्धका अनुभव करता है। इन्द्रियाँ सूक्ष्म शरीरके अंग हैं, स्थूल शरीरके अंग नहीं हैं। पञ्चप्राण, प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, मन और बुद्धि, इन सत्रहसे वनी लिङ्गदेह सूक्ष्म-शरीर कहा जाता है। ‘सर्वेन्द्रिय-गुणाभासं’ में ‘सर्वेन्द्रिय’ से ग्राहकमात्र उपलक्षित हैं।

‘गुण’ : इन ग्राहकमात्र इन्द्रियोंसे जो गृहीत होता है, वह गुण है। गुण इसलिए कि ये बन्धन हैं; क्योंकि ये इन्द्रियोंको अपनेमें रोकते हैं। रूप नेत्रको अपनेमें बाँधता है और कर्ण शब्दको अपनेमें। इस प्रकार ‘सर्वेन्द्रियगुणाभासं’ में ग्राह्य-ग्राहक दोनों ले लिये गये। परमात्मा ‘सर्वेन्द्रियवत्’ अर्थात् ग्राहकवत् ‘गुणवत्’ अर्थात् विषयवत् ‘आभासत’ इति ‘सर्वेन्द्रियगुणाभासं’ है। तात्पर्य यह कि परमात्मा शरीरमें रहकर सर्वेन्द्रिय-ग्राहकोंके रूपमें और बाहर सम्पूर्ण विषयोंके रूपमें भी इस प्रकार बाहर-भीतर सर्वत्र भासमान है।

‘किंचित् ? स्वप्नवत्।’

किसके समान ? स्वप्नके समान। जैसे एक द्रष्टा चैतन्यपुरुष स्वप्नमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश तथा इनके गुण और चराचर प्राणीके रूपमें, उनके हस्तपादादिरूपमें, कर्मेन्द्रिय-ज्ञानेन्द्रिय रूपमें तथा स्वप्नके व्यक्तियोंके मन-बुद्धिके रूपमें भी भासता है, वैसे ही परमात्मा सर्वरूपमें भासमान है।

‘सर्वेन्द्रियविवर्जितं’ : उसमें कोई इन्द्रिय नहीं। जाग्रतमें सब इन्द्रिय; मन काम करते हैं, सब विषय रहते हैं। स्वप्नमें नया संसार बन जाता है। वहाँ यह जल, पृथ्वी, वायु, अग्नि, आकाश नहीं है। वहाँ भी बाढ़ आती है, संगीत होता है, सम्बन्धी और शत्रु-मित्र होते हैं। स्वप्नावस्थाको छोड़कर सुषुप्ति होती है, वहाँ मन-बुद्धि, इन्द्रिय कोई सक्रिय नहीं रहती; किन्तु अपना आपा रहता है। इन्द्रियोंका यह उदय-विलय दोनों हममें होता है। एक ही वस्तु इन इन्द्रियोंके कारण अनेक भास रही है।

एक सज्जन कहते थे : 'मैं अध्यस्त हूँ, परमात्मा अधिष्ठान है ।'

आप यदि सोचते हैं कि हमारे मनसे जो ज्ञात हो रहा है, वह ब्रह्म है तो आप अपने मनकी कल्पनामें ब्रह्मका आरोप करते हैं । जो प्रत्यक्षरूपसे भास रही है यह सृष्टि—यह मनकी कल्पना है । हमारे अन्तःकरण और मनके पीछे, परोक्ष ब्रह्म देश, काल-अपरिच्छिन्न, प्रत्ययशून्य, अखंड-अविनाशी ब्रह्म और मैं उसमें अध्यस्त, यह सोचना भ्रान्त है । यह ब्रह्मकी कल्पना है, वह ब्रह्म नहीं है । जिसे आप अपने सामने या पीछे सोचते हैं यह सोचना ही आपमें अध्यस्त है । वस्तुतः आप ही सब अधिष्ठानोंके अधिष्ठान हो । अधिष्ठानोंकी कल्पना करनेवाले भी आप हो । आप अपनेको अधिष्ठान-अध्यस्त, उपाधि उपहित, प्रपञ्च चाहे जो कह लो, पर आपके सिवा अन्य है ही नहीं । अपने-आपका नाम ब्रह्म है । आपमें आगे-पीछे है ही नहीं । आपमें सृष्टि, स्थिति, प्रलय नहीं है ।

‘सर्वेन्द्रियविवर्जित’ : आपको यह प्रतीत होता है कि आप नेत्रसे देखते हैं; किन्तु आप नेत्रसे नहीं देखते हैं । देखना आपका सहज स्वभाव है । नेत्र तो ऐसे हैं जैसे चश्मा लगा लिया जाता है । रंगीन चश्मा लगा लो तो दृश्य रंगीन दिखलायी देता है । इसी प्रकार इन्द्रियाँ अद्वितीय ब्रह्ममें बाधक बनकर अन्यथा दर्शन कराती हैं । है तो कुछ और किन्तु मन उसे अन्यथा कुछ बतला रहा है; बुद्धि अन्यथा सूचित कर रही है; नेत्र अन्यथा दिखला रहे हैं । ऐसा इसलिए है कि पूर्णका दर्शन करानेमें कोई समर्थ नहीं है । आप एक बार इन सब देहेन्द्रिय, अन्तःकरण और ‘अहं’ पदवाच्यार्थ कर्ता-भोक्ता, संसारी, परिच्छिन्नको पृथक् करके, स्वयं इससे पृथक् हो जाओ—‘मैं न यह और न इनके द्वारा जो वस्तुएँ भासती हैं, वह’ ऐसा विवेक करो ।

वेदान्त निवृत्ति नहीं है । उपनिषद्में प्रश्न है :

स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः

भगवत्त्व किसमें प्रतिष्ठित है ?

‘स्वे महिम्नि यदि वा न महिम्नीति’—छा० ७।२।४।१

यह अपनी महिमामें—बृहत्तामें प्रतिष्ठित है । अथवा यह प्रतिष्ठा-प्रतिष्ठय भावरूप भेदकी कल्पना भी क्यों ? दूसरा है ही नहीं; तो व्यापक भी नहीं । यह माँकी भाँति किसीको गोदमें लेता नहीं और बच्चे-सा किसीकी गोदमें बैठता नहीं ।

‘सर्वेन्द्रियविवर्जित’ : श्रीरामानुजाचार्यजी इसकी व्याख्या करते हैं :

इन्द्रियवृत्तिभिरपि विषयान् ज्ञातुं समर्थः इत्यर्थः ।

परमात्मा हृदयमें बैठकर सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे सम्पूर्ण विषयोंको देख रहा है और ‘सर्वेन्द्रियविवर्जित’ बिना इन्द्रियवृत्तिके भी देख रहा है ।

जीव जाग्रतमें इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको देखता है । सुषुप्तिमें जब इन्द्रियाँ सो जाती हैं, तब नहीं देखता; किन्तु परमात्माका ज्ञान ऐसा है कि इन्द्रियाँ रहें या न रहें, देखना उसका सहज स्वभाव है ।

किसी वस्तुका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए सूक्ष्मवीक्षण (खुदवीन) या दूरवीक्षण (दूरबीन) यन्त्रकी तब आवश्यकता होती है, जब वस्तु इतनी सूक्ष्म या दूर हो कि खुले नेत्रोंसे न दीखे। परमात्मासे जैसी सूक्ष्म या दूर कोई वस्तु नहीं है, जिसे देखनेके लिए परमात्माको सूक्ष्मवीक्षण या दूरवीक्षण यन्त्रकी आवश्यकता हो। किसी वस्तुको हाथसे नहीं तोड़ पाते तो हथौड़ेसे तोड़ते हैं। हाथसे नहीं काट पाते तो आरीसे काटते हैं। परमात्माके भीतर तो संसार है ही नहीं। संसार न परमात्माके बाहर है, न भीतर। दर्पणको आकाशकी ओर करके रखो, उसमें दीखनेवाली नीलिमा दर्पणके बाहर है या भीतर? वह नीलिमा न आकाशमें है, न उसके भीतर। यह प्रपञ्च भी ऐसे ही ईश्वरमें प्रतीतिमात्र है। यह प्रपञ्च न ईश्वरमें है, न ईश्वरसे भिन्न। ईश्वरमें देश, काल, वस्तु अध्यस्त है। अतः अध्यस्त प्रपञ्चसे ईश्वरका किञ्चित् भी सम्बन्ध नहीं है। यह अध्यास अनादि है। परमात्माको जाननेके पूर्वतक है। परमात्माको जाननेके बाद और जाननेके मध्य यह नहीं है अर्थात् यह अज्ञानसे प्रतीत होता है एवं ज्ञानसे वाधित हो जानेवाला है। यह प्रपञ्च भासता हुआ भी नहीं है। केवल परमात्माका ज्ञान ही प्राप्तव्य है और वह भी स्वरूपसे ज्ञातव्य है।

‘सर्वेन्द्रियविवर्जित’ : यह क्षेत्रज्ञका—शरीर रूप क्षेत्रको जाननेवाले ‘मैं’ का वर्णन है। आप नेत्र नहीं हैं; क्योंकि जब नेत्र बन्द रहते हैं तब भी आप रहते हैं और जब नेत्र खुले रहते हैं, तब भी आप रहते हैं। इसी प्रकार आप कान, नाक, जीभ, त्वचा, मन-बुद्धि भी नहीं हैं। मन कभी संकल्प करता है, कभी नहीं करता। बुद्धि कभी निश्चय करती है, कभी नहीं करती; किन्तु आप सब अवस्थाओंमें रहते हैं। आपकी बुद्धि निश्चय करे या न करे, आप ब्रह्मा ही हैं। बुद्धि तो आपमें कल्पित है। निश्चयकी उपाधिसे ज्ञानका एक कल्पित नाम बुद्धि है।

भगवान् एक ओर कहते हैं : ‘सब इन्द्रियों एवं गुणोंका प्रकाश मुझसे है।’ दूसरी ओर कहते हैं : ‘मुझमें कोई इन्द्रिय और गुण नहीं हैं।’ यह बात परस्पर विरुद्ध नहीं है। अपनेसे दूरी, देरी, द्वितीयत्व वस्तुमें हो तब उसे देखनेको इन्द्रियकी आवश्यकता हो। लेकिन जिसमें दूरी, देरी, द्वितीयत्व कल्पित है, उसे देखनेके लिए इन्द्रियोंकी आवश्यकता नहीं है।

अधिष्ठानका अर्थ ही है अधिक स्थान। अध्यस्तसे अधिष्ठान बड़ा होता है। देशका अधिष्ठान देशसे बड़ा है। कालका अधिष्ठान कालसे बड़ा—अविनाशी है। भेदका अधिष्ठान होनेसे वह अद्वितीय है। उसमें भूला इन्द्रियोंकी गति कैसे हो सकती है?

‘सर्वेन्द्रिय विवर्जित’ : घड़ेमें जल भरा है। उसमें सूर्यका प्रतिबिम्ब पड़ रहा है। जलमें कम्प होता है तो वह जलस्थ प्रतिबिम्ब काँपता है।

“अधःस्थ इव कम्पत इव भासते।”

लगता है कि सूर्य (जलमें) नीचे आ गया है और काँप रहा है; किन्तु क्या सूर्य वहाँ घड़ेके भीतर है? क्या सूर्य काँपता है?

इस प्रपञ्चमें न कुछ बाहर है, न भीतर ।

असक्तः सक्त = सटा हुआ । मनुष्यमें आसक्ति-राग होता है । पति-पत्नी, पिता-पुत्र-परिवार, मित्र आदिसे मन सटता है । आत्मदेव किसीसे सटते नहीं ।

आसक्ति कहाँ है ?

विषयमें ।

विषयमें तो आसक्ति नहीं है । रूप, रस, गन्ध, स्पर्श या शब्द कहाँ किसीसे आसक्ति करते हैं । धनने किसीसे आसक्ति की है ?

तब क्या इन्द्रियोंमें आसक्ति है ? मनुष्यको स्वाद चाहिए, भोज्यपदार्थ क्या है, इसकी उतनी अपेक्षा नहीं । ऐसा व्यक्ति इन्द्रियाराम होता है । जब मनमें धर्मका संस्कार होगा, तब प्रश्न उठेगा कि भोज्यपदार्थको किसने बनाया ? कैसे बनाया ? किन पदार्थोंसे बनाया ? कहाँ बनाया ? वह धर्मानुकूल बना होगा तब खायेंगे । मनमें धर्मका संस्कार न हो तो यह सब विचार ही नहीं उठेगा । ऐसे लोग वस्तुके प्रेमी नहीं होते, जीभके—इन्द्रियके प्रेमी होते हैं । इन्द्रियोंको जैसा भोग भोगनेका अभ्यास पड़ गया है, वे उस अभ्यासके वशमें हैं ।

अब देखो कि क्या हम इन्द्रियोंके वशमें हैं ? नहीं : मनके वशमें हैं । जीभने कहा कि यह भोजन स्वादिष्ट है; किन्तु यदि बुद्धि कह दे कि इसमें विष है तो तुम तुरन्त उसे त्याग दोगे ।

यह भी एक आसक्ति ही है कि हम खायें, देखें, सूँघें, छुयें, सुनें, किन्तु इनमें हमारी आसक्ति न हो । वैसे रहें जैसे जलमें कमल रहता है ।

जलको तपाओ : वह थोड़ी देरमें फिर ठंडा हो जायेगा; क्योंकि उसका स्वभाव ही शीतल रहता है । आकाशमें रात्रिका अन्धकार और दिनका प्रकाश आता है, क्या आकाश इनमें आसक्त होता है ? ऐसी ही असक्ति आत्मामें है ? आकाशमें नीलिमा भास रही है । आकाश अनासक्त है, यह द्वैतभावमूलक अनासक्ति है । वस्तुतः नीलिमा भासती है, है नहीं, इस प्रकार अपनेसे जो भिन्न प्रतीति है, वह केवल प्रतीति है, है नहीं । यह आत्माकी अनासक्ति है ।

‘असक्त’ : आसक्ति दोमें होती है । एक ही वस्तु अपने आपमें आसक्त नहीं होती । दूसरा है ही नहीं तो आसक्ति कैसे हो । स्वप्नके दृश्यसे स्वप्नका द्रष्टा आसक्त नहीं होता । जैसे स्वप्नके दृश्य बदलते हैं, वैसे ही जाग्रतके भी दृश्य बदलते हैं । इसमें आसक्तिका हेतु ही कहाँ है ।

‘सर्वभृच्चैव’—‘सर्वभृच्चैव असक्तं असक्तं चैव सर्वभृत्’ : वह परमात्मा सर्वभृत् होते हुए असक्त है और आसक्त रहते हुए सर्वभृत् है । रज्जु अपनेमें प्रतीयमान सर्पसे किञ्चित् सम्पर्क न रखते हुए भी अपनेमें सर्पकी प्रतीति करा रही है ।

‘असक्ता सर्पभृच्चैव यथा रज्जुर्न संशयः

जैसे असक्त रहते हुए रज्जु सर्पभृत् है, निःसन्देह परमात्मा वैसे ही असक्त रहते हुए सर्वभृत् है ।

ध्यायतीव लेलायतीव—बृहदा० ४।३।७

उपनिषद्ने परमात्माको ध्यान करता-सा अन्तरिन्द्रिय कार्यके लिए कहा और बहिरिन्द्रिय कार्यके लिए 'लेलायतीव' : प्राप्त करता-सा कहा । परमात्मा में न ध्यान है, न क्रिया है । परमात्मा में संकल्प और क्रिया दोनों ही प्रातीतिक ही हैं, तात्त्विक नहीं ।

तुमने कहाँ देखा है कि अद्रष्टाको अवस्तुमें भ्रम हुआ ? भ्रम तो द्रष्टाको ही होता है और वस्तुमें ही होता है । ज्ञानरहितको भ्रम नहीं होता । भ्रमका अर्थ है विपर्यय ज्ञान । यह जो परिच्छिन्न प्रपञ्च दीख रहा है, यह किस चिदाकाशमें दीख रहा है ? किस चिदाकाशको दीख रहा है ? यह जिस चिदाकाशमें दीख रहा है, जिस चिदाकाशको दीख रहा है : दोनों ही नहीं हैं । यह प्रपञ्च प्रातीतिक ही है । उस मूलतत्त्वमें तो न इन्द्रिय हैं, न गुण । अतः आसक्ति भी नहीं है । ऐसा रहते हुए वह अपनेमें प्रतीत होनेवाले प्रपञ्चका भरणकर्ता है ।

'भूतभृच्च च भूतस्थो समात्मा भूतभावनः' ।—गीता ९।५

भगवान् कहते हैं : भूतों (प्राणियों) का भर्ता होनेपर भी मैं उनमें नहीं हूँ । मेरा स्वरूप ही भूतभावन है ।

तुम्हें स्वप्नमें जो एक सहस्र प्राणी दीखे, उनमें एक सहस्र जीव हैं ? उनके पाप-पुण्य उन्हें लगते हैं ?

'सर्वभृत्' : 'सर्वं विभर्ति इति सर्वभृत्' सबको अपनेमें धारण करता है अर्थात् अज्ञानीकी दृष्टिसे सबकी प्रतीति उसीमें है ।

'सर्वभृत्' : 'आधाराधेय' भावसे ब्रह्म सर्वभृत् नहीं है; जैसे टोकरीमें बेर या आकाशमें नक्षत्र हैं, वैसे कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड ब्रह्ममें हैं, ऐसा नहीं । जैसे घड़ेमें रूप समवाय सम्बन्धसे रहता है, सृष्टि ब्रह्ममें नहीं है । 'समवायसम्बन्धं विनैव सर्वभृत्वं ब्रह्मणः' समवाय सम्बन्धके बिना ही ब्रह्ममें सर्वभृत्पन है । जैसे भृगतृष्णामें भासमान जलका कोई सम्बन्ध न होनेपर भी वहाँ जल भासता है, वैसे ही सृष्टि ब्रह्ममें न होनेपर भी भासती है ।

'सर्वभृच्चैवासक्तः' : सबको धारण करता हुआ भी असंग है । आपकी अपनी असंगता प्रतीत नहीं होती । कितने नोट आपके पास आये और गये, आपने क्या उनको पकड़ा ? जैसे सर्प केंचुल छोड़ देता है, जैसे सिनेमाका पर्दा दृश्य छोड़ता जाता है, वैसे ही इस दृश्यको आप छोड़ते जा रहे हैं । चैतन्य कहीं आसक्त होता ही नहीं । मरे हुए सम्बन्धीके लिए कोई कब तक रोयेगा ? सम्पूर्ण प्रपञ्च आदर्शन एवं विस्मरणके गर्तमें जा रहा है । यह किसीसे संग नहीं करता है ।

त्यजन्तं सन्त्यजाम्यहम्

अरे ! देह, तू मुझे छोड़ता जा रहा है ! ले, मैं तुझे छोड़ रहा हूँ ।

चेतनका सहज स्वरूप असंगता है ।

'सर्वभृच्चैव' : जो वस्तु भासती है, उसमें 'सत्' बुद्धि अनुगत होती है । जैसे नेत्र दवानेपर आकाशमें अनेक चन्द्र दीखते हैं तो बुद्धि कहती है : 'यह भी

चन्द्र है, यह भी चन्द्र है।' वास्तविक चन्द्रमें जो 'सत्' बुद्धि है, वह प्रतीत होनेवाले चन्द्रमें भी अनुगत होती है। एक चन्द्र है, यह अपना ज्ञान है। इसी प्रकार सत्ता एक है, इसलिए जो-जो वस्तु दीखती है, उसमें 'सत्' बुद्धि अनुगत होती है।

'विगतं सति कल्पितं' : दिखलायी पड़नेवाली विवादास्पद वस्तु : 'प्रत्येक सद्गुण विद्वधी बोध्यत्वात्' : यह घड़ा है, यह कपड़ा है। यह सत्तामें ही कल्पित है। 'प्रत्येक चन्द्राभेदानुविद्वधीबोध्यचन्द्र भेदवत्' चन्द्र मूलतः तो एक ही है। शेष सब चन्द्र प्रतीतिमात्र हैं। इसी प्रकार आकारहीन सत्ता अबाध्य है और आकारोंकी प्रतीति मिथ्या हो रही है। प्रपञ्चमें यह जो 'है' है; प्रतीत हो रहा है, वह एक ही सत्ता सर्वत्र अनुगत हो रही है। मरुस्थलमें जो जलकी प्रतीति है, वहाँ जल नहीं है। अभावमें भी 'है'की अनुगति देखनेमें आती है। कहा जाता है : 'घड़ा नहीं है।' अतः—'सर्व सदास्पदं' चाहे भाव हो या अभाव, सब सत्तामें ही कल्पित होता है।

'निरधिष्ठानत्वायोगात्'

क्योंकि वस्तु निरधिष्ठान नहीं होती। सबका अधिष्ठान सन्मात्र ही होता है।'

वेदान्ती कहते : 'अमाधिष्ठान और प्रमाधिष्ठान एक ही होता है।'

सच्चा चन्द्र ज्ञात हुआ तो उसे कहेंगे प्रमा और झूठा चन्द्र ज्ञात हुआ तो उसे कहेंगे भ्रम। लेकिन प्रमा और भ्रम दोनों हमारे अन्तःकरणमें ही होते हैं। अमवाले अन्तःकरणका जो साक्षी है, जो अधिष्ठान है प्रमावाले अन्तःकरणका भी वही साक्षी है, वही अधिष्ठान है ये साक्षी-अधिष्ठान दो नहीं हैं। जिसे यथार्थ ज्ञान होता है, उसीको अयथार्थ ज्ञान भी होता है। ज्ञानमें तो यथार्थ-अयथार्थका भेद है नहीं। ज्ञान यथार्थ-अयथार्थ दोनोंका प्रकाशक है। इसलिए आत्माके अस्तित्वमें कभी किसीको शंका नहीं होती। जो वस्तु आत्माको ज्ञात होती है, वह यदि योग्य स्थानपर ज्ञात हो तो यथार्थ है और अयोग्य स्थानपर ज्ञात हो तो अयथार्थ है। वस्तुके विषयमें निर्णय होता है कि वह अपने अभावके अधिकरणमें भास रही है या नहीं। जो भी वस्तु अपरिच्छिन्न ब्रह्ममें परिच्छिन्न भास रही है, वह अयोग्य अधिकरणमें भास रही है। अतः अपरिच्छिन्न वस्तु मिथ्या है।

एक अनेकके अभावका अधिकरण है, अतः एकमें भासमान अनेक मिथ्या है।

जड़ भास रहा है : अपने अभावके अधिकरण चेतनमें, अतः जड़ मिथ्या है।

अपना परम प्रेमास्पद सुखस्वरूप आत्मा है। वही दुःखका अधिकरण है। दुःख भास रहा है अपने अभावके अधिकरण आनन्दस्वरूप आत्मामें, अतः दुःख मिथ्या है।

अपना आत्मा चित्स्वरूप है। वही अज्ञानका अधिकरण है। अज्ञान भास रहा है अपने अभावके अधिकरण—चित्स्वरूप आत्मामें; अतः अज्ञान मिथ्या है।

अपना आत्मा सत्स्वरूप-अविनाशी है। विनाश-मृत्युका भी वही अधिकरण है। विनाश-मृत्यु भास रहे हैं अपने अभावके अधिकरण सत्स्वरूप आत्मामें, अतः विनाश-मृत्यु मिथ्या हैं।

देशके अभावके अधिकरण आत्मामें देश भास रहा है, अतः देश मिथ्या है। लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई, पूर्व, पश्चिम आदि भेद मिथ्या हैं।

काल भास रहा है अपने अभावके अधिकरण आत्मामें। अतः दिन, सप्ताह, मास, वर्षात्मक काल मिथ्या है।

आकार भास रहा है अपने अभावके अधिकरण आत्मामें, अतः सत्में प्रतीयमान आकार मिथ्या है।

इसलिए सम्पूर्ण मिथ्याओंको धारण करता हुआ भी यह न मिथ्याभूत प्रत्ययोंसे आसक्त है और न गुणवान् है।

‘निर्गुण’ : गुण अर्थात् रस्सी, निर्गुण = जिसमें रस्सी न हो। जो न स्वयं बन्धनमें आये और न किसीको बन्धनमें डाले, वह निर्गुण।

गुण = विषय। जो गुणोंसे निष्क्रान्त है, विषयोंसे अतीत है, वह निर्गुण।

गुण = सत्त्व, रजस् और तमस्। इन्हींसे सब विषय बनते हैं। अतः त्रिगुणके कार्य होनेसे विषयोंको गुण कहते हैं।

इन्द्रियोंको भी गुण कहते हैं। ये विषयोंके साथ बंधने जाती हैं। देह भी गुण है, त्रिगुणात्मक है। अन्तःकरण त्रिगुण है। इनका कारण अहंकार त्रिगुण है। इनकी साम्यावस्था प्रकृति भी गुणमयी है। गुणमयी प्रकृति और उसके कार्य जिसमें सत्ताशून्य हैं, वह निर्गुण है।

आपको बन्धन कहाँ दीखता है? उपादान कारण-कार्यसे आवद्ध है? मृत्तिका घटसे बँधी है? जितनी मिट्टीसे घड़ा बना है, क्या वह मिट्टी सदा घड़ा बननेको बाध्य है? क्या जल तरंगादि आकारोंमें आवद्ध है? प्रकृति सदा विकृतिरूपमें या साम्यावस्थामें रहनेको बाध्य है?

प्रपञ्चमें ऐसी कोई अवस्था नहीं, जो किसी आकार-विकार-प्रकार-संस्कारमें बँधी रहे। सत्ता घट-पटमें अनुगत तथा इनसे व्यावृत्त है। इसका अर्थ है कि घट-पटमें सत्ता आवद्ध नहीं है। घट-पट सत्तामें कल्पित है। इसी प्रकार चिन्मात्र कहीं आधि-व्याधि-उपाधि-समाधिमें आवद्ध नहीं होता।

‘निर्गुण’ : इसमें कहीं बन्धन नहीं है। कालसे प्रकृतिमें विकारिता-निर्विकारिता भासती है। ब्रह्ममें कालकी कल्पना उसका अविनाशित्व समझाने-को ही की गयी है। परमात्मा तो निर्गुण है। उसमें कर्मका बन्धन नहीं है। इसे भ्रान्ति और अज्ञान भी वस्तुतः देशान्तर, कालान्तर, भावान्तरमें ले जानेमें समर्थ नहीं हैं। यह बिना गये भी गया-सा प्रतीत होता है। जैसे स्वप्नमें हम अन्य गाँवमें जानेका अनुभव करते हैं, वैसे ही मृत्युके अनन्तर चैतन्यमें ही भावान्तरका उदय होता है। अनवच्छिन्न चैतन्यमें आवागमन सम्भव नहीं है।

‘निर्गुण’ : इसमें सत्त्व, रज, तम ये गुण नहीं हैं। सत्त्व गुणको श्वेत, रजोगुणको लाल और तमोगुणको काला कहा जाता है। रंग तो ऐन्द्रियक प्रतीति हैं। ये गुण कैसे होंगे ? स्थूल देह तमोगुण, द्रव्यात्मक है। इस देहमें जो क्रिया है, वह रजोगुण है। इसमें जो ज्ञान है, वह सत्त्वगुण है। अच्छा, ये गुण हैं या गुणके कार्य हैं ? देह, क्रिया, ज्ञान ये तो गुणोंके कार्य हैं। देहको देखकर देहके कारण रूपमें तमोगुणका अनुमान होता है। क्रियाको देखकर क्रियाके कारण रूपमें रजोगुणका अनुमान होता है। वृत्तिको देखकर वृत्तिके कारण रूपमें सत्त्वगुणका अनुमान होता है।

मनुष्य जब अपनेको पञ्चभूत मान लेता है तो वह अपनेको कभी पूर्ण अनुभव नहीं कर पाता। साधारण व्यापारी सोचता है : ‘एक मिल, एक कारखाना खुल जाय तो वह पूर्ण हो जायगा।’ कारखाना खुल गया तब सोचता है कि ‘यह तो बहुत छोटा है। अमेरिकाके कारखाने-जैसा बने तब मैं पूर्ण होऊँगा।’ वैसा भी बन जाय तो वैसे सैकड़ों कारखाने बनवाना चाहेगा। यह हमारी स्थिति नहीं, विक्षिप्त दशा है। ‘हम यह करें तो बड़े हों, यह करें तो बड़े हों।’ तुम्हारे जीवनको मृत्युसे बचानेके लिए कितना अन्न आवश्यक है और शीतसे बचानेके लिए कितना वस्त्र चाहिए ? जब चित्तकी घोर दशा हो जाती है, तब मनुष्य ‘यह कर लें, वह कर लें’ कहता है।

अपनेमें मूढ़दशाका आरोप तमोगुणकी दशा है। अपनेमें क्षिप्त-विक्षिप्त-घोर दशाका आरोप रजोगुण-दशा है। जब चित्त करनेसे थकनेपर शान्त हो जाता है अथवा करनेका संकल्प त्यागकर शान्त हो जाता है, तब सत्त्वगुणकी दशा आती है। वस्तुतः करनेसे चित्त शान्त नहीं होता।

दो महात्मा यात्रा कर रहे थे। उनमें एकको प्यास लगी। दूसरे महात्माने कहा : ‘हम तो ध्यान करने बैठते हैं।’

पहला : ‘मुझे प्यास लगी है। मैं उसे मिटानेका यत्न करता हूँ।’

पहला वहाँ तक गया, जहाँ उसे रस्सी, लोटा मिल सकता था। कुएँपर जाकर उसने पानी खींचकर पिया। अब इतना यत्न करके, पानी पीकर वह उस शान्त-दशामें पहुँचा, जिस अवस्थामें दूसरा महात्मा प्यास न लगनेके कारण पहलेसे था। जिसे प्यास लगती है, उसे प्रयत्न करना पड़ता है। चित्तकी शान्ति चित्तकी सत्त्वगुणकी अवस्था है; किन्तु वह सदा बनी नहीं रह सकती।

सत्त्व-रज-तम, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति, मूढ़ता-विक्षेप-शान्ति, सृष्टि-स्थिति-प्रलय, विराट्-हिरण्यगर्भ-ईश्वर, ब्रह्मा-विष्णु-महेश, अकार-उकार-मकार, देह-प्राण-बुद्धि, विश्व-तैजस-प्राज्ञ, ये सब एक ब्रह्ममें कल्पित हैं। अथर्ववेदमें एक मन्त्र है :

येनैवास्मजद् घोरं तेनैव शान्तिरस्तु नः ।

जिससे घोरता उत्पन्न हुई है, उसीसे हमें शान्ति हो। एक मित्रने धोखा दिया, उससे हमें अशान्ति हुई। फिर उसी घटनासे हमें शान्ति हुई : 'ईश्वरने बड़ी कृपा की। हम ऐसे व्यक्तिपर भरोसा करके उससे आसक्त थे, अब सावधान हो गये।'।

संसारके गुण अपनेको कभी घोर, कभी शान्त तो कभी मूढ़ दिखलाते हैं। मैं चित्तके घोर, शान्त, विक्षेपसे एक नहीं हूँ। यह परमात्मा गुणोंसे निष्क्रान्त-निर्गुण है। गुणोंके भेदसे जो संज्ञा, अवस्था, देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धिके भेद हैं, वे मुझमें नहीं हैं।

अशब्दमस्पर्शमरूपमरसगन्धम्।

श्रुति कहती है : परमात्मामें न शब्द है, न स्पर्श, न रूप, न रस और न गन्ध।

ऐसा परमात्मा तुम्हारी आत्मा है। वह बिन्दु या स्फुलिंग नहीं है। बिन्दु हो तो देश-काल-वस्तुसे परिच्छिन्न होगा।

जब परमात्मा निर्गुण है तब जो यह जगत् दीख रहा है, वह किसे दीख रहा है ? इसका उत्तर देते हैं :

'गुणभोक्तृ च' : यह जगत् प्रतीतिस्वरूपमें है। ये विराट्-हिरण्यगर्भ-ईश्वर, स्थूल-सूक्ष्म-कारण, स्वर्ग-नरक-मर्त्यलोक हमें ही प्रतीत होते हैं। शब्दादि हमें ही प्रतीत होते हैं।

भोक्तृत्वं नाम उपलब्धत्वम्।

उपलब्धिपनेका नाम ही भोक्तृत्व है। स्वाद क्या है ? जीभसे जानना-मात्र। गुणोपलब्धि ही भोक्तृत्व है। सभी भोग ज्ञानरूप ही हैं।

जीभके विभिन्न अंगोंपर रसानुभवके छिद्र हैं; किन्तु रसनेन्द्रिय पूरे देहमें व्यापक है। वह अन्यत्र सुप्त है, केवल जिह्वामें जाग्रत है। सम्भव है, वैज्ञानिक किसी प्रयत्नसे पूरे देहमें व्यापक इन्द्रियको जाग्रत् कर सकें, तब अंगुलीसे भी रसानुभव सम्भव हो जायगा। यदि हम इन्द्रियोंको छोड़ दें तो सुख-दुःख सब ज्ञानमात्र हैं। ज्ञानरूप परमात्मा ही भोगरूपमें भी प्रतीत हो रहा है।

'गुणभोक्तृ च' : भोग कहीं देहके बाहर नहीं होता। गाँवोंमें कुत्ते दुबले होते हैं, निराश्रय होते हैं, उन्हें डंडा दिखाओ तो वे 'काँय-काँय' करने लगते हैं। उन्हें डंडा तो लगा नहीं; दुःख हो रहा है, पर कहाँ हो रहा है ? मनुष्यमें दुःख है ? डंडेमें है ? कुत्तेके नेत्रमें है ? दुःख है कुत्तेके मनमें।

सुख-दुःख न शब्द-स्पर्शमें, न रस-गन्धमें, न रूप या कल्पनामें, न गाली या प्रशंसामें रहते हैं। यह शब्दादिमें जो अनुकूल या प्रतिकूल कल्पना हो गयी, उसी कल्पनामें सुख-दुःख है।

हमारे सामने गंगाजलसे बना पवित्र भोजन हो, पर सामने बैठकर कोई मांस खाय तो हमारे चित्तमें भोजनके प्रति ग्लानि हो जायगी। हमारे चित्तका

जो संस्कार है, वही किसी शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध-संकल्प विचारको अनुकूल या प्रतिकूल मानकर सुख-दुःख या मोहके आकारको प्राप्त कराता है। सुख-दुःख-मोह ये तीनों हमारे मनके परिणाम हैं, विषयके नहीं।

बाजारमें चार व्यक्ति शराब पीकर हँस रहे हैं। हम उन्हें देखकर दुःखी होते हैं। वे तो मौजमें हैं, हम उन्हें देखकर दुःखी हो रहे हैं। यह दुःख हमारे मनसे ही तो निकला।

गालीसे चित्त दुःखाकार परिणामको प्राप्त होता है। प्रशंसासे चित्त सुखाकार परिणामको प्राप्त होता है। बहुत आसक्ति हो तो चित्त मोहाकार परिणामको प्राप्त होता है। ये सुख-दुःख-मोह बाहर नहीं होते।

आदिवासी लोग शरीरपर गोदना गुदाते हैं : गलेमें मूंगेकी माला पहनते हैं। वे ढेरों मूंगेकी माला पहनना सुखकर मानते हैं। आजके नगरवासीको कोई ऐसा बलपूर्वक कराये तो उसे कितना दुःख होगा ? वस्तुमें सुख-दुःख-मोह नहीं होते। भोग न वस्तुका होता है, न स्थानका, न समयका। अनुकूलाकारमें परिणत अथवा प्रतिकूलाकारमें परिणत चित्तका ही भोग होता है। बाहरका निमित्त आया। उसे तुमने बुरा या अच्छा माना, तब उससे तुम्हें दुःख या सुख हुआ।

सात्त्विक चित्त सुखाकार परिणामको प्राप्त होता है। वह मृत्युको भी सुख देखता है। सात्त्विक व्यक्ति सोचता है : 'चार दिन बाद तो मरना ही था, आज ही सही। चलो, प्रपञ्चसे जल्दी छुटकारा मिला।'।

ज्वर आया तो साधक सोचता है : 'बड़े-बड़े महात्मा तो तप करते हैं, पञ्चाग्नि तापते हैं। ईश्वरने कृपा करके हमारे लिए इस रूपमें पञ्चाग्नि भेज दी। आज कामसे विश्राम मिला।'।

मनुष्य भोग नहीं करता, केवल भोगका ज्ञान प्राप्त करता है। तुमने जीभपर नमकीन रखा तो जीभने उसका ज्ञान कराया। सुख-दुःख-मोह चित्तकी बनावट है। आत्मा केवल उसका ज्ञाता है, ग्रहीता नहीं। ग्रहीता अन्तःकरण है। वह विषयोंका प्रतिबिम्ब ग्रहणकर सुखाकार या दुःखाकार या मोहाकार परिणामको प्राप्त होता है। आत्मा परिणामको प्राप्त नहीं होता। केवल प्रकाशक और साक्षी होता है। यदि आत्मा ही सुखी-दुःखी-मूढ़ हो जाय, तो इस सुखी-दुःखी-मूढ़पनेका साक्षी कौन होगा ? अतः आत्मा सुखी-दुःखी-मूढ़ नहीं होता।

मनको अच्छा-बुरा अभ्याससे लगता है। किसीको मिर्च-खटाई खानेका अभ्यास न हो तो उसे मिर्च-खटाई बुरी लगती है। जिसको मिर्च-खटाईका अभ्यास है, उसे भोजन उनके बिना अच्छा ही नहीं लगता।

आत्माको सुखाकार-दुःखाकार वृत्ति जाननेके लिए करणकी आवश्यकता नहीं है। वह स्वयंप्रकाश है। देश-काल-वस्तुका भेद अन्तःकरण द्वारा ग्रहीत

होता है, जो कल्पित है। आत्मा देश-काल-वस्तुकी कल्पनाका साक्षी है। देश-काल-वस्तुके बिना भी वह उनका साक्षी है। अतः स्वयंप्रकाश है।

यह आत्मा गुणोपलब्धा है। इसे सुख-दुःख-मोहका भान ही होता है। इसको अन्तःकरणोंका भान ही होता है। यह सुखी-दुःखी-मोही या अन्तःकरणी नहीं होता।

‘निर्गुणं गुणभोक्तृ च’ : यहाँ गुण शब्दसे गुणोंका कार्य—गुणोंकी वैषम्या-वस्था तथा साम्यावस्था दोनों परमात्मामें नहीं हैं, यह सूचित किया गया है। परमात्मामें कार्य-कारण, धर्म-धर्मी, आधार-आधेय, नियन्त्र-नियम्य, भोक्तृ-भोग्य, आश्रय-आश्रित कोई भाव नहीं है; क्योंकि सत्यका मिथ्याके साथ कोई सम्बन्ध नहीं होता।

श्री नेहरूजी कांग्रेस-आन्दोलनके समय मेरे गाँवके पास एक बार आये। उस समय लाहौरमें पूर्ण स्वतन्त्रताकी घोषणा हो चुकी थी। बड़ी भीड़ हुई। मेरे मनमें भी नेहरूजीको देखनेकी उत्सुकता थी। मैं वहाँ गया। उस सभामें नेहरूजीने कहा : ‘अंग्रेज असत्-पथपर हैं और हम सत् पथपर हैं। वे अन्याय कर रहे हैं, हम न्याय चाहते हैं। वे असत्यपर हैं, हम सत्यपर हैं।’ अन्तमें उन्होंने कहा : ‘सत्य-असत्यका समझौता नहीं हो सकता।’

आप निर्गुण होते हुए गुणोंके भोक्ता-उपलब्धा हैं। आप दृष्टिवाले नहीं, दृष्टिके साक्षी हैं। भोग्य-भोक्तृ, ज्ञेय-ज्ञातृ, नियम्य-नियन्त्रभेद जिस परमात्माके ज्ञानसे बाधित हो जाता है, वह स्वयं आप हैं।



● संगति

‘गुणभोक्तृ च’ : कहा तो प्रश्न उठा—‘वह परमात्मा किस प्रकार गुणोंका भोक्ता है ? प्राणियोंसे दूर रहकर, प्राणियोंके भीतर रहकर अथवा प्राणियोंको माध्यम बनाकर वह गुणोंका भोक्ता होता है ?’ इसका उत्तर देते हुए कहते हैं :

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।

सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१५॥

(परमात्मा) चराचर समस्त प्राणियोंके बाहर है और भीतर भी । वह पास भी है और दूर भी; किन्तु सूक्ष्म होनेसे अविज्ञेय है ।

‘बहिरन्तश्च’ : यह त्वचा ही बाहर-भीतरका भेद करती है । जब आप अविद्याकल्पित शरीरको मानकर बैठते हैं, तब यह पुस्तक बाहर है देहके और देहके भीतर है ‘मैं’ ।

बाहर-भीतरकी कल्पना एक घेरा बनानेके बाद ही होती है । मकानकी दीवालकी दृष्टिसे हम मकानके भीतर हैं और सड़क बाहर है । बम्बईकी दृष्टिसे सड़क भी भीतर है । भारतमें बम्बई भीतर है । आकाशकी दृष्टिसे सब ब्रह्माण्ड आकाशके भीतर हैं । सीमारेखा कल्पित किये बिना बाहर-भीतरका भेद नहीं बन पाता । संस्कृतियोंका नया-पुरानापन भी कालके घेरेमें है ।

परमात्मा सब घेरोंसे बाहर है । वह सब सीमाओंका आधार, सबका अधिष्ठान, सबका प्रकाशक है । उसमें बाहर-भीतरका भेद नहीं ।

मैं एक सेठके घर गया । उन्होंने मुझे अपना भवन दिखलाया और बतलाया : ‘इसमें एक करोड़ रुपयेकी सजावट है ।’

उस भवनके एक कमरेमें एक बड़ा-सा ग्लोब रखा था । मैंने पूछा : ‘इसमें भारतवर्ष कहाँ है ?’

उन्होंने बतला दिया । मैंने पूछा : ‘बम्बई कहाँ है ?’

उन्होंने बम्बईके स्थानपर एक छोटा बिन्दु मुझे दिखलाया । मैंने पूछा : ‘इसमें आपका भवन कहाँ है ?’

बोले : ‘मेरा भवन तो बम्बईके प्रान्तीय मानचित्रमें भी नहीं हो सकता; ग्लोबमें भला कहाँसे होगा ।’

यह आपका शरीर आपको भले ही बहुत महत्त्वपूर्ण लगे । आपको लगे कि आप बहुत सुन्दर, धनी, बलवान्, विद्वान् अथवा प्रतिष्ठित हैं; किन्तु भारतमें आपकी देहका क्या स्थान है ? परिपूर्ण परमात्माकी दृष्टिसे लें तो भारत तो क्या, पृथ्वीकी ही लम्बाई-चौड़ाई-तौल शून्यप्राय है । ग्लोबमें तो भला बम्बईके लिए एक बिन्दु है; किन्तु अनन्त आकाशमें तो पृथ्वीका बिन्दु भी नहीं है ।

‘बहिरन्तश्च भूतानां’ : तत्त्वमें बाहर-भीतरका भेद नहीं है। ‘भूतानां’ प्राणियोंकी देहकी अपेक्षा ही बाहर-भीतरका भेद कल्पित किया जाता है।

भगवान् शंकराचार्यजी कहते हैं :

बहिस्त्वक्पर्यन्तं देहमात्मत्वेन अविद्यया कल्पितमपेक्ष्य तमेवावधिं कृत्वा बहिः उच्यते । तथा प्रत्यगात्मानमपेक्ष्य देहमेवावधिं कृत्वाऽन्तरुच्यते ।

बाहरी त्वचापर्यन्त देहको, जो कि अविद्यासे कल्पित है, ‘मैं’ मानकर उस देहको सीमा बनाकर देहसे बाहरको बाहर कहा जाता है और प्रत्यगात्माकी अपेक्षा कर, देहको ही सीमा बना भीतर कहा जाता है।

तुम्हारी कल्पनामें बाहर-भीतर कितना आता है ? इसकी सीमा बनाओ कि कहाँतक ‘मैं’ है और कहाँतक ‘मैं’ से न्यारा।

प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, अहंकारमें सात्त्विक तन्मात्रासे बना मन और इन्द्रिय-वृत्तियाँ, इनको ‘भीतर’ कहते हैं। यह शरीरकी सीमा हो गयी। इन्द्रियों-के गोलक और इन्द्रियोंके विषयोंको ‘बाहर’ कहते हैं। देखनेवाला द्रष्टा न बाहर है और न भीतर। द्रष्टा तो बाहर-भीतर दोनोंकी कल्पनाका प्रकाशक है। जो देखे जाते हैं, उन्हें बाहर कहते हैं और जो देखनेके उपकरणका काम करते हैं, उन्हें कहते हैं अन्तर।

‘भूतानि’ : जो वस्तु बीत गयी : अतीत है, वह भूत। जो इन्द्रियोंसे अतिक्रान्त है : वह कहाँ है ? मनमें। भूत कहनेका तात्पर्य यही है कि वह वस्तु स्मृति-रूपसे मनमें वर्तमान है।

नेत्रने पहले हरा-हरा रंग देखा, बुद्धिने निश्चय किया और तब वाणीने कहा : ‘यह तुलसीदल है।’ पहले देखा, तब वर्तमानमें बोले। हम जो भी बोलते हैं, वह भूतकी ही चर्चा है। जो साक्षात् अपरोक्ष हो रहा है, वह स्मृतिका विषय नहीं है। जो स्मृतिका विषय हो रहा है, वह साक्षात् अपरोक्ष अनुभवस्वरूप नहीं है। एक ही वस्तुके विषयमें एक कालमें एक साथ स्मृति और अनुभव नहीं रह सकते। स्मृति अतीतकी होती है तो अनुभव वर्तमानमें हो रहा है। आत्म-देव कभी स्मृतिके विषय नहीं होते। जो स्मृतिका विषय है, वह भूत है। जो अनुभवका विषय है, वह वर्तमान है। लेकिन जब हम अनुभवके विषयका वर्णन करने लगते हैं, तब वह भूत हो जाता है।

अनुभव ही वर्तमान है। तब क्या अनुभव बदलता रहता है ? नहीं। अनुभव नहीं बदलता, अनुभवके विषय बदलते रहते हैं। यह घड़ी है, यह चित्र है, यह वृक्ष है—ये विषय बदलते रहते हैं, पर अनुभव एक रहता है। अनुभव-स्वरूप आत्मामें ही ये विषय बदलते रहते हैं।

जब भूत ही कल्पित हैं, तब उनमें बाहर-भीतरका भेद तो कल्पित होगा ही। स्वप्नमें एक पुरुष द्वेषसे भरा हाथमें तलवार लिये आ रहा है। उसके हृदयमें भीतर द्वेष भरा है और बाहर हाथमें तलवार है। लेकिन वह स्वप्न-पुरुष ही कल्पित है तो उसके बाहर-भीतरका भेद भी कल्पित है। उस स्वप्नके

शत्रुका ईश्वर कौन ? तुम । तुम उसके सष्टा हो । यह दृश्य प्रपञ्च कल्पित है । अतः इसमें बाहर-भीतरका भेद भी कल्पित है । इसका अधिष्ठान है ब्रह्म ।

‘अभूतेति भूत’ : जो उत्पन्न हो वह भूत । पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, अहंकार, महत्तत्त्वादि सब उत्पन्न होते हैं, अतः वे भूत हैं । जो उत्पन्न होता है, वह अपने उपादानसे भिन्न नहीं होता । जैसे घड़ा, मिट्टीसे भिन्न नहीं है । इसी प्रकार ये जो सब उत्पन्न होनेवाले हैं, वे अपने उपादान परमात्मासे अभिन्न हैं । इनका बाहर-भीतर स्वप्नके समान है । द्रष्टाकी दृष्टिके अतिरिक्त क्या स्वप्नका कुछ अस्तित्व है ? स्वप्न-पदार्थमें बाहर-भीतरका देश-भेद, पूर्वापर कालभेद, मन्दिर-वृक्षादि पदार्थभेद आदि सब रूपोंमें द्रष्टाकी दृष्टि ही है, दूसरा कुछ नहीं है । इसी प्रकार सृष्टि जिस परमात्मामें, जिस परमात्माको ही दीख रही है, उस परमात्मासे भिन्न कुछ नहीं है । वस्तु तो एक ही है । उसके ये सब भूते नाम हैं ।

भूत=वस्तुका होना । कोई वस्तु होगी तो ‘है’ के रूपमें उसमें सत्ता होगी । इस सत्तामें ही वस्तुका होना प्रतीत होता है । उस हुएके भीतर जो आधार, अधिष्ठान, स्वयंप्रकाश रूपसे स्थिति है और उसके बाहर भी जो स्वयंभू, प्रकाशस्वरूप दीख रहा है, वह परमात्मा है ।

‘वहिरन्तश्च भूतानां’ : तब क्या परमात्मा भूतोंमें व्यापक हुआ है, जैसे कि लोहेके गोलेमें अग्नि बाहर-भीतर व्यापक रहता है ?

ऐसा नहीं है । इसके लिए विचार करो कि भूत क्या हैं ।

‘वहिरन्तश्च इत्युक्ते मध्ये अभावे प्राप्ते इदमुच्यते अचरं चरमेव च ।’

बाहर परमात्मा और भीतर भी परमात्मा तो मध्यमें क्या है : जिसने बाहर-भीतरका भेद बनाया ? मध्यमें बाहर-भीतरका अभाव होगा या भूत होगा ?

व्यापकत्व क्या है ? एक मत है कि मूर्तसंयोगित्वरूप व्यापकत्व है । यह मूर्तसंयोगित्वरूप व्यापकत्वसम्बन्ध स्थूलके साथ सूक्ष्मका होता है । जैसे लौह-गोला स्थूल है और अग्निकी उष्णता सूक्ष्म है । अतः लोहेके गोलेमें अग्नि व्यापक हो सकता है ।

दूसरा व्यापकत्व है उपादानका उपादेयमें व्यापक होना । जैसे लोहेके गोलेमें लोहा व्यापक है । प्रकृति अपने सब कार्योंमें व्यापक है । सब शरीरोंमें पञ्चमहाभूत व्यापक हैं । यद्यपि शरीर गोरा, काला, मोटा, पतला, लम्बा, नाटा, पुरुष-स्त्री, पशु-पक्षी आदि नानाकार है । किन्तु समस्त भौतिक विकारोंमें पञ्चभूत व्यापक हैं । तरंग-बुदबुदादिमें जल व्यापक है । घटाकाशमें महाकाश-स्वरूपसे व्यापक है । महाकाश परिणामको प्राप्त होकर घटाकाश नहीं बना है । स्वप्नमें मन व्यापक है । मनमें समुद्र दीखा । इसमें समुद्र व्याप्य है तो आपका मन व्यापक । यहाँ मन और समुद्र दो नहीं, एक ही हैं । मनमें पर्वत आया, वन-उपवन आया, नगर आया । मन भिन्न-भिन्न आकार धारण करता और त्यागता है । मन तथा मनमें आनेवाला आकार मनका ही परिणाम है ।

वेदान्तमें व्यापकत्व रज्जुमें सर्पके समान माना गया है। प्रतीयमान सर्पका अपने अधिष्ठान रज्जुसे कोई सम्बन्ध नहीं है। रज्जुमें सर्पकी प्रतीति देखनेवालेके अन्तःकरणमें अज्ञान होनेसे है। वैसे रज्जुमें न कोई विकार हुआ, न परिणाम, न संकल्प।

‘अध्यस्यते खपुष्पत्वमसत् कथमवस्तुनि।

प्रज्ञातगुणसत्ताकमध्यस्येत वा न वा॥’

वृक्ष और उनके पुष्प न देखे हों तो गगनकुसुमका आभास कैसे होगा? वस्तु देखी-सुनी हो, उसकी सत्ता और गुण ज्ञात हो तो कहीं उसका अध्ययन होता है, कहीं नहीं होता।

जिसने कहीं सर्प देखा हो, उसीको रज्जुमें सर्पका भ्रम होता है। जिसे सर्प दीख रहा है, उसने रज्जु नहीं देखी। रज्जुमें सर्प नहीं है। सर्पका अधिष्ठान रज्जु नहीं है। रज्जुसे उपहित चैतन्य भी सर्पाधिष्ठान नहीं है। चैतन्य सदा प्रत्यक् होता है, पराक् नहीं। चैतन्य सदा ‘स्व’ होता है। सर्प आपके मनमें है। भ्रम आपके अन्तःकरणमें है। ‘यह सर्प नहीं, रस्सी है’ यह प्रमा भी आपके अन्तःकरणमें ही होगी। जो चैतन्य भ्रमावच्छिन्न होता है, वही चैतन्य प्रमावच्छिन्न भी होता है। जिस समय सर्पकी प्रतीति हो रही थी, उस समय भी सर्प रज्जुमें नहीं था, अन्तःकरणमें—अन्तःकरणोपहित चैतन्यमें स्थित कल्पनामात्र था। सर्पदेश और अन्तःकरणदेश, सर्पकाल और अन्तःकरणकाल, ये दो नहीं हैं। इसका अर्थ हुआ कि चैतन्यसे भिन्न न अन्तःकरण है, न सर्प। तात्पर्य यह कि ये शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध, इनके आश्रय विषय, इनको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियाँ और मन, ये सब चैतन्यसे भिन्न नहीं हैं D

जिस दृष्टिसे प्रपञ्च गृहीत होता है वह दृष्टि, प्रपञ्चकाल—प्रपञ्चाकार वृत्तिकाल, प्रपञ्चदेश—प्रपञ्चाकार वृत्तिदेश ये सब भिन्न नहीं हैं। ये नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मचैतन्यसे पृथक् नहीं हैं। अर्थात् ब्रह्माभिन्न आत्मचैतन्यसे भिन्न कोई वस्तु नहीं है।

‘पश्यत्सु’ : ओ देखनेवालो ! तुम देखनेवालोंमें वह यहीं—इसी देशमें, अभी—इसी कालमें, तुम्हींमें छिपा है।

‘अचरं चरमेव च’ : क्या अनुपम काव्य है उस परमात्माका—अचर वृक्ष भी वही है और उसपर चढ़नेवाला चर पक्षी भी वही है। अचर पुष्प भी वही है और उसपर गूँजता चर भ्रमर भी वही है। अचर पृथ्वी भी वही और उसपर चलनेवाले प्राणी भी वही।

बिना चलके अचलकी प्रतीति नहीं होती। बिना अचलके चलकी भी प्रतीति नहीं होती। लेकिन एक ऐसी वस्तु है, जिसे चल-अचल, स्थिर-चर दोनोंकी प्रतीति होती है।

कगार स्थिर लगता है, नदी चलती हुई लगती है। नौकामें बैठे हों तो नौका स्थिर लगती है, तट चलता हुआ लगता है। तटपर बैठे हों तो नौका चलती लगती है। आकाशमें जाकर देखें तो नदी, नौका और पृथ्वी भी चलती दीखती

हैं। जिस ठोस तत्त्वमें आकाश कल्पित है, उसीमें यह सब स्थिर-चर कल्पित हैं। वचनमें मैं एक श्लोक बोलता था :

‘सति कार्यत्वे कारणता स्यात् कारणसत्त्वे कार्यत्वं स्यात् ।
कार्यकारणभावे कस्मात् जीवेशो वा तत्त्वमसि ॥’

कार्य सत्य हो तो उसका कारण होगा। कारण हो तो उससे कुछ कार्य होगा। लेकिन जब कार्यकारणभाव ही नहीं है तो जीव और ईश्वरका भेद किसलिए ? तुम वही हो।

जिसने घड़ेको बनते देखा, उसने कहा : ‘घड़ेकी पूर्वावस्था मिट्टीका लोंदा है।’ लेकिन घड़ेको कार्य और लोंदेको कारण माननेवाला मिट्टीको नहीं जानता। मिट्टी न लोंदा है, न घड़ा। घड़ा-लोंदा दोनों नहीं थे तब भी मिट्टी थी। घड़ा फूट गया तब भी मिट्टी तो है ही।

कार्यकी उपाधि अन्तःकरण ही नहीं है तो जीव कहाँसे होगा और कारणोपाधि माया या प्रकृति नहीं तो ईश्वर कहाँसे होगा ? ‘तत्त्वमसि’—कार्य-कारणकी उपाधियोंके अपवादसे स्वयंप्रकाश, अद्वितीय ब्रह्मतत्त्वकी सिद्धि होती है। देशमें कार्यदेश और कारणदेशकी कल्पना, कालमें कार्यकाल-कारण-कालकी कल्पना, पदार्थमें व्यष्टि-समष्टिकी कल्पना—यह सब कल्पना है। तत्त्व अद्वितीय है।

‘अचरं चरमेव च’ : प्रपञ्च दो प्रकारसे भासता है—चराकार और अचराकार। ‘भूतमपि तदेव’ भूतोंके बाहर और भीतर परमात्मा है और भूत भी वही है। अधिष्ठानसे पृथक् न दृष्टि है, न प्रपञ्च। चर-अचर देश, वृत्ति और काल एक ही अधिष्ठानमें भास रहा है। वृत्ति और प्रपञ्चका अभेद है। चैतन्यसे पृथक् न वृत्ति है, न प्रपञ्च। अतः चराकार भासमान और अचराकार भासमान एक ही तत्त्व हैं।

बौद्धदर्शनकी दृष्टिसे न चर तत्त्व है, न अचर तत्त्व है। शून्य ही तत्त्व है। लेकिन बौद्ध विज्ञान-धाराको तत्त्व मानते हैं और वह चर हुआ।

जैनदर्शन चर-अचर दोनोंको तत्त्व मानते हैं। वे स्याद्वादके सप्तभंगी न्यायसे इसका वर्णन करते हैं।

चार्वाकदर्शन केवल अच—रजड़को तत्त्व मानता है। चर जड़के विकार हैं। जड़में बनते-बिगड़ते रहते हैं।

ईश्वरवादी दर्शनोंमें कई प्रकारकी प्रक्रिया मानी जाती है :

१. ईश्वरके संकल्पमें ही चर-अचर दोनों हैं।
 २. ईश्वरने परमाणुओंसे चर-अचर दोनों बनाये।
 ३. ईश्वरने प्रकृतिमें क्षोभ करके चर-अचर बनाये।
 ४. ईश्वर स्वयं चर-अचर दोनों बन गया।
 ५. प्रकृति स्वयं चर-अचर बन जाती है। पुरुष केवल द्रष्टा रहता है।
- जड़ वस्तुसे सृष्टि बनती है तो वस्तु एक अवस्थासे दूसरी अवस्थामें

परिणत होती है। बीजसे अंकुर, तना, शाखा, पत्ते, फूल-फलका क्रम सृष्टिमें देखा जाता है।

स्वयं चेतन सृष्टि बनेगा तो उसमें उत्पत्ति नहीं होगी, उत्पत्तिका भान होगा। जड़में परिणामात्मक सृष्टि होगी और चेतनमें भानात्मक। मिट्टी गीली होकर परिणत होकर ही घड़ा बनती है। चेतनमें परिणमनका क्या प्रकार होगा ? वस्त्वन्तर या वस्तुत्पत्ति ? चेतनमें भानात्मक उत्पत्ति, भानात्मक स्थिति, भानात्मक प्रलय होगा। इससे चेतनकी दो स्थिति होगी : एक बहती भानात्मक धारा और दूसरी उस बहती भानात्मक धाराका साक्षी मैं। जो बहती धारा प्रतीत होगी, वह देश, काल, वस्तुके संस्कारोंसे संस्कृत होगी। किन्तु चेतनमें वास्तवमें संस्कार हों, यह सम्भव नहीं है। चेतन तो साक्षी है। तात्पर्य यह है कि जो चेतन अपनेको देश, काल, वस्तुसे युक्त देख रहा है, वह अपने शुद्ध स्वरूपको नहीं देख रहा है। देखना दोष नहीं है। जो देखे, उसे अपनेसे भिन्न सत्य मानना यह अज्ञान है।

चर-अचरका जो साक्षी है, वही इनके अभावका भी साक्षी है। इसलिए उनके अभावकी स्मृति होती है। जिसे घटका ज्ञान है, घटाभावका भी; उसीको ज्ञान होता है। जिसे घटकी स्मृति है, घटाभावकी स्मृति भी उसीको होती है। अतः उस साक्षी, शुद्ध चैतन्यके स्वरूपमें न देश है, न काल और न चर-अचर वस्तु और न उनका अभाव। यह देश, काल तथा चर-अचर वस्तुएँ एवं उनका अभाव भी चेतनमें विवर्तरूप भास रहा है। अतः यह चैतन्यसे पृथक् नहीं है। इसीको आगे 'ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यम्' द्वारा कहते हैं। अतः ज्ञानका चर-अचररूप या दृश्य होना जैसा सम्भाव्य है, वैसा ही होगा। चराकार भासमान ज्ञान और अचराकार भासमान ज्ञानका तात्पर्य है कि चराचरता भासमान है और ज्ञानस्वरूप है। अतः ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ही चराचर सृष्टिके रूपमें भास रहा है।

‘तत्’ : इस वस्तुका वर्णन ‘तत्’ से ही उपक्रान्त है। पहले भी कहा है :

‘ज्ञेयं यत् तत् प्रवक्ष्यामि।’

और ‘अनादिमत्परं ब्रह्म’ इन दोनों वाक्योंको मिलाकर देखें तो ‘तत्’ का अर्थ हो जाता है ब्रह्म।

‘तनोति दृष्ट्यैव सर्वम्।’

जो अपनी दृष्टिसे ही सबका विस्तार करता है।

अब प्रश्न हुआ कि जब ‘तत्’ वह ब्रह्म चर भी है और अचर भी, भूतोंके बाहर भी है और भीतर भी—अर्थात् द्रष्टा और दृश्य दोनों एवं दृश्यमें भी चर-अचर दोनों ब्रह्म ही है—तो वह दीखता क्यों नहीं ? जब पृथिवी, पर्वत, समुद्र सब परमात्मा है और कीट, पतंग, पशु-पक्षी, मनुष्य सब परमात्मा है तो उसे गृहीत होना चाहिए।

‘सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं’ : भगवान्ने कहा कि सूक्ष्म होनेके कारण वह अविज्ञेय है।

आप वस्तु-ग्रहणके लिए केवल वस्तुकी उपस्थिति ही आवश्यक मानते हैं या उसके लिए अनिवार्य करणकी उपस्थिति भी ?

‘वस्तुसत्त्वमात्रं ग्रहणे कारणमथवा इन्द्रियाणां शक्तिरपि ग्रहणे कारणम् ?’

वस्तुका होना ही उसके ग्रहणमें कारण है अथवा इन्द्रियोंकी शक्ति भी उसके ग्रहणमें कारण है ?

यह फूल लाल रंगका है, यह तो हमें दीख रहा है; किन्तु नाक दवानेपर इसकी गन्धका हमें पता नहीं लगता। जब फूलमें गन्ध है तो वह नेत्रसे क्यों नहीं दीखती ? सिद्ध है कि वस्तुका होना ही उसके ग्रहणका कारण नहीं होता। उसे देखनेका जो करण है, उन्हें भी होना चाहिए। रूपका नेत्रसे ग्रहण होता है और गन्धका नासिकासे। इसी प्रकार जो चराचरमें बाहर-भीतर परमात्मा है, उसे ग्रहण करनेका करण क्या है ?

श्रीमद्भागवतमें आया है—घड़ेमें मिट्टी है; किन्तु क्या घट और मृत्तिकाका व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है ? क्या मिट्टी कहींसे आकर घड़ेमें व्यापक हुई है ?

‘प्रागेव विद्यमानत्वाच्च तेषामिह सम्भवः ।’

मिट्टी तो पहलेसे विद्यमान थी। घट नामका एक आकार उसमें कल्पित कर दिया।

तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् ।

यहाँ श्रुति कहती है कि ईश्वरने सृष्टि बनायी और उसमें अनुप्राविष्ट हो गया।

‘प्रागेव विद्यमानत्वात्’ : ईश्वर तो पहलेसे ही विद्यमान था। मिट्टीमें घटके समान प्रपञ्च उसमें कल्पित हो गया। इसीलिए कहा :

‘प्रविष्ट इव भाव्यते ।’

ईश्वर प्रविष्ट-जैसा लगता है :

‘एवं भवान् बुद्धयनुमेयलक्षणै-

र्ग्राह्यैर्गुणैः सन्नपि तद्गुणाग्रहः ।

अनावृतत्वाद् बहिरन्तरे न ते

सर्वस्य सर्वात्मन आत्मवस्तुनः ॥’

यह नेत्र, कर्ण, नासा, त्वचा, रसना, इन्द्रियाँ, रूप, शब्द, गन्ध, स्पर्श और रसका जो पृथक्-पृथक् ज्ञान कराती हैं : यह विषयरूप बुद्धि ही एक चैतन्यमें पृथक्-पृथक् इन्द्रियोंका भान कराती है।

‘यह रूप है’ ऐसी बुद्धि जिस इन्द्रियसे उत्पन्न होती है, उसका नाम नेत्र है। इसी प्रकार हृदयमें तत्तद् बुद्ध्युत्पादकत्वेन एक ही ज्ञानमें इन्द्रिय-भेद कल्पित है। इन इन्द्रियों द्वारा गृहीत गुणोंमें परमात्मा है; किन्तु इन्द्रियोंका आग्रह तो शब्द, स्पर्श, रूप, रसादि विषयोंमें है। अर्धस्त इन्द्रियों द्वारा जो ज्ञान होगा, वह अर्धस्त विषयका ही होगा। इनके द्वारा अधिष्ठानका ज्ञान कहाँसे होगा ?

शब्द, स्पर्श, रूप, रसादिमें सत्तारूपसे वही सद्बस्तु विद्यमान है; किन्तु इन्द्रियाँ सत्ताको ग्रहण नहीं करतीं। इन्द्रियाँ विशेष हैं, अतः वे विशेषको ही ग्रहण करती हैं। नेत्र रूपगुणविशिष्ट हैं, अतः वे रूपको ही ग्रहण करते हैं।

सामान्य ज्ञानमें ग्राह्य-ग्राहकभाव नहीं है। वह निर्विशेष है। परमात्मा आवृत नहीं है। अतः उसमें बाहर-भीतरका भेद नहीं है। सर्व, सर्वात्मा, आत्मा, अबाध्य परमार्थवस्तुमें ग्राह्य-ग्राहकभाव सम्भव नहीं। अतः जो स्वयं अपना आत्मा है, उसमें ग्राह्य-ग्राहकभाव न होनेसे ही उसका ग्रहण नहीं होता। परमात्मा ग्राह्य-ग्राहकभावसे विनिर्मुक्त है।

‘य आत्मनो दृश्यगुणेषु सन्निति

व्यवस्यते स्वव्यतिरेकतोऽबुधः।

विनानुवादं न च तन्मनीषितं

सम्यक् यतस्त्यक्तमुपाददत् पुमान् ॥

ग्राह्य-ग्राहकभाव जो दृश्य हो रहा है : इन्द्रिय, विषय, मन, यह ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयकी त्रिपुटीको जो अपनेसे भिन्न सत्य मानता है, वह ‘अबुधः’ अज्ञानी हैं। यह मनीषित केवल दृश्यके अनुवादके सिवा कुछ नहीं है। यह परमार्थ ज्ञान नहीं है, क्योंकि ऐसे महोदयने अधिष्ठान ज्ञानसे बाधित पदार्थको ही सत्यके रूपमें ग्रहण कर लिया है, अतः ये अज्ञानी हैं।

देशमें परमात्मा व्यापक नहीं है। देश परमात्मामें कल्पित है। कालमें परमात्मा व्यापक नहीं है। काल परमात्मामें कल्पित है। द्रव्यमें परमात्मा व्यापक नहीं है। द्रव्य परमात्मामें कल्पित है।

परमात्मा कहीं सातवें आसमानमें नहीं है। यह जो वाणी, नेत्र, मनका प्रेरक है, वही तो परमात्मा है।

देश-काल-वस्तुके अधिष्ठानको कहते हैं ‘तत्’ पदार्थ और देश-काल-वस्तुकी कल्पनाके अधिष्ठानको कहते हैं ‘त्वं’ पदार्थ। लेकिन कल्पित वस्तु कल्पनाके अधिष्ठानमें ही रहती है। अतः यह देश-काल-वस्तुकी कल्पनाका अधिष्ठान ही देश-काल-वस्तुका अधिष्ठान है। यही अविनाशी, परिपूर्ण, अद्वितीय है।

देश-काल-वस्तुके अधिष्ठानरूपमें हम जिस पदार्थकी कल्पना करते हैं, वह कल्पना अज्ञानसे करते हैं।

‘सूक्ष्मत्वात्’ : सूक्ष्मताकी पराकाष्ठा होनेसे ग्राह्य-ग्राहकभावका वह विषय, नहीं होता।

एक महापुरुष हो गये हैं। साधनदशामें वे बहुत व्याकुल हुए : ‘ईश्वरको कैसे जानें ?’

एक दिन प्रातः वे अपनी व्याकुलतामें समुद्रके किनारे पहुँचे। वहाँ देखा कि एक बालक हाथमें कटोरा लिये रो रहा है, महापुरुषने पूछा : ‘बच्चे ! तुम रो क्यों रहे हो ?’

बालक : ‘मेरे कटोरेमें समुद्र कैसे आवे ?’

महापुरुष समझ गये। उन्होंने बालकको प्रणाम किया।

‘सूक्ष्मत्वात्’ : वह अत्यन्त सूक्ष्म है :

‘इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।

मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥’—गीता ३।४२

इन्द्रियोंको (विषयोंसे) परे कहा जाता है । इन्द्रियोंसे परे मन है । मनसे परे बुद्धि है । जो बुद्धिसे भी परे है, वह परमात्मा है ।

इन्द्रियेभ्यः पर ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।

मनसस्तु परा बुद्धिः बुद्धेरात्मा महान् परः ॥

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः ।

पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः ॥

—कठ० ३।१०, ११

इन्द्रियोंसे विषय (तन्मात्रा) परे हैं । विषयोंसे परे मन है । मनसे परे बुद्धि है । बुद्धिसे परे अहंतत्त्व है । अहंकारसे परे महत्तत्त्व है । महत्तत्त्वसे परे अव्यक्त (प्रकृति) है । अव्यक्तसे परे पुरुष है । पुरुषसे परे कुछ नहीं है । पुरुष ही सूक्ष्मताकी पराकाष्ठा है । पुरुष ही परमगति है ।

सूक्ष्मत्वात्का अर्थ है परत्वात् । सबसे परे होनेके कारण अशेष-विशेषका निषेध होनेपर जो शेष वस्तु रह जाती है, वह अविज्ञेय है ।

‘अविज्ञेय’ : पाश्चात्य दार्शनिक घोर अन्धकारको अविज्ञेय कहते हैं । ऐसा अविज्ञेय परमात्मा नहीं है ।

‘नास्ति विज्ञेयं यस्मिन् ।’

जिसमें विज्ञेय नामकी कोई वस्तु नहीं है, वह अविज्ञेय है ।

‘बहिरन्तश्च भूतानां’ : कहकर परमात्माको देशपरिच्छेदरहित कहा ।

‘अचरं चरमेव च’ : कहकर वस्तु परिच्छेदरहित बतलाया ।

‘दूरस्थं चान्तिके च तत्’ : कहकर कालपरिच्छेदका निषेध किया ।

अब ‘अविज्ञेय’ : से ‘भास्यव्यतिरिक्त’ बतला रहे हैं । परमात्मा घटके समान न आभासभास्य है और न सुख-दुःखके समान साक्षिभास्य ।

‘अहं घटं जानामि’ : यह साक्षिभास्य हुआ; किन्तु साक्षी किसका भास्य होगा ? वह तो स्वयंप्रकाश है ।

अतीन्द्रिय तत्त्वके सम्बन्धमें यौक्तिक प्रभाव-युक्तियाँ—तर्क महत्त्वहीन होते हैं । अतः श्रुति-प्रमाण देख लेना चाहिए ।

गीतामें कहा : ‘बहिरन्तश्च भूतानाम् ।’

श्रुतिमें यह वात आयी :

‘तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्य बाह्यतः ।’

गीता : ‘अचरं चरमेव च ।’

श्रुति : ‘तदेजति तन्नैजति ।’

गीता : ‘दूरस्थं चान्तिके च तत् ।’

श्रुति : ‘तद्दूरे तदिहान्तिके ।’

इस प्रकार इस श्लोकके तीन चरण तो श्रुत्यारूढ़ हो गये । अब चतुर्थ-चरण है :

‘सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं’ : किन्तु श्रुति कहती है ।

‘आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ।’

लेकिन आत्मा तो दृष्टिका विषय—दृश्य होता नहीं । अतः ‘आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः’ इस श्रुतिका तात्पर्य है : ‘अनात्मा न द्रष्टव्यः’ अनात्मा देखने योग्य नहीं है ।

आगे गीतामें इसी अध्यायमें कहेंगे :

‘ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यम् ।’

वहाँ कहते हैं ‘ज्ञेयं’ जानना चाहिए और यहाँ कहते हैं : ‘अविज्ञेयं’ इन दोनोंको मिला दो तो हुआ : ‘अविज्ञेयं ज्ञेयं ।’

‘किं ज्ञेयं ?’ : क्या जानना चाहिए ?

‘अविज्ञेयं ज्ञेयं’ : अविज्ञेयको जानना चाहिए ।

जिन विषयोंको कूकर-शूकर भी जानते हैं, उन्हींको जाना तो क्या जाना । जो संसारी लोगोंसे अविज्ञेय है, उसे जानना चाहिए । संसारमें जो विज्ञेय है, वह मन-इन्द्रियोंके द्वारा ही विज्ञेय होता है । श्रुतिने कहा :

‘न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति नो मनो न विज्ञो न विजानीमः ।’

—केन० ३

वहाँ न नेत्र पहुँचता है, न वाणी, न मन । उसे नहीं जाना जाता ।

ज्ञानेन्द्रियोंकी गति नहीं, यह कहनेके लिए ज्ञानेन्द्रियोंमें मुख्य नेत्रका नाम लिया । कर्मेन्द्रियोंकी गति नहीं, यह सूचित करनेके लिए कर्मेन्द्रियोंमें मुख्य वाणीका नाम लिया । ‘मनकी गति नहीं’ का तात्पर्य है कि योगसे भी वह जाना नहीं जाता :

‘यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।’—तै० १।७।१

विदूरमें एक महात्मा रहते थे । लोगोंसे उनकी बड़ी प्रशंसा सुनी थी । उनसे मिलने गया । उनका शरीर सुन्दर, स्वस्थ था । बड़े सद्गुणी, विद्वान्, वयोवृद्ध महात्मा थे । पहले महामहोपाध्याय श्रीधर पाठक नामसे महाराष्ट्रमें वे बहुत प्रसिद्ध रहे हैं । संन्यास लेकर विदूरमें (कानपुरके पास) रहते थे । मैं गया तो बोले : ‘आपका क्या स्वागत करें ? मेरे पास कोई वस्तु तो है नहीं ।’ फिर सुनाया :

‘यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः ।’

अविज्ञातं विज्ञानतां विज्ञातमविज्ञानताम् ॥—केन० ११

परमात्माको किसने जाना ? जिसने ‘अजाना’रूपमें जाना । क्योंकि परमात्मा मतिका विषय नहीं होता ।

कार्य-कारणभाव, अन्वय-व्यतिरेक ये मतके कर्म हैं । आत्मा जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिमें रहता है, यह आत्माका तीनों अवस्थाओंमें अन्वय हुआ । जाग्रत्,

स्वप्न, सुषुप्ति न रहनेपर भी आत्मा रहता है, यह व्यतिरेक हुआ। इसी प्रकार आत्मा व्यापक तत्त्व है आधार है, और जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आधेय हैं। यह बुद्धिका कार्य हुआ। इस प्रकार कार्य-कारण, अन्वय-व्यतिरेकादि बौद्ध युक्तियोंसे विलक्षण आत्मा है।

‘अमृतं’ : मतिके परे रहकर मतिके प्रकाशक रूपमें जिसने परमात्माको जाना ‘तस्य मतं’ उसने ठीक जाना।

‘मतं यस्य न वेद सः’ : जिसने कहा—‘हमने समझ लिया, वह नहीं जानता।’

‘अविज्ञातं विजानतां’ : जो जाननेका अभिमान करते हैं, उन्होंने नहीं जाना।

‘विज्ञातमविजानताम्’ : वे जानते हैं; जो यह जानते हैं कि ‘मैं’ जाननेका विषय नहीं है—स्वयं ज्ञानस्वरूप है।’

दूरमथो विदितादविदितादपि।

परमात्मा विदित, अविदित दोनोंसे दूर—दोनोंसे विलक्षण है। उसके समझनेका ढंग :

‘प्रतिबोधविदितं मतम्।’

जितने भी प्रत्यय हैं, इनमें ज्ञानस्वरूप आत्मा ही है।

‘अविज्ञेयं’ : मन, बुद्धि, इन्द्रियादि जो ज्ञानके करण हैं, इनसे जितना भी घट-पट-मठादि ज्ञात होता है, वह परमात्मा नहीं है। वह इन करणोंका तथा इनसे ज्ञात विषयोंका भी प्रकाशक है। श्रुति कहती है :

‘विज्ञातारमरे केन विजानीयात्।’—बृहदा० २।४।१४-१५

विज्ञाताको भला किस करणसे जाना जायेगा :

‘अदृष्टं द्रष्टुं अश्रुतं श्रोतुं अमतं मन्तुं अविज्ञातं विज्ञातु।’—बृहदा० ३।४।११

वह दृश्य नहीं, द्रष्टा है। श्रवणका विषय नहीं, श्रोता है। मनका विषय नहीं, मन्ता है। बुद्धिका विषय नहीं, बुद्धिका प्रकाशक है :

वदन्ति तत्तत्त्वविदः तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।—भागवत

तत्त्ववेत्ता उसे ज्ञान कहते हैं जो अद्वय तत्त्व है। तत्त्व ऐसा ज्ञान है, जिसमें द्वय नहीं।

जब हमें चित्रका ज्ञान होता है, तब हम ज्ञाता होते हैं और चित्र ज्ञेय होता है। संसारमें हम जब किसी भी वस्तुको जानते हैं, तब ज्ञानके क्रियाशील होते ही ज्ञान द्विधा विभक्त हो जाता है। वह ज्ञाता और ज्ञेय बन जाता है। ज्ञान ‘अहं’को ज्ञाता और ‘इदं’को ज्ञेय दिखलाता है। यह प्रतिभात ज्ञान है, तत्त्व नहीं :

‘यत्र ज्ञाता ज्ञेयमिति द्वयं न भवति तज्ज्ञानं तत्त्वम्।’

जहाँ ज्ञाता-ज्ञेयका द्वय नहीं है, वह ज्ञान तत्त्व है। सच्चा ज्ञान वह है जिसमें ‘अहं’, ‘इदं’का भेद नहीं है। ‘अहंता-इदंता’ आभास हैं और ज्ञान तत्त्व है। जो ज्ञान ‘इदं’ रूपमें भास रहा है, वही ज्ञान ‘अहं’ रूपमें भी भास रहा है :

‘अद्वयं-ज्ञातृज्ञेयविभागरहितम् ।’

अद्वयका अर्थ है ज्ञाता-ज्ञेयके विभागसे रहित । अल्प ज्ञेयका ज्ञाता अल्पज्ञ और सर्वज्ञेयका ज्ञाता सर्वज्ञ । अल्प ज्ञानके कारण अल्पज्ञ और सर्वज्ञानके कारण सर्वज्ञ ! ये ज्ञानके ही दो विभाग हैं । जीव अल्पज्ञ और उसका ज्ञान परिच्छिन्न, ईश्वर और उसका ज्ञेय समष्टि—यह प्रतीकात्मक है । ये विभाग जिस ज्ञानमें नहीं हैं, वह अद्वयज्ञान तत्त्व है । यह तत्त्व अविज्ञेय है ।

एक स्थानपर ब्रह्मका स्वरूप बतलाया—‘बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।’ लेकिन जब उसे ‘अविज्ञेय’ कहा तो हेतु दिया ‘सूक्ष्मत्वात्’ ।

ब्रह्मको ‘अविज्ञेय’ कहनेसे घपला हुआ । एक साधक ब्रह्मको ढूँढ़ने सीधे वनमें जाते हैं । वहाँ उन्हें पेड़-पौधे, पशु-पक्षी दीखते हैं । दूसरे नेत्र बन्द करके अनुमान लगाते हैं । अनुमानसे जगत्कारण प्रकृति मिलेगी या श्रद्धा हुई तो ईश्वर मिलेगा । आधिभौतिक खोजमें आणविक शक्ति मिलेगी अन्तमें ।

जब आप अनुसन्धानके मार्गमें चलते हैं तो क्या ढूँढ़ने चले हैं, यह विचार रहता है ? यदि आपका कुछ लक्ष्य ही नहीं है तो ढूँढ़ोगे क्या ? कोई सब्जी-मंडी जाय और न जाने कि लेना क्या ? कोई स्टेशन जाय और न जाने कि जाना कहाँ ? लक्ष्यशून्य जो अनुसन्धान करते हैं, वे दिग्भ्रान्त हो जाते हैं । हमें सत्य-परमार्थ चाहिए, यही ठीक लक्ष्य है ।

‘हमें कुछ चाहिए’ यह तो वही गति है, जैसे आयुर्वेदका एक श्लोक है :

‘यस्य कस्य तरोर्मूलं येन केन च पेषितम् ।

यस्मै कस्मै प्रदातव्यं यद्वा तद्वा भविष्यति ॥’

चाहे किसी वृक्षकी जड़, चाहे जिसने, चाहे जैसे पीस दी । उसे जिस किसीको भी दे दो, कुछ न कुछ (अच्छा-बुरा) हो ही जायगा ।

ऐसे अनिश्चित लोग तामसिक होते हैं । जो मनुष्य अनुसन्धानमें लगे, उसे विषयका ज्ञान होना चाहिए । प्रयोजनका ज्ञान होना चाहिए । अपने अधिकारका ज्ञान होना चाहिए । यह ज्ञान होना चाहिए कि हम उस विषयके ज्ञानके अधिकारी हैं या नहीं । उस वस्तुसे हमारा क्या सम्बन्ध है, यह सम्बन्ध-ज्ञान होना चाहिए । इस प्रकार विषय, प्रयोजन, अधिकारी, सम्बन्धज्ञानपूर्वक जो प्रवृत्ति होती है, वही सफल होती है ।

आप घरसे बाजार जानेको निकले तो आपको पता होना चाहिए कि आपको नीबू लाना है या इमली । आपकी जेबमें पैसे भी हैं या नहीं । जो कुछ आप लायेंगे, उसका क्या उपयोग होगा । यदि फल वृक्षसे तोड़कर लाना है तो आप उस वृक्षपर चढ़ सकेंगे या नहीं और उस वृक्षसे फल तोड़नेका आपको अधिकार है या नहीं है । यदि आपको यह सब पता नहीं है तो आपकी असफलता निश्चित है । आपको जो फल लाना है, उसकी पहचान भी होनी चाहिए ।

‘अबाध्यत्वं सत्यत्वम्’ सत्य वह है जिसे कोई कभी किसी दशामें मिथ्या नक र सके—भूत-भविष्य वर्तमानमें; सर्वदेशमें; जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति सभी अव-

स्थाओंमें जिसके मिथ्यात्वका निश्चय न हो सके। अपने अस्तित्वके अतिरिक्त अनुभूतिके क्षेत्रमें दूसरे किसीका अस्तित्व ऐसा अबाध्य नहीं हो सकता।

‘यद् दृश्यं तन्मिथ्या।’

जो दृश्य होता है, वह मिथ्या होता है। आप यदि बुद्धिसे विचार करोगे तो प्रपञ्च शून्य सिद्ध हो जायगा। भौतिक अनुसन्धानमें जड़तत्त्व जगत्कारण सिद्ध होगा। विचारमें कोई निष्प्रयोजन प्रवृत्त नहीं होता। आत्मसत्यके सम्बन्धमें कहते हैं :

‘तद्विज्ञेयं ब्रह्म सूक्ष्मत्वात् व्योमवत्। यथा हि बाला गगने तलमल्लि-
नतामध्यस्यन्ति।’

जैसे बालक आकाशका स्वरूप न जाननेके कारण ‘गगनतल’ ‘मलिनाकाश’ आदि अभ्यास आकाशमें करते हैं, वैसे ही आकाशके समान सूक्ष्म होनेसे ब्रह्म अविज्ञेय है। ‘सूच्यत इति सूक्ष्मः।’ सूक्ष्म शब्दका एक अर्थ है : जो सूचनासे सिद्ध हो। ‘सूक्ष्ममध्यात्ममित्यपि।’ सूक्ष्म शब्द अध्यात्मका भी पर्यायवाची है।

‘तद्विज्ञेयं सूक्ष्मत्वात् कनीनिकावत्।’

परमात्मा सूक्ष्म होनेके कारण अविज्ञेय है, नेत्रतारकाके समान। आप स्वयं अपने नेत्र-तारकाको देख सकते हैं ? न देखे जानेपर भी वह है। आपके नेत्र ठीक हैं, यह बात इससे सूचित होती है; क्योंकि आपको दृश्य ठीक दीखते हैं।

इसी प्रकार कर्णमें सुननेकी, नासिकामें सूंघनेकी, जिह्वामें चखनेकी और त्वचामें छूनेकी शक्ति है। इन सबको जाननेवाला एक है। मनके सैकड़ों सङ्कल्पों, बुद्धिके सभी निर्णयोंको जो जानता है और इन्द्रियों, मन तथा बुद्धिके सो जानेपर भी जो रहता है, वह अध्यात्म है। वह सूक्ष्म है।

जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिको जो जानता है और जो इनसे सीमित नहीं होता, इनके रहनेपर और इनके न रहनेपर भी जो रहता है, वह जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिसे सूक्ष्म है।

‘सूक्ष्मत्वादध्यात्मत्वात् प्रत्यगात्मत्वाद्विज्ञेयं विज्ञानविषयमतिक्रान्तं तत्।’

वह सूक्ष्म होनेके कारण, अध्यात्म होनेके कारण; और प्रत्यगात्मा होनेके कारण अविज्ञेय अर्थात् विज्ञान-विषयसे अतिक्रान्त है।

जो वस्तु सुषुप्तिमें नहीं भासती, वह अज्ञानका कार्य है। सुषुप्ति अज्ञान-मूलक अवस्था है। कार्यका लय अपने कारणमें होता है। सुषुप्तिमें जिसका लय हो जाता है, उसका लय अज्ञानमें हुआ, अतः वह अज्ञानका कार्य थी। यदि सुषुप्तिके अज्ञानमें सृष्टिका, भेदबुद्धिका लय हुआ तो सृष्टि, भेदबुद्धि अज्ञानात्मक ही है।

‘अज्ञान मुझे भासता है।’ अतः तुम भानस्वरूप हो। तुमपर देश, काल, वस्तुका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यही अखण्ड ब्रह्म है।

‘सूक्ष्मत्वात् द्रष्टृत्वाददृश्यम्।’

सूक्ष्म होनेके कारण, द्रष्टा होनेके कारण वह अदृश्य है। विज्ञानकी विषयता उसमें नहीं है। वैविध्य-ज्ञान जहाँ हो वह शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध-

का ज्ञान विज्ञान है । रज्जुका ज्ञान हो जानेपर सर्पकी कल्पना और कल्प्य सर्प नहीं रहता । ऐसे ही आत्माकी पहचानसे भेदमें सत्यत्वका भ्रम नहीं रहता ।

‘दूरस्थं चान्तिके च तत्’ : जो वस्तु उत्तर ध्रुवमें, दक्षिण ध्रुवमें, ग्रहान्तरो-में, पृथ्वीके समस्त देशोंमें है, वही तुम्हारी नेत्रकी पुतलीमें भी है । जो सृष्टिके पूर्व थी और प्रलयके पश्चात् भी रहेगी, वही इस समय भी है ।

सर्वत्र एक ही परमात्मा है । उसमें देशगत दूरी नहीं, कालगत दूरी नहीं और वस्तुगत दूरी भी नहीं है ।

‘दूरस्थम्’ : जिन्हें उसका ज्ञान नहीं हुआ, उनसे वह दूर है ।

‘अन्तिके च तत्’ : जिन्हें उसका ज्ञान हो गया, उनके समीप उनका अपना आपा ही है ।

एकने कहा : ‘ब्रह्मकी प्राप्ति महाप्रलयमें होगी । कयामतमें खुदा फैसला और रहम करेगा ।’ इसने अरबों वर्षकी दूरी ईश्वरमें कर दी । दूसरेने कहा : ‘परमात्मा वैकुण्ठमें मिलेगा ।’ इसने ईश्वरमें देशगत अपार दूरी कर दी ।

तीसरेने कहा : ‘जब तक संसार दीखेगा, परमात्मा नहीं मिलेगा । वह समाधिमें मिलता है ।’ इसने ईश्वरमें अवस्थागत दूरी उत्पन्न कर दी । ऐसोंके लिए परमात्मा ‘दूरस्थं’ दूर हैं ।

जो ब्रह्मकी पूर्णता, आत्मता, अद्वितीयताको नहीं जानता, उस अज्ञानीके लिए ब्रह्म दूर-देश, दूर-काल, दूर-वस्तुके रूपमें अपनेसे पृथक् है । जो अपनेसे पृथक् है, उसकी दूरीकी सीमा नहीं है ।

‘अन्तिके च तत्’ : जान लें तो वह समीप अपना आपा ही है । समाधि या महाप्रलयमें यदि ईश्वर मिलता भी हो तो तुम्हें तो उसकी पहचान होगी नहीं ; क्योंकि वहाँ न कोई वृत्ति होती है और न कोई पहचान करानेवाला ।

एक महात्मा एक व्यक्तिको पारस दे गये ; किन्तु बतलाया नहीं कि वह पारस है । वह उससे चटनी पीसता था । किसीने उससे कहा : ‘हिमालयमें पारस मिलता है ।’

वह हिमालयमें जाकर भटकने लगा । एक-एक पत्थरको लोहेसे ठोकने लगा । हिमालय क्या इस प्रकार ढूँढा जा सकता है ? संयोगवश उसे वे ही महात्मा मिल गये । बोले : ‘मैं जो तुम्हें दे आया था, उसे भी लोहेसे स्पर्श कराकर कभी देखा है ?’

अब उसे ज्ञान हुआ और उसका भटकना मिटा ।

वचनमें मैं गीता पढ़ता और उसमें आता : ‘न जायते म्रियते वा कदाचित्’ तो समझता कि यह किसी ऐसी आत्माका वर्णन है, जो जनमता-मरता नहीं । बड़ा हुआ, सत्सङ्ग मिला तो महात्माओंने बतलाया : ‘यह तो तुम्हारा ही वर्णन है । जिस देहका जन्म-मरण होता है, वह तुम नहीं हो ।’

सत्पुरुषोंके अनुग्रहसे ज्ञान हो जानेपर वह अपने नेत्र, अपने मनसे भी पास-अपना आपा ही है ।



● संगति

...ब्रह्म और आत्माकी एकताके लिए जितनी बातें आवश्यक थीं, सब 'बहिरन्तश्च भूतानाम्' इस श्लोकमें कह दीं।

वर्णन प्रारम्भ किया था 'ज्ञेयं यत्तत् प्रवक्ष्यामि' और वर्णन कर दिया क्षेत्रज्ञका। यह क्षेत्रज्ञ प्रतिशरीर भिन्न उपलब्ध होता है। यदि यही परमात्मा है तो वह प्रतिअन्तःकरण भिन्न क्यों लगता है ?

क्षेत्रज्ञका अद्वितीयत्व पारमार्थिक है और सद्वितीयत्व प्रतिभासिक, यह बात अब बतलाते हैं।

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।

भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं असिष्णु प्रभविष्णु च ॥ १६ ॥

प्राणियोंमें वह (परमात्मा) विभक्त न होता हुआ भी विभक्तके समान स्थित है। उसीको प्राणियोंका भर्ता, प्रलयकर्ता तथा उत्पत्तिकर्ता भी जानना चाहिए।

'अविभक्तं च' : भूत-प्राणी सब विभक्त नहीं हैं, विभक्त जैसे लगते हैं। यदि तुम संकल्पसे पृथक् हो जाओ तो ईश्वरके पारतन्त्र्यसे भी मुक्त हो जाओगे। ईश्वरका सङ्कल्प होता है—इस भवनको गिराने अथवा इस देहको रोगी रखनेका और तुम भवनको रखना चाहते हो, देहको स्वस्थ रखना चाहते हो। ऐसी अवस्थामें सङ्कल्प तो ईश्वरका ही पूर्ण होगा। अतः तुम दुःखी होगे। तुम निःसङ्कल्प हो जाओ। तब ईश्वर तुम्हारा कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता।

समष्टिका संकल्प तुम्हारे व्यष्टिके संकल्पको अपने अधीन कर सकता है। कोई समाजसे उलटा चले तो समाज उसे ठोक-पीटकर ठीक कर देगा। तुम अपने 'अहं'को परिच्छिन्नसे एक करोगे तो परिच्छिन्नकी समष्टिका चैतन्य तुमको अपने अधिकारमें रखेगा। तुम यदि व्यष्टिसे तादात्म्यापन्न नहीं हो तो तुम्हारी समष्टिकी अधीनता मिट गयी।

तुम्हारी जो व्यष्टिमें 'अहं' बुद्धि है, बुद्धिमें भ्रम होनेसे है। इसीसे सङ्कल्पों तथा देहेन्द्रियमें ममत्व है। इसे छोड़ दो तो तुम निर्विशेष हो। समस्त परिच्छिन्नत्व दृश्यसे तादात्म्यके कारण ही है।

आप व्यष्टि-समष्टि दोनोंका ज्ञान प्राप्त कर सकते हो। यदि आपमें समष्टिसे तादात्म्यकी योग्यता न होती तो आप उसे नहीं जान सकते थे। यदि आप 'महाभूतान्यहङ्कारो' आदिको न जान पाते तो इन सबका नाम क्षेत्र और आपका नाम क्षेत्रज्ञ कैसे होता ?

‘अविभक्तं च भूतेषु’ : भूतका अर्थ है प्राणी । भूतका अर्थ है पञ्चभूत और भूतका अर्थ है उत्पन्न होनेवाले । भारद्वाजीय कर्ममीमांसा-दर्शनने कहा : ‘भूतको पकड़नेकी वृत्ति तमोगुणसे उत्पन्न होती है । पितृपूजा-वृत्ति रजोगुणी है और देवपूजा-वृत्ति सत्त्वगुणी है । ईश्वरकी पूजा-वृत्ति सत्त्वातिक्रमण-लालसासे उत्पन्न होती है । ब्रह्म-जिज्ञासा तो लालसासे भी श्रेष्ठ है ।’

भूतकी उपस्थिति मनमें ही होती है । ‘भूतेषु’ आपके मनमें जो भूत समाये हैं, उनमें—मनुष्य-पशु-पक्षी, देवता-दानवादिकें, पञ्चमहाभूतोंमें अविभक्त होनेपर भी वह विभक्त-सा लगता है ।

मनुष्यकी दृष्टि यदि भूतको छोड़कर भविष्यतक जाय तो उस दृष्टिसे यम मिलेंगे और उसे तत्त्वज्ञान हो जायगा ।

‘भूतेषु कल्पितेष्वकल्पितेषु च यदविभक्तं तत्परमार्थिकं भूतेषु यदविभक्तं तत् वस्तुतो न विभक्तं विभक्तमिव स्थितं प्रातीतिकमित्यर्थः ।’

कल्पित और अकल्पित भूतोंमें जो अविभक्त है, वह परमार्थ सत्य है । भूतोंमें जो तत्त्व विभक्त है, वह वस्तुतः विभक्त नहीं है : विभक्तकी भाँति स्थित है, अर्थात् विभक्तता प्रातीतिक है ।

क्षेत्रज्ञके ब्रह्मरूपमें वर्णनका अभिप्राय ही यही है कि आत्मा और ब्रह्म एक ही हैं । वेदमें वर्णन है कि जिससे सृष्टि, स्थिति, प्रलय होता है वह परमात्मा है । ब्रह्मसूत्रने कहा है :

‘जन्माद्यस्य यतः ।’

इस नामरूपात्मक प्रपञ्चका परमात्मा अभिन्न-निमित्तोपादान कारण है :

‘यथा ह्यहं ज्योतिरात्मा विवस्वान्

अपोभिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन् ।

उपाधिना क्रियते भिन्नरूपो

देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा ॥’

भले ही एक सहस्र घड़ोंमें जल हो; किन्तु उन सबमें एक ही सूर्यका प्रतिबिम्ब पड़ता है । इसी प्रकार उपाधि-भेदसे परमात्मा पृथक्-पृथक् जान पड़ता है; किन्तु क्षेत्रके पृथक्-पृथक् होनेपर भी यह अजन्मा आत्मा एक ही है ।

श्रुतिने ब्रह्मको जगत्कारण, जगदाधार, जगदुपादान बतलाया है । गीता भी यहाँ परमात्माको कर्ता (निमित्तकारण) भर्ता (आधार) और संहर्ता (उपादान) ही बतलाती है । तो क्या वस्तुतः परमात्मा सृष्टि बनाता है ? जैसे जुलाहा वस्त्र बनाता है, जैसे घड़ेमें जल रखा रहता है, घड़ा जलका आधार है, क्या वैसे परमात्मामें सृष्टि रखी है ? ऐसा नहीं है । यह तो परमात्माको प्रत्यक्-चैतन्यभिन्न सिद्ध करनेकी एक युक्तिमात्र है ।

‘भूतेषु’ : ये जो पृथक्-पृथक् प्राणी दीखते हैं, ये भूत हैं अर्थात् ये हुए नहीं और होंगे भी नहीं । अनादि अविद्यावासनासे ही इनकी प्रतीति होती है ।

‘विभक्तमिव’ : प्राणी, पञ्चभूत, कार्यावस्था पृथक्-पृथक् दीखती है । इनका यह पार्थक्य प्रातीतिक है ।

‘अविभक्तम्’ : परमार्थ सत्य अविभक्त है। अब ऐसा तत्त्व जगत्से निराला होगा ? इस आशंकाको मिटानेके लिए कहते हैं।

‘भूतभर्तृ च’ : वह तत्त्व प्रपञ्चसे पृथक् नहीं है। वह प्राणियोंका, महा-भूतोंका भी धारक है।

‘भूतानि विभर्ति इति भूतभर्तृ ।’

जैसे मनुष्यमें मनुष्यत्व है। मनुष्यत्व ही मनुष्यका धारण कर रहा है, वैसे जिसके होनेसे ही प्रपञ्च सदरूप, प्रकाशरूप और प्रियरूप भासता है। जिसकी अस्ति, भाति, प्रियतासे प्रपञ्चमें अस्तित्व, भासित्व एवं प्रियत्व आता है, वह भूतभर्तृ है।

‘ग्रसिष्णु’ : वह आधार या निमित्तकारण ही हो, ऐसा नहीं है। वही इसको अपनेमें लीन भी कर लेता है। वही उपादान-कारण भी है।

‘प्रभविष्णु’ : लीन वह करता हो; किन्तु उत्पन्न कहीं औरसे हुआ हो, ऐसा भी नहीं है। वही इसे उत्पन्न भी करता है।

‘भूतभर्तृ’ : से आधारता, ‘ग्रसिष्णु’से उपादान-कारणता और ‘प्रभविष्णु’से निमित्तकारणता बतलायी तात्पर्य यह कि वही सर्वाधिष्ठान है तथा वही प्रपञ्चकी उत्पत्ति और प्रलय है। उस अद्वितीय परमात्मामें यह प्रपञ्च विवर्तरूप है।

‘अविभक्तं च भूतेषु’ : भूतोंके पृथक्-पृथक् दीखनेसे ही एक देखनेवालेका ज्ञान होता है। देश, काल, वस्तुके द्वैतको वही देखता है। अतः वह देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न है। अपरिच्छिन्न होनेसे परिच्छिन्न एवं उसके अभाव दोनोंका अधिष्ठान है। अतः अद्वितीय है।

आप शरीरसे तादात्म्य करके कहते हैं : ‘यह शरीरके बाहर है और यह शरीरके भीतर।’ यह बाहर-भीतरका भेद आपकी कल्पनामें है। आप इस देशकी कल्पनाके साक्षी हैं। इसी प्रकार आप कालकी कल्पनाके भी साक्षी हैं। कल्पना कभी स्फुरित होती है, कभी नहीं होती; किन्तु साक्षी तो कल्पनाके-भाव-अभाव दोनोंका साक्षी है। कल्पना का विषय कल्पित है। कल्पनाकार वृत्ति कल्पित है। ~~केवल-कल्पनाका आश्रय साक्षी ही सत्य है।~~ कल्पनामें अकल्पित आप हैं। यदि आप अपनेको कल्पित मानोगे तो आपको देशके भीतर जड़ होकर रहना होगा। अपनेको कल्पनामें स्फुरित आकार मान लोगे तो क्षणिक होकर मर जाना पड़ेगा, शून्य हो जाना होगा। इस शून्यका भी जो साक्षी है, वह अपना आपा है।

‘नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ।’

जब तुमने अपनेको कालसे एक किया तो श्रुतिके तात्पर्यको गीताने समझाया : ‘तुम नित्य-अविनाशी हो।’

जब तुमने अपनेको देशसे एक किया तो श्रुतिका मत गीताने उद्धोषित किया : ‘तुम सर्वगत हो।’

जब तुमने अपनेको पदार्थसे एक किया तो श्रुतिका स्वयं गीतासे गूँजा : ‘तुम अचल हो ! सनातन हो।’

कल्पनाका अपवाद कर देनेपर परिच्छिन्न एवं परिच्छिन्नाभाव इनके साक्षीके अतिरिक्त वस्तु नहीं रहती ।

तुम अपनेको ब्राह्मण मानकर शूद्रका तिरस्कार कर रहे हो; किन्तु अपनेको मनुष्य मानो तो शूद्रका तिरस्कार क्यों हो ? अब शूद्रने तो तुम्हें मनुष्य बनाया नहीं । ब्राह्मणत्वका अपवाद करके तुम्हारे मनुष्यत्वका अनुवादमात्र ही तो किया गया । इसी प्रकार तुम्हारी ब्रह्मता शासन-विधेय नहीं है । आत्मा ब्रह्मरूप है—श्रुतिशास्त्रमें इस सत्यका निरूपण है ।

‘अविभक्तं च भूतेषु’ : वह व्यावहारिक एवं प्रातिभासिक तथ्योंमें भी अपृथक् रहता हुआ पृथक्-पृथक्-सा दीखता है ।

गीध कितना भी ऊँचे उड़े, उसकी दृष्टि मांसपर ही रहती है । इसी प्रकार मनुष्य आचरण कितना भी ऊँचा बना ले, उसकी दृष्टि परिच्छिन्न पर ही रहती है । श्रुति इस परिच्छिन्न दृष्टिको मिटाना चाहती है, अतः कहती है :

**‘अशरीरं शरीरेषु अनवस्थेष्ववस्थितम् ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥’**

—कठ० २।२।२२

‘धीरो’ : पहिले धैर्य चाहिए, तब शोकहीन हो जाओगे । धीर होना अधिकारी बनना है और निःशोक होना उसका फल है ।

‘मत्वा’ : यह साधन है ।

‘किं मत्वा ?’ : क्या मानकर ? शेष मन्त्र इसका उत्तर है ।

‘अशरीरं शरीरेषु’ : शरीरों (मूर्तियों, आकृतियों) में रहता हुआ जो अशरीर है । पञ्चभूतोंकी बनी आकृतियाँ, मानसिक वृत्तिकी बनी आकृतियाँ और शान्तिकी बनी आकृतियाँ अर्थात् वृत्तियोंका उदय, वृत्तियोंका सांकर्य और वृत्तियोंका बाध ये सब शरीर हैं । इन सब शरीरोंसे जो शरीरी यानी मूर्तिमान् नहीं होता ।

‘अनवस्थेष्ववस्थितम्’ : जो परिवर्तनशील पदार्थोंमें रहता हुआ भी अपरिवर्तित है । संसारका स्वभाव तो परिवर्तनशील है ।

मुझे स्वप्नमें एकवार एक प्राचीन महात्माके दर्शन हुए । उन्होंने कहा : ‘मैं अपने अनुभवकी बात तुमको सुनाता हूँ । मुझे संसारमें चार बातोंसे कष्ट हुआ :

१. स्त्रीसे । स्त्री चाहती है कि पुरुषकी दृष्टि चौबीसों घण्टे मुझपर ही रहे । मुझे छोड़कर पुरुष अन्यकी ओर न देखे । स्त्री हमारी दृष्टिको, हमारे ज्ञानको अपनेतक ही सीमित रखना चाहती है । यह बड़ी परतन्त्रता है ।

२. धनसे । धन स्वयं अपनी ओर देखनेको बाध्य नहीं करता; किन्तु हम स्वयं उसे इतना मोहक मानते हैं कि उसके लिए अपनेको बाधित कर देते हैं । हम मरें-जरें; किन्तु पैसा चाहिए । हम स्वयं उसीपर दृष्टि रखते हैं । उसके पराधीन बन जाते हैं ।

३. धनी लोगोंसे। धनी लोग ईश्वरको, महात्माओंको भी आज्ञा देते हैं। उन्हें अपने आश्रित बनाना चाहते हैं। उनके संगसे दुःख एवं परतन्त्रता प्राप्त होती है।

४. वासनावान् पुरुषोंके संगसे। वासना बढ़ती है और दुःख मिलता है। वे दूसरोंको भी अपनी वासनाके अनुसार चलाना चाहते हैं। ऐसे लोगोंका संग न मनको शान्त होने देता है और न ईश्वरमें लगने देता। यह चाहिए, यह चाहिए की धुन चढ़ी रहती है।

जो इन चारोंसे मुक्त है—‘जिसे ये चारों दुःखी न कर सकें, वह है महात्मा।’

‘अनवस्थेष्ववस्थितम्’ : ये स्त्री-धन-धनी एवं वासनावान् लोग अनवस्थ हैं—आस्थाहीन हैं। धनी तो ‘काकवत् सर्वाभिविशङ्की’ होता है। कोई उसका विश्वास जीत नहीं सकता। इनको बदलने दो, तुम अपने स्वरूपमें स्थिर रहो।

शरीर-परिच्छेदसे आत्मामें परिच्छेद नहीं होता। यह बात ‘अशरीरं शरीरेषु’ में कही गयी। पञ्चभूतोंके परिच्छेदका निराकरण ‘अनवस्थेष्ववस्थितम्’ में किया गया। परिवर्तित होते पञ्चभूतोंमें वह अपरिवर्तनशील है।

‘महान्तम्’ : अविनाशी।

‘विभुम्’ : सर्वव्यापी। ऐसा कौन ?

‘आत्मानम्’ : अपने आपको-प्रत्यक् चैतन्यको अर्थात् दृश्यसे, जड़से विविक्त, अनात्मासे पृथक्कृत चैतन्यको अपना स्वरूप जानकर धीर-पुरुष शोक नहीं करता। शोकसे छूट जाता है।

‘आत्मानं चेद् विजानीयादयमस्मीति पूरुषः।

किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ॥’

—बृहदा० ४।४।१२

चेद् : यदि पुरुष अपनेको जान ले कि यह आत्मा मैं हूँ तो किस इच्छासे, किस कामनाके लिए शरीरके पीछे देहासक्त बनकर संतप्त होगा।

ब्रह्मको तुम ऐसे नहीं जान सकते जैसे पीतल-सोना, हीरा-मोती जानते हो। ब्रह्म वृत्तिके पेटमें नहीं आता। ‘अयमस्मीति पूरुषः’ ब्रह्मका ज्ञान होता है :

‘अहमेवास्मि।’

यह तो मैं ही हूँ। जब ऐसा ज्ञान हो गया, तब किस वस्तुकी प्राप्तिकी इच्छा होगी ? तब तुमको अप्राप्त क्या रह गया ?

‘कस्य भोक्तुः कामाय’ किस भोक्ताकी कामनाके लिए ? क्योंकि तब तो न कोई भोक्ता रहा और न कोई भोग रहा। फिर किस भोगके लिए और किस भोक्ताकी तृप्तिके लिए तुम व्याकुल होगे ? जिस भोक्ताकी तृप्ति चाहते हो और जिस भोगसे तृप्ति चाहते हो, वे तो तुम्हारे स्वरूपमें बाधित हैं।

✓ ‘शरीरमनुसंज्वरेत्, शरीरं ज्वरेत् तदनु स्वयं ज्वरेत्।’

जलता शरीर है, समझते हैं कि हम स्वयं जल रहे हैं। ज्वरसे शरीर जलता है, कामनासे शरीर जलता है, आत्मा नहीं जलता।

चार्वाक स्थूलदेहसे भिन्न सूक्ष्मदेह नहीं मानता। बौद्ध सूक्ष्मदेहसे भिन्न स्थूलदेह नहीं मानते। जैन स्थूलदेह और सूक्ष्मदेहके सम्बन्धमें मानते हैं कि संवर-आश्रव दशामें दोनों मिले रहते हैं और निर्जर दशामें दोनों पृथक् हो जाते हैं। वेदान्त कहता है : एक ब्रह्ममें तीनों देह (स्थूल, सूक्ष्म, कारण) कल्पित हैं।

घरमें आग लगी तो उससे निकल जाना चाहिए। कौन बुद्धिमान् घरके साथ जलना चाहेगा? 'शरीर मरे या जीवित रहे, हमें चिन्ता नहीं!' इस भावनासे स्थूलदेहके साथ जो ग्रन्थि थी, कट गयी।

'मन चञ्चल रहे या शान्त, यह तो मनकी बात है, इससे हमारा क्या सम्बन्ध?' इस निश्चयके साथ सूक्ष्मशरीरकी ग्रन्थि कट गयी।

'चेतन आत्मामें आना-जाना कहाँ?' ऐसा निश्चय हुआ तो लिंगदेह (कारणशरीर) की ग्रन्थि कट गयी।

'ब्रह्म भला जाना कैसे जायगा? वह ज्ञानका विषय कैसे हो सकता है? वह तो स्वयं ज्ञानस्वरूप है' यही ग्रन्थि-भेद है। कारणदेहमें सुषुप्ति हो, मूर्छा हो या समाधि हो, उससे तुम्हारा क्या सम्बन्ध?

'अनवस्थेष्ववस्थितम्' : तुम इन स्थूल, सूक्ष्म, कारणरूप अनवस्थित शरीरोंमें अवस्थित हो। यह तुम्हारा आत्मस्वरूप है।

'भूतभर्तृ च' : जब पेट खाली होता है तो उसे तुम भोजन करके भरते हो। इसी प्रकार सम्पूर्ण सृष्टिके प्राणियोंका पेट कौन भरता है?

'भूतानि विभर्ति इति भूतभर्तृ' : सबके धारण-पोषण करनेवाले तुम हो।

जैसे स्वप्न-जगत्का भरण-पोषण स्वप्नद्रष्टा करता है, वैसे ही सम्पूर्ण जाग्रत्-दृश्यका भरण-पोषण करनेवाला जाग्रत्का द्रष्टा है। इस प्रकार भूतभर्तृत्व अपना स्वरूप है, यह साक्षात् अनुभवसिद्ध है।

क्षेत्रज्ञ ही ग्रसिष्णु और प्रभविष्णु है, यह बात श्रुतिसिद्ध है। यह अनुभव सिद्ध नहीं है। हमने सम्पूर्ण प्रपञ्चको कभी उत्पन्न किया और कभी लय करेंगे, ऐसा अनुभव नहीं होता। इसकी कल्पना करनी पड़ती है। इस कल्पित ग्रसिष्णुत्व एवं प्रभविष्णुत्वसे यह सिद्ध होता है कि इस प्रपञ्चका अभिन्ननिमित्तोपादान कारण मैं हूँ। अभिन्ननिमित्तोपादान कारणके रूपमें ही मैं प्रपञ्चका धारण-पोषण कर रहा हूँ, क्योंकि मैं चेतन हूँ। अतः मुझमें परिणाम नहीं हो सकता। मैं अविभक्त हूँ, पर विभक्त भूतोंकी प्रतीतिसे विभक्त सा जान पड़ता हूँ।



● संगति

...विभक्तोंमें अविभक्त, अनवस्थोंमें अवस्थित वह भूतोंका भर्ता, ग्रसिष्णु और प्रभविष्णु है—इतना कहनेसे ही यह नहीं सिद्ध होता कि वह चेतन है। सांख्यकी प्रकृति भी तो ऐसी ही है। अतः कहते हैं कि वही स्वयंप्रकाश, ज्ञान-स्वरूप है और वही अन्तर्यामी है।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।

ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥ १७ ॥

उस ज्योतिको ही समस्त ज्योतियोंका प्रकाशक एवं तमस्से परे कहा जाता है। वह ज्ञानस्वरूप, ज्ञानगम्य, जानने योग्य सबके हृदयमें स्थित है।

आदित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।

श्रुति कहती है कि वह परमात्मा सूर्यके समान प्रकाश और तमस्से परे है।

‘ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः’ : ज्योति-शब्द स्वयं विवर्त-वाचक है। मूल शब्द द्युति है। ‘द्योतत इति ज्योतिः’ इसमें ‘द’का ‘ज’ होना विवर्तका सूचक है।

ज्योति हैं सूर्य, चन्द्र, तारक, अग्नि। इन सबमें जो एक प्रकाशस्वरूप है, वही परमात्मा है।

‘न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।

तमेव भान्तमनुभाति सर्वम् ।’—कठ० ५।१५

उसे न सूर्य प्रकाशित करता है। न चन्द्रमा, न तारे प्रकाशित करते हैं और न विजलियाँ। फिर इस अग्निकी चर्चा ही क्या? उस प्रकाशस्वरूपसे ही सब प्रकाशित हैं।

सबके नेत्रोंमें उसीका प्रकाश है। गीतामें आया है :

‘न तद् भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।’—१५।६

सूर्य = नेत्रज्योति। चन्द्र = मनोज्योति। पावक = वाग्ज्योति। नेत्रज्योति, मनोज्योति और वाग्ज्योति उसको प्रकाशित नहीं करतीं। इनमें जो प्रकाश है, वह कहाँसे आया ?

‘यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम् ।

यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥’—१५।१२

श्रीभगवान् कहते हैं : ‘सूर्यमें रहकर जो तेज सम्पूर्ण संसारको प्रकाशित करता है तथा चन्द्रमा और अग्निमें जो तेज है, उसे मेरा ही तेज जानो ।’

उसीकी ज्योतिसे ज्योतिष्मत् होकर नेत्र देखते हैं, मन सोचता है, वाणी बोलती है। नेत्र, वाणी और मनके पृथक्त्वपर मत जाओ। इनमें जो एक अखण्ड ज्योति है, उसीको देखो।

‘न केवलं ज्योतिषां ज्योतिः, तमसामपि ज्योतिः।’

वह न केवल ज्योतियोंका ही प्रकाशक है, प्रत्युत तमस् या अज्ञानका भी वही प्रकाशक है।

दीपदान करते समय मन्त्र बोलते हैं :

‘ॐ अग्निर्वर्चो ज्योतिर्वर्चः स्वाहा।

ज्योतिर्वर्चः सूर्यो वर्चः स्वाहा॥

अग्नि, सूर्य, चन्द्र : जिस ज्योतिस्वरूपकी कान्ति या वर्चस् हैं।

‘येन सूर्यस्तपति तेजसेद्भः।’

जिस तेजसे समृद्ध होकर सूर्य तपता है।

पृथक्-पृथक् तारोंमें ज्योति पृथक्-पृथक् दीखती है। शुक्र-ज्योति श्वेत है। गुरु-ज्योति पीत है। मंगल-ज्योति लाल है। बुध-ज्योति हरित है। शनैश्चर-ज्योति धूम्रवर्ण है। लेकिन इन उपाधियोंसे ज्योतिको पृथक् करके देखें तो भौतिक ज्योति भी एक ही है। लाल तारेसे निकली तो लाल और हरे तारेसे निकली तो हरी। तारोंके भिन्न-भिन्न रंग होनेसे मूलतः ज्योति रंगीन नहीं हो जाती।

‘तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।’—कठ० ५।१५

उस परमात्माके प्रकाशसे ही यह सब प्रकाशित है।

नाम-रूपको पृथक् करके उस ज्योतिःस्वरूपका निश्चय करो। सूर्यमें वही ज्योति है; किन्तु सूर्यके प्रकाशमें जो दीखता है या नेत्र जिसे देखते हैं, वह वह नहीं है।

चन्द्रमामें ज्योति वही है; किन्तु चन्द्रके प्रकाशमें जो दीखता है या मनमें जो आता है, वह वह नहीं है।

अग्निमें ज्योति वही है; किन्तु अग्निके प्रकाशमें जो दीखता है या वाणीके वर्णनमें जो आता है, वह वह नहीं है।

सूर्यकी ज्योतिमें ईश्वर दीखे तो वह केवल रूप होगा।

चन्द्रकी ज्योतिमें ईश्वर दीखे तो वह केवल सङ्कल्प होगा।

अग्निकी ज्योतिमें ईश्वर दीखे तो वह केवल शब्द होगा। लेकिन ईश्वरके बिना अग्नि, चन्द्र, सूर्यमें कोई ज्योति नहीं। वह सूर्य, चन्द्र, अग्निके प्रकाशमें नहीं दीखता, लेकिन सूर्य, चन्द्र, अग्निमें उसीका प्रकाश है।

तुम छोटे-छोटे परिच्छिन्न पदार्थोंसे बँधे हो। पहले वहाँसे अपनी किरणें समेट लो। फिर उस प्रकाशकी अखण्डता जानकर सबके ऊपर उसे फैला दो। उसके प्रकाशमें सब प्रकाशित हो जायगा। लेकिन यदि निषेधमें संकोच करोगे, तो अपूर्ण बने रहोगे।

एकने मुझसे कहा : ‘मैंने अशेष-विशेषका निषेध कर दिया है।’

मैंने पूछा : 'मनमें असन्तोष है या नहीं ?'

वे : 'है ।'

मैं : 'कहाँ असन्तोष है ?'

वे : 'मनमें ।'

मैं : 'मनको अपना मानते हो, तब न असन्तोष है ? जब निषेध पूरा होता है, तब मोक्षका भी निषेध हो जाता है और महावाक्यका भी । इनसे होनेवाले वृत्तिज्ञानका तथा सद्योमुक्ति, जीवन्मुक्तिका भी निषेध हो जाता है । निषेधका भी निषेध हो जाता है । केवल अपना आपा रह जाता है । निषेध पूर्ण होनेपर 'अहं ब्रह्मास्मि' इस वृत्तिका भी निषेध हो जाता है ।

'एको देवः सर्वभूतेषु गृढः ।'

उसीके विवर्तको ज्योति कहते हैं । सभी ज्योतियोंका समाहार इसी शरीरमें है । जो इसमें नहीं है, वह कहीं नहीं है । नेत्र न हों तो सूर्य-चन्द्र ही न दीखें । त्वचा न हो तो अग्निका स्पर्श ही न हो । ये सब ज्योति हैं । 'ज्योतिषामपि'में इन्द्रियोंको भी ज्योति कहा गया है, क्योंकि वे प्रकाशक हैं ।

रूपको प्रकाशित करनेवाली ज्योति नेत्र, शब्दको प्रकाशित करनेवाली ज्योति कर्ण, गन्धको प्रकाशित करनेवाली ज्योति नासिका, रसको प्रकाशित करनेवाली ज्योति जीभ, स्पर्शको प्रकाशित करनेवाली ज्योति त्वचा, संकल्पको प्रकाशित करनेवाली ज्योति मन है तो विचारको प्रकाशित करनेवाली ज्योति है बुद्धि । जो हमारी इन्द्रियोंके सम्पर्कमें आये, उसीका हमें पता लगता है । इनके सम्पर्कसे बाहरका पता नहीं लगता ।

ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ।

'ज्योतिषाम् इन्द्रियाणामेकं ज्योतिः मनः ।'

ज्योति हैं इन्द्रियाँ : पाँचों इन्द्रियोंकी जो एक ज्योति है, वह मन है ।

'यत् प्रज्ञानमुतैको धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु ।'

'यस्मान्न कृते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ।'

तुम्हारे भीतर एक अमृत ज्योति है । उसे दूसरेपर मत डालो ।

मेरी जन्मभूमिकी ओर मेरे वचनमें प्रथा थी कि मेलेमें जाते तो नाई दर्पण दिखलाता । उसे पैसे-दो पैसे दे देते थे । तुम्हारे समीप यह जो मनका दर्पण है, उसमें दूसरोंका ही मुख देखते हो या कभी अपना मुख भी देखा है ? यह ज्योति एक, अमृत, अविनाशी है ।

'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः' : जिस ज्योतिके बिना दूसरी ज्योति हो नहीं सकती । आप न रहें और मन-इन्द्रियाँ रहें तो उनकी क्या गति होगी ? आप न रहें और ईश्वर सृष्टि करे तो उसका पता किसे होगा ? वेद-पुराण, गुरु-देवता, ईश्वर और सृष्टि सब आपके लिए हैं ।

आपके दर्शनमें सूर्य, स्पर्शमें वायु, श्रवणमें दिशाएँ, आस्वादनमें वरुण

और गन्ध लेनेमें अश्विनीकुमार सहायता कर रहे हैं। आपकी सत्ताके बिना ये असिद्ध हैं।

आकाशमें तारे दिखलायी पड़ते हैं : ये पृथक्-पृथक् हैं, इनके नाम-रूप भी पृथक्-पृथक् हैं; परन्तु इनमें ज्योति एक है। ठीक वैसे ही संसारमें सब प्राणी पृथक्-पृथक् दीखते हैं, उनके नाम-रूप पृथक्-पृथक् हैं; किन्तु उनमें एक अखण्ड ज्योति ही प्रकाशित हो रही है। इस आत्मज्योतिसे ही सबकी सिद्धि होती है। सब इसीके लिए हैं। इसीसे सब निकले हैं और इसीमें सबका लय होता है। यह प्रकाशका भी प्रकाश है।

यह आत्मज्योति नेत्रका भी नेत्र, मनका भी मन और प्राणका भी प्राण है।

लोग कहते हैं : 'जब कुछ नहीं था तो अन्धकार था।'

यह अन्धकार किसे प्रतीत हुआ ? उसे, जिसे विषयकी चमक देखनेका अभ्यास है। जिसने दिन देखा है, उसके लिए रात्रिमें अन्धकार है। अन्धकार-प्रकाशकी कल्पना द्वन्द्वात्मक भौतिक कल्पना है। जब हम सूर्य, चन्द्र, अग्नि-ज्योति देख लेते हैं, तब उनके अभावमें तमस्का दर्शन होता है। जैसे पृथ्वी, जल, वायु आदि तत्त्व हैं, वैसे अन्धकार कोई वस्तु नहीं है।

‘क्रियाश्रयत्वं द्रव्यत्वम् ।’

‘क्रियाका आश्रय होना द्रव्यका लक्षण है।’ यह परिभाषा करके कुछ दार्शनिकोंने कहा : अन्धकारमें काला रूप है और उसमें गति है, अतः वह द्रव्य है। लेकिन अन्धकारमें गति नहीं है। पृथ्वी, चन्द्र, दीपक आदिकी गतिसे अन्धकारमें गति प्रतीत होती है। शरीरके चलनेसे छाया चलती दीखती है। अन्धकारमें क्रिया और गुण दोनों औपाधिक हैं, वास्तविक नहीं।

जिस इन्द्रियसे जिस विषयकी सत्ता सिद्ध होती है, उसी इन्द्रियसे उस विषयका अभाव भी सिद्ध होता है। जिससे प्रपञ्च सिद्ध होता है, उसीसे प्रपञ्चाभाव भी सिद्ध होता है। अन्धकार तुम्हारी सत्तासे सिद्ध होता है। जिसको अन्धकार—सबका अभाव या अज्ञान प्रतीत होता है, वह है या नहीं ?

‘तमसः परमुच्यते । तमसामपि तज्ज्योतिः ।’

वह ज्योति ही तमस्को भी प्रकाशित करती है।

‘ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः किं पुनः तमसाम् ।’

वह ज्योतियोंकी भी ज्योति है। फिर तमस्की ज्योति है, यह कहना ही क्या ?

‘तज् ज्ञेयं तमसः परम् ।’

वह समस्त ज्योतियोंसे भी परे है और तमस्से भी परे है।

आध्यात्मिक ज्योति हैं नेत्र, कर्ण, नासिका, त्वचा, रसना, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकारादि जीवपर्यन्त। आधिदैविक ज्योति हैं इन्द्रादि समस्त देवता

ईश्वरपर्यन्त । आधिभौतिक ज्योति हैं चन्द्र, सूर्य, अग्नि, तिद्युत् आदि । इन समस्त ज्योतियोंका वही प्रकाशक है ।

अध्यात्म-ज्योतिका मूल है जीव । अधिदैव-ज्योतिका मूल है ईश्वर । आधिभौतिक ज्योतिका मूल है विवर्त । जब तक अधिदैव-ज्योति ईश्वर परोक्ष है—अपनेसे भिन्न है, तब तक अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत तीनों सत्य हैं । किन्तु जब अध्यात्म और अधिदैवकी उपाधिका बाध करोगे, तब उपाधि भेदसे भिन्न प्रतीत होती ईश्वर-ज्योति और जीव-ज्योति एक हो जायँगी । तब आधिभौतिक-ज्योति विवर्तमात्र रह जायगी । आधिदैविक एवं आध्यात्मिक-ज्योति तब अप्रतीत हो जायगी । देहसे भिन्न अन्तःकरणकी प्रतीति एवं इन्द्रादि देवोंका अपनेसे भिन्नत्व मिट जायगा । एक अद्वितीय अखण्ड ब्रह्म रहेगा :

‘तमसः परमुच्यते, यज्ज्योतिस्तत्तमः केवलं परमिति उच्यते ।’

वही ज्योति है, वही अन्धकार है । केवल उसे ‘पर’ कहा जाता है ।

अन्धकारमें अन्धकारी और ज्योतिमें ज्योतिष् वह नहीं है । ‘केवल-मुच्यते’ केवल कहा जाता है । अन्धकारमें भटकनेवालोंको भटकनेसे बचानेको कहा तो यह जाता है कि वह परमात्मा ज्योतियोंकी भी ज्योति और तमसे भी परे है ।

‘ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः’ : सूर्य, चन्द्र, तारे, अग्नि, दीपकादि अधिभूत ज्योति हैं । विषयमें भी एक ज्योति होती है । हमारी नेत्र-ज्योति सूर्य, चन्द्र, तारों तक पहुँच नहीं सकती । वे अपनी ज्योतिका विस्तार करते हैं, तब हमारे नेत्र उन्हें देख पाते हैं । नेत्रोंसे दूर राई हो तो नहीं दीखेगी; किन्तु पर्वत दूर होनेपर भी दीखता है । नेत्र ही केवल देखते होते तो राई और पर्वत दोनों दीखते । लेकिन राईका ज्योतिर्मण्डल छोटा है और पर्वतका है बड़ा । अतः राई नहीं दीखी और पर्वत दीख गया । इन विषयोंमें जो ज्योति है वह अधिभूत-ज्योति; वही आत्म-ज्योति ही है ।

अधिदैव-ज्योति वह है जिसकी हम उपासना करते हैं :

‘ऋचो अक्षरे परमं व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।

यस्तन्न वेदं किं ऋचा करिष्यति य इत्थं वेदं त इमे समासते ॥’—ऋग्वेद

सम्पूर्ण वेदोंका प्रतिपाद्य अक्षर अविनाशी परमाकाशमें विराजमान है, जिसमें समस्त इन्द्रियाँ समायी हैं । जो उसको नहीं जानता, श्रुतिके मन्त्र उसका क्या मंगल करेंगे ? जो उसे ऐसा जानता है, उसीमें समस्त श्रुतियोंका निवास है :

‘योऽसावसौ आदित्ये पुरुषः सोऽहमस्मि ।’

आदित्य अधिभूत है; किन्तु यह जो सूर्यमण्डलस्थ पुरुष है, वह अधिदैव है और ‘सोऽहमस्मि’ है अध्यात्म । अध्यात्म तथा अधिदैव एक—अधिभूत बाधित हो गया :

‘ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती
नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः ।’

इसमें सूर्यमण्डल अधिभूत है और नारायण हैं अधिदेव ।

नेत्रेन्द्रिय, इन्द्रियके पीछे मन और मनके पीछे ज्ञाता—यह अध्यात्म है ।
समष्टिमें अध्यात्म ईश्वर है :

विषय करन सुर जीव समेता ।
सकल एक तैं एक सचेता ॥
सबकर परम प्रकासक जोई ।
राम अनादि अवधपति सोई ॥
.. जगत प्रकास्य प्रकासक रामू ।
.. जग पेखन तुम देखनि हारे ।
विधि हरि सम्भु नचावनि हारे ॥

‘ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः’ : ये सब अधिभूत, अधिदेव, अध्यात्म ज्योतियाँ पृथक्-पृथक् उपाधिसे पृथक्-पृथक् भासती हैं । उपाधियोंको पृथक् करके देखें तो निरुपाधिक ज्योति एक ही है ।

‘तमसः परमुच्यते’ : तमस्का अर्थ है प्रकृति, अविद्या-माया । उससे वह परे है ।

किसीने महात्मासे पूछा : ‘ईश्वर कैसा है ?’

महात्मा : ‘जैसा तू है ।’

वह : ‘मैं कैसा हूँ ?’

महात्मा : ‘जैसा ईश्वर है ।’

सोपाधिक चैतन्यको ही विषयका ज्ञान होता है । यही ज्ञानी होता है । कूटस्थ चैतन्य तो शुद्ध चैतन्य है । कूटस्थ चैतन्यसे ब्रह्माका मुख्य सामान्याधिकरण्य है । वह ब्रह्म ही है । ज्ञाता जीवका ब्रह्मसे बाध्य सामान्याधिकरण्य है । ज्ञातृत्वका बाध करनेपर वह ब्रह्म है ।

‘ज्ञानम्’ : ज्ञानमें जड़ता, सत्तामें मृत्यु और आनन्दमें दुःख विवर्त है । तुम दुःखी नहीं होते, तुम आनन्द स्वरूप हो । तुम अज्ञानी नहीं, चित्स्वरूप हो । तुम मरते नहीं, सत्स्वरूप हो । तुम परिच्छिन्न नहीं, अपरिच्छिन्न हो—यह बात श्रुतिने कही :

‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ।’

‘ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यम्’ : एक बड़े विद्वान् संन्यासी थे । २०-३० कमरोंवाले पूरे बड़े भवनमें अकेले रहते थे । नौ से दस बजेतक द्वार खोलते थे । शंकरानन्दी गीता-व्याख्या पढ़ाते थे । मैं उनके यहाँ पहुँचा तो उस दिन यही श्लोक हो रहा था । उनकी गीतामें ‘हृदि सर्वस्य विष्ठितम्’ पाठ था । मैंने बतलाया : यह पाठ ‘विष्ठितम्’ है ।

उन्होंने कहा : ‘कितनी ही प्रतियोंमें ‘विष्ठितम्’ पाठ है और कितनी ही प्रतियोंमें ‘विष्ठितम्’ पाठ ।’

‘हृदि सर्वस्य विशेषेण स्थितं विष्टितम्,
हृदि सर्वस्य अधिष्टितं धिष्टितम्।’

इस प्रकार दोनों पाठ ठीक हैं।

‘ज्ञानम्’ : ज्ञानके अतिरिक्त शेष कल्पना छोड़ दो। ज्ञानके अतिरिक्त न बाहर विषय हैं, न भीतर कल्पना। ज्ञानमें ही बाहर-भीतरका भेद कल्पित है। इस भेदको छोड़ दो तो जो शेष रहता है, वह परमात्मा है।

ज्ञानमें ज्ञानका विषय कुछ नहीं। ज्ञातापनेका अभिमानी कोई नहीं। विषयमें देश-काल-वस्तु सब आ गयी। देशमें दूर-निकट, कालमें भूत-भविष्य-वर्तमान और वस्तुमें ‘यह’ ‘वह’ भेद मत करो। अपनेमें ज्ञाता-ज्ञेयका भेद मत करो : ये सब ज्ञानके ही विलास हैं। ये ज्ञानमें ही स्थित हैं। ज्ञानमें ही लय होते हैं। ज्ञानमें ही उत्पन्न होते हैं। ज्ञानस्वरूप तुम हो।

‘ज्ञानम्’ : यह चित्र दीखता है। यह दृश्य है। इस चित्रका प्रतिबिम्ब जब नेत्रोंमें पड़ता है, तब चित्र दीखता है। नेत्र दृक् हैं। नेत्र हैं—ऐसा प्रतीत होता है। यह मानस-ज्ञान है। इसमें नेत्र दृश्य हैं और मानस दृक् है। मानस ज्ञान होता है, अतः मानस दृश्य है, मैं ज्ञान हूँ। देश, काल, वस्तुका भेद मानसमें भासता है। क्योंकि सुषुप्तिमें यह भेद नहीं भासता। ज्ञान हुआ मैं। इसमें से ही मानस, इन्द्रिय और विषयकी सिद्धि तथा स्थिति है और मैंके रहते ही इनका लय है। अतः ज्ञान शुद्ध है, ज्ञान अद्वय है।

‘ज्ञानं विशुद्धं परमार्थमेकम् अनन्तरं त्ववहिर्ब्रह्म शुद्धम्।’

ज्ञान यही है जिससे घट-पट, स्त्री-पुरुष भास रहे हैं। इसमेंसे घट-पट, स्त्री-पुरुषका बाध करके, मनोवृत्तियोंका अपवाद करके जो शेष रहता है, वही ज्ञानतत्त्व है। इस ज्ञानमेंसे विषयोंको और विषयीपनेको निकाल दो। यह ज्ञान-विषय, इन्द्रिय, मानस, देश-काल वस्तु, माया अविद्यादि किसीसे परिच्छिन्न नहीं होता। यही ज्ञान ब्रह्म है। यही ज्ञान तुम हो।

ज्ञान ही सत्य है : घट-पटादि आकृतियाँ तथा अन्तःकरणकी वृत्तियाँ आदि सब स्फुरणमात्र हैं। ज्ञानके बिना न सत्ता सिद्ध होगी, न असत्ता। ज्ञानके बिना न आनन्द सिद्ध होगा, न दुःख। ज्ञान और अज्ञान भी ज्ञानसे ही सिद्ध होगा। कुछ है या नहीं—यह सन्दिग्ध हो सकता है; किन्तु ज्ञान है या नहीं, यह सन्दिग्ध नहीं हो सकता।

‘ज्ञानं विशुद्धम्’ : ज्ञाता-ज्ञेयके भेदोंसे रहित जो ज्ञान है, वह विशुद्ध ज्ञान ही परमार्थ है। परमार्थका अर्थ है अबाध्य। ज्ञान किसी देश या कालमें नहीं। किसी अवस्थामें ज्ञान विनष्ट नहीं होता। ऐसा ज्ञान ‘एकम्’ अनेक नहीं है। इसमें बाह्याभ्यन्तर नहीं होता। यही ज्ञान शुद्ध ब्रह्म है।

‘ज्ञेयम्’ : जब ज्ञान ऐसा है, तब ज्ञेय क्या है ? ‘ज्ञेयमपि ब्रह्म’ जो ज्ञानका विषय हो रहा है, वह भी ब्रह्म ही है। ज्ञान भी ब्रह्म और ज्ञेय भी ब्रह्म।

‘ज्ञानगम्य’ : यह ब्रह्म केवल ज्ञानसे गम्य है।

‘न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः ।’—श्रुति

‘न कर्मणा’ : जैसे पुण्यकर्मसे, यज्ञादिसे स्वर्ग मिलता है, वैसे यह कर्म-साध्य नहीं है।

‘न प्रजया’ : जैसे सत्पुत्र उत्पन्न होनेसे स्वर्ग मिलता है, वैसे पुत्रके द्वारा यह प्राप्य नहीं।

‘न धनेन’ : जैसे धनसे धर्म करके स्वर्ग मिलता है, वैसे धन-व्यय करके इसे नहीं पाया जा सकता।

‘त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः’ : त्याग—कर्मत्याग, प्रजा-त्याग, धन-त्यागसे ही कोई-कोई अमृतत्वको प्राप्त करते हैं।

वस्तुतः तो परिच्छिन्न अहंताका त्याग होना चाहिए। श्रीशंकरानन्दजी अपनी व्याख्यामें कहते हैं : ‘पहले धर्म, उपासना और योगाभ्यास करो। धर्माचरणसे पापवासना, उपासनासे पुण्यवासना और योगाभ्याससे विक्षेप (चित्तका चाञ्चल्य) मिटेगा। तब विवेक-वैराग्य, शम-दम, उपरति-तितिक्षादि षट्-सम्पत्तिका धारण करके मुमुक्षा जागृत करो। इसके अनन्तर श्रवण-मनन-निदिध्यासन द्वारा पदार्थबोधन करो। इसके अनन्तर महावाक्यसे जो ब्रह्मात्मैक्य-बोधवृत्ति होती है, उसे यहाँ ‘ज्ञानगम्य’ कहा गया है।’

‘एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तं’ : इसके द्वारा पहले बीस साधनोंको ज्ञान कहा था। यहाँ ‘ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं’ से कहा—‘जिसे तुम जानते हो वह और जो जानने-वाला है, वह भी ज्ञान ही है।’ यह बात ‘ज्ञानगम्य’ है अर्थात् अमानित्वादि साधन-सम्पत्तिरूप ज्ञानसे ही यह प्राप्त होगी। उसके बिना इसकी प्राप्ति नहीं होगी।

‘ज्ञानगम्य’ में जो ‘ज्ञान’ है, उस ज्ञानका अर्थ है ‘एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तं’ द्वारा बतलाये गये अमानित्वादि बीस साधन। उनसे सम्पन्न अधिकारी गुरुके समीप गया तो :

‘तत्त्वश्रवणमात्रेण शुद्धबुद्धिनिराकुलः ।’

तत्त्वश्रवण मात्रसे वह शुद्धबुद्धि अधिकारी निराकुल हो गया। स्वरूपमें स्थित हो गया।

‘हृदि सर्वस्य विष्ठितम्’ : यह ज्ञान रहता कहाँ है ? सबके अपने हृदयमें ही बैठा है। ईश्वर हमारे हृदयमें न सोया है, न खड़ा है कि कहीं जानेवाला हो। वह तो आसन लगाकर बैठा है।

उसकी उपलब्धि कहाँ हो ? मुझसे एक सज्जनने पूछा : ‘एक स्त्री ईश्वर-प्राप्तिके लिए तीर्थयात्रा करना चाहती है। उसका पति रोकता है। ऐसी अवस्थामें उसे घर रहना चाहिए या तीर्थयात्रामें जाना चाहिए ?’

मेरा उत्तर है : उसे घर रहना चाहिए, क्योंकि ईश्वर तो अपने हृदयमें है। ईश्वरको ढूँढ़ने-देखनेके लिए बाहर जाना मनकी चञ्चलता है। जो पुम्हारे मनको रोकना चाहता है, उसका उपदेश श्रेष्ठ है :

‘काहे रे बन हूँ बन जाई ।’

यहाँ पति तो गुरुके स्थानपर बैठकर मनका निरोध कर रहा है। अतः मनको रोको।

‘हृदि सर्वस्य विष्टितम् ।’

इसे कसौटी बनाओ कि अपनी इच्छा पूरी करके प्रसन्न होते हो या इच्छाको मिटाकर प्रसन्न होते हो। यदि तुम अपनी वासना पूरी करना चाहते हो तो साधनाके मार्गपर नहीं चलते। यदि वासना मिटानेमें तुम्हारी रुचि है तो तुम साधनाके मार्गपर चल रहे हो।

परमात्माका उपलब्धि-स्थान हृदय है। वहाँ वह ‘स्थित’ नहीं ‘विष्टित’ विशेषण स्थित’ कहा जा रहा है। ईश्वर है तो सर्वत्र; किन्तु उसके मिलनेका स्थान, उसका ड्राइंगरूम हृदय है।

अर्जुनने पूछा : ‘श्रीकृष्ण ! तुम कौन हो ?’

भगवान् बोले : अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः—अर्जुन ! सभी प्राणियोंके हृदयमें स्थित मैं आत्मा हूँ।

वचनमें मैं एकबार सोचने लगा कि ईश्वर हमारे हृदयमें है तो कहाँ, कैसे होगा ? इडा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियोंका त्रिक अनाहत-चक्रको लपेटता ऊपर कण्ठकी ओर जाता है। इस अनाहत-चक्रसे तनिक एक ओर हटकर हृदय है।

मनमें आया—मेरे रक्तमें जो कोटि-कोटि जीवाणु हैं, उनको हृदय होता होगा या नहीं ? उन सब जीवाणुओंके हृदयमें भी तो ईश्वर है। इस प्रकार प्रत्येक अणु-परमाणुमें ईश्वर है।

मान लो कि मेरी अंगुली किसी प्रकार हाथसे कटकर पृथक् हो जाय। पृथक् होनेपर उस अंगुलीका हृदय होगा ? भटसे ‘नहीं होगा’ मत कहो। कटी अंगुली सड़े तो उसमें सैकड़ों कीड़े पड़ेंगे, उनके हृदय होगा ?

मैंने गाँवमें कटा पेड़ देखा है। वृक्षके मध्य जो पकी लकड़ी होती है, उसे उधर ‘हीर’ कहते हैं। यह वृक्षका हृदय है।

‘सर्वभूताशयस्थितः’ : भगवान् कहते हैं कि सभी भूतों, जड़-चेतन सबमें हृदय है और उसमें मैं स्थित हूँ।

‘सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः ।’

मैं सबके हृदयमें सन्निविष्ट, भली प्रकार प्रविष्ट हूँ।

शरीरमें हृदय कहाँ है ?

‘हृत् आहरति विषयेभ्यः संस्कारान् ।’

शरीरके स्थूल अवयव विशेषका नाम हृदय नहीं है। हम जो रूप, स्पर्श, गन्धादि ग्रहण करते हैं उनके संस्कार तथा पत्नी-पुत्र, पिता-माता, शत्रु-मित्र जो देखा, इन्द्रियोंसे जो अनुभव किया, उन सबके संस्कार जहाँ एकत्र होते हैं, वह हृदय है। उसी हृदयमें विद्युत्के समान आभासरूप जीव है।

व्यष्टिकी उपाधिसे आभासरूप जीव है और समष्टिकी उपाधिसे ईश्वर है। व्यष्टि-समष्टि दोनों उपाधियोंका बाध कर देनेपर जो शुद्ध परमात्मा रहेगा,

उसका ज्ञान हो जाय, तब पता लगेगा कि 'ज्ञानं ज्ञेयम्, तदेव ज्ञानम्, तदेव ज्ञान-विषयं ज्ञेयम्'—वही ज्ञान है और वही ज्ञानका विषय ज्ञेय भी है। प्रकाश भी वही है और प्रकाश्य भी वही।

‘प्रज्ञानं ब्रह्म ।’—श्रुति

उपाधिसे पृथक्कृत ज्ञान ही प्रज्ञान है। प्रज्ञान ब्रह्म है। यह ज्ञान देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न है :

‘सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ।’—श्रुति

गीतामें केवल यहाँ परमात्माका नाम 'ज्ञान' कहा गया है। यह क्षेत्रज्ञ आत्मा ही 'ज्ञान' है। यदि आपको अनुभव होता है कि 'यह ज्ञान' अथवा 'वह ज्ञान' तो ऐसा ज्ञान दृश्य होनेसे जड़, विकारी और क्षणिक होगा। अतः यह अनुभूतिका भ्रम होगा। ज्ञानका अनुभव किसीको होगा तो 'मैं'के रूपमें ही होगा। अनुभव यही होगा—'मैं ज्ञानस्वरूप हूँ ।'

आपके शरीरकी इन्द्रियाँ आपको सुख देनेके लिए हैं। नेत्र आपको रूपका सुख देते हैं। स्वयं नेत्र सुख नहीं लेते। यदि नेत्र आपको सुख देनेके लिए हैं तो सूर्य अवश्य आपको सुख देनेके लिए है। इस प्रकार यदि पूरा अध्यात्म—नेत्र, कर्ण, नासिका, त्वचा, रसनादि ज्ञानेन्द्रियाँ; हाथ-पैर, मुख, उपस्थ, गुदा कर्मेन्द्रियाँ तथा मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आपको सुख देनेके लिए हैं तो पूरा ही अधिदैव, उनके सब अधिदेवता आपको सुख देनेके लिए हैं। जब पूरा अधिदैव आपको सुख देनेके लिए है तो पूरा अधिभूत भी आपको सुख देनेके लिए है। इसका अर्थ है कि सारी सृष्टि शेष है और आपकी आत्मा शेषी है। आपकी आत्माके लिए ही सारी सृष्टि है। जैसे पूरा नाटक, नाटकके सब पात्र, पात्रोंको सब वेश-भूषा और चेष्टा, रंगमंचकी सब सजावट केवल दर्शकको प्रसन्न करनेके लिए है, वैसे ही यह सम्पूर्ण सृष्टि-नाटक द्रष्टाको प्रसन्न करनेके लिए है।

‘ज्ञानं ज्ञेयं’ : जो ज्ञान है, वही ज्ञेय है। जो पीनेवाला है, वही अमृत है। देखनेवाला अपने आपको ही देख सकता है : अन्यको नहीं। आप कहते हैं : ‘हम घटको देखते हैं : अतः घटसे पृथक् हैं ।’ लेकिन बात ऐसी नहीं है। आप घटका क्या देखते हैं ? नेत्रोंसे आप घटका रूप देखते हैं। तेजकी सात्त्विक तन्मात्रासे बने नेत्र तेजके तामसरूपको देखते हैं, अर्थात् तेज ही तेजको देखता है। सूर्य, नेत्र और रूप ये तीनों तेज ही हैं। आध्यात्मिक रूपका नाम नेत्र, आधिदैविक रूपका नाम सूर्य तो आधिभौतिक रूपका ही नाम घट-पटादि है।

‘दृग्रूपमाकर्षणं चरित्रं रश्मिं परस्परं सिद्ध्यति यः स्वतः खे ।’—भागवत

दृष्टि, रूप और सूर्य ये तेजके ही तीन रूप हैं। एक इस शरीरमें दृष्टि है, एक आकाशमें सूर्य है, एक बाहर रूप है। ये परस्पर ही सिद्ध होते हैं।

इसी प्रकार नासिका, गन्ध और अश्विनीकुमार ये गन्धके ही सात्त्विक, राजस, तामसरूप हैं। यही दशा प्रत्येक इन्द्रियकी है। ज्ञान सजातीयका हो होता है, विजातीयका नहीं।

जिस वस्तुके साथ ज्ञेयका सम्बन्ध जुड़ता है, वह ज्ञानसे व्याप्य ही होती है। वह ज्ञातासे पृथक् नहीं है। ज्ञानमें ही प्रतीत होती है। मैं ही प्रपञ्चको देखता हूँ, अतः प्रपञ्च भी मेरा ही रूप है। मैं अपने आपको ही देखता हूँ।

‘ज्ञानं ज्ञेयं’ : ज्ञान भी वही, ज्ञेय भी वही। मैं-तुम, यह-वह सब वही है। ऐसा परमात्मा सबके हृदयमें है। वह ज्ञानस्वरूप है। ज्ञेय भी वही है। वह आशयका प्रकाशक ‘ज्ञान’ और ‘ज्ञेय’ आशय तथा आशयमें जितने संस्कार हैं, सब वही है। ‘ज्ञानगम्य’ : लेकिन साधनान्तरमें आस्था होनेसे वह मिल नहीं रहा है। परमात्माकी अप्राप्तिका हेतु कुसंगके अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं है।

‘ज्ञानगम्यम्, ज्ञानेनैव गम्यम्’ : ज्ञानगम्य का अर्थ है कि वह ज्ञानसे ही जाना जाता है।

‘वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।’—गीता

‘अहमेव वेद्यः अन्यो न वेद्यः’—मैं ही जानने योग्य हूँ। दूसरा जानने योग्य नहीं है। यह साध्य है। ‘वेदैरेव वेद्यः’ वेदोंके द्वारा ही जानना चाहिए। अन्य रीतिसे जाना नहीं जायगा। यह साधन है।

‘सर्वैरेव वेदैरहं वेद्यः’ सभी वेदोंसे मैं ही जाना जाता हूँ। यह श्रुतिका परम तात्पर्य बतलाया। ‘अहं वेद्य एव’ : मुझे जानना ही चाहिए। यह हुआ जीवनका परम प्रयोजन।

‘ज्ञानगम्य’ : जो वस्तु जानने मात्रसे मिलती है, वह पहलेसे मिली होती है। गलेमें हार है, यह भूल गये। पलंग देखा, सन्दूक ढूँढ़े, कोना-कोना छान मारा। किसीने पूछा : ‘क्या ढूँढ़ते हो?’

‘हार।’

‘वह तो तुम्हारे गले में ही है।’ अब हार तो प्राप्त ही था। उसकी अप्राप्तिका भ्रम हो गया था, वह भ्रम भिट गया। अज्ञानसे जो अप्राप्त है, वह अप्राप्त नहीं होता।

‘गोदमें वालक नगरभर ढिंढोरा !’

एक मनुष्यने भंग पी और अपने बच्चेको कन्धेपर बैठाकर भीड़में मेला देखने गया। वहाँ वह थोड़ी देरमें चौंका—आगे-पीछे देखा कि बच्चा नहीं है। भंगके नशेमें मेलेभर भटकता फिरा। मुनादिवालेको पैसे दिये। नगरमें वालकके खो जानेकी मुनादी करायी। घर लौटा तो द्वारमें प्रवेश करते समय झुका नहीं। कन्धेपर बैठे वालकको चौखटकी चोट लगी। वह रो पड़ा। वह चौंका—‘अरे, तू मेरे कन्धेपर है?’

‘ज्ञानगम्य’ : जो वस्तु अन्य होती है वह जानने मात्रसे नहीं मिलती। घड़ीको जान लें तो क्या घड़ी मिल जायगी? हम जानते हैं कि पृथ्वीमें कहाँ कौन-से देश हैं तो क्या वे हमें मिल जाते हैं? जाननेसे जो वस्तु मिलती है, वह अपना आत्मा है। आत्माको जाननेपर कुछ करना नहीं पड़ता। ‘ज्ञानगम्य’ अपना आत्मा ही है। वह नित्य-प्राप्त है। आत्माको जाननेपर कुछ करना नहीं। उसके लिए साधनान्तरकी आवश्यकता नहीं है।

★

० संगति

अब इस प्रसङ्गका भगवान् उपसंहार करते हैं। इस अध्यायमें पहले 'प्रतिज्ञोपनिषद्' आयी—'तत्समासेन मे शृणु' तक। उसके पश्चात् 'क्षेत्रोपनिषद्' है—'एतद्व्येत्रं समासेन।' फिर 'ज्ञानोपनिषद्'में ज्ञानके बीस साधन बतलाये। उसके पश्चात् 'क्षेत्रज्ञ-ब्रह्मैक्योपनिषद्' चल रही थी, जिसका अब उपसंहार करते हैं। इस श्लोकके पश्चात् अध्यायके अन्त तक 'प्रकृति-पुरुष-विवेकोपनिषद्' है :

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयं चोक्तं समासतः ।

मद्भक्त एतद् विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥ १८ ॥

इस प्रकार क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेयका संक्षिप्त वर्णन कर दिया। मेरा भक्त इसे जानकर मेरे भावको प्राप्त हो जाता है।

१. 'महाभूतान्यहंकार' आदि द्वारा क्षेत्रका वर्णन किया।

२. 'एतद् यो वेत्ति' से क्षेत्रज्ञको बतलाया।

३. 'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि' के द्वारा क्षेत्रज्ञसे परमात्माकी एकता बतलायी।

४. 'विद्धि' : इससे बोध कहा।

इस प्रकार चार बातें बतलायी गयीं। क्षेत्र मिलता नहीं है। क्षेत्रमें जो अपनेसे पृथक्ताकी भ्रान्ति है, वह बाधित हो जाती है। अविद्या भी बाधित ही होती है।

'एतद् विज्ञाय' : मनुष्य-जीवन व्यर्थ गया, यदि परमार्थ सत्यको नहीं जाना :

'उपर्युपरि सञ्चरन्तो न विन्देयुस्तमर्थम्।'—छा० ८।३।२

एक दरिद्र मनुष्यके घरमें उसके पूर्वजों द्वारा गाड़ा गया धन था। वह उस धनके ऊपर ही चलता था; किन्तु उसे जानता नहीं था। इसीलिए दरिद्रताका दुःख भोग रहा था।

'नीहारेण प्रावृत्ता जल्प्याः उक्त्यशासः चरति।'—श्रुति

तुम्हारी बुद्धिपर कुहरा छाया है। केवल श्रम कर रहे हो। भीतरके सत्यको तुम नहीं जानने :

'एतद् विदुः त इमे समासते।'—श्रुति

जिन्होंने उसे जान लिया, वे निश्चित हो गये।

'तम आसीत् तमसा गूढमग्रे।'—ऋग्वेद

इस तमस्में छिपे हो। इस तमस्का ही आवरण है। इस तमस्को तुम देख रहे हो। अतः 'तमसः परमुच्यते'—तुम इस तमस्के परे हो।

'आविः सन्निहितं गुहाचरं नाम।'—श्रुति

इसी हृदय-गुहामें निरतिशय निकट आविः = वह स्वयंप्रकाश है—हृदि सर्वस्य विष्टितम्।

'ज्ञानं' : इस तमस्का जो साक्षी है, वह ज्ञान है। यह ज्ञान निरूपपद है। इसके पास कोई पद नहीं है। जैसे घटज्ञान, पटज्ञानमें घट, पट ये पद ज्ञानसे सम्बद्ध हैं, वैसे यह ज्ञान पदयुक्त नहीं है। ईश्वरज्ञान-ब्रह्मज्ञान जैसा पद भी इसमें नहीं है; क्योंकि ब्रह्मका ज्ञान नहीं होता, ज्ञान ही ब्रह्म है। परिच्छिन्न ज्ञान—देशज्ञान, कालज्ञान, वस्तुज्ञानको निवृत्त करनेके लिए, इनसे विलक्षणता सूचित करनेके लिए ज्ञानके साथ ब्रह्म शब्द लगाते हैं। वह ज्ञान क्या है?

अवेद्यत्वे सति अपरोक्षत्वम्।

अवेद्य होते हुए भी वह अपरोक्ष है। शब्द, स्पर्श आदि विषयोंके समान; इन्द्रिय, मन, बुद्धिके समान या जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिके समान वह कभी वेद्य नहीं होता। वह भास्य नहीं है, अतः प्रत्यक्ष नहीं है। किन्तु परोक्ष भी नहीं है। अतः अपरोक्ष है। इसका अर्थ है कि यह ज्ञान न जगत् है, न ईश्वर। यह अपना आत्मा ही है और आत्मा वेद्य नहीं होता।

'तमसः परमुच्यते' : इसे तमस्से परे कहा जाता है। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति सब तमस्के कार्य हैं। अपने स्वरूपके अज्ञानसे ही अपनेमें ये अवस्थाएँ तथा प्रपञ्च प्रतीत होता है। अपना स्वरूप इनसे परे है।

'ज्ञानं' : देहमें ज्ञान हो तो वह दैहिक होगा। भौतिकवादी वैज्ञानिक एवं चार्वाकादि दैहिक ज्ञानी हैं।

कालके भीतर ज्ञान हो तो वह क्षणिक होगा। बौद्ध ज्ञान ऐसा ही है।

देशके भीतर ज्ञान हो तो वह ऊपर-नीचे जानेवाला होगा। आर्हत ज्ञान इसी कोटिका है।

वस्तुतः ज्ञान देश, काल, वस्तुसे परिच्छिन्न नहीं है। ज्ञानमें देश, काल, वस्तु कल्पित हैं।

'ज्ञेयं' : यह शुद्ध ज्ञान ही मनुष्य-जीवनमें ज्ञेय या जानने योग्य है। श्रीगौड़पादाचार्यने मनुष्य-जीवनमें तीन बातोंपर ध्यान देनेको कहा है :

हेयज्ञेयाप्यपाकयानि विज्ञेयान्यग्रयाणतः।

तेषामन्यत्र विज्ञेयादुपलभ्यस्त्रिषु स्मृतः॥—मा० का० १०

हेय : काम-क्रोधादि दोष, अनात्मामें आत्मबुद्धिको सोचो। 'महाभूतान्यहंकार' आदिसे जिस क्षेत्रका वर्णन किया गया है, उस क्षेत्रमें जो आत्मबुद्धि है वह भ्रम है। यह भ्रम ही सब दोषोंका बीज है। यह भ्रम और इस भ्रमके जो पोषक हैं, वे हेय हैं।

आप्य : अमानित्व, अदम्भित्व आदि जो बीस सद्गुण बताये गये, उन्हें प्राप्त करो । उन्हें पचाओ—जीवनका अंग बनाओ ।

एक युवक विदेश जाने लगा तो उसने मातासे प्रार्थना की : 'मेरेलिए कुछ उपदेश-आदेश करो ।'

माताने कहा : 'तीन बातें करना : १. हलवा-पूड़ी खाना । २. पलंगपर सोना और ३. किलेमें रहना ।'

पुत्र बोला : 'माँ ! मैं तो दरिद्र हूँ । प्रतिदिन हलवा-पूड़ी मुझे कहाँ मिल पायेगी ?'

माता : 'क्षुधा लगनेपर खाओगे तो जो कुछ खाओगे, वही हलवा-पूड़ीके समान सुस्वादु लगेगा ।'

पुत्र : 'मैं विदेश जा रहा हूँ । प्रतिदिन सोनेको पलंग कहाँ पाऊँगा ?'

माता : दिनभर श्रम करोगे तो कंकड़ोंपर भी वैसी ही निद्रा आयेगी, जैसी पलंगपर आती है ।'

पुत्र : 'यह तो ठीक; किन्तु किलेमें ही रहूँ, यह व्यवस्था कैसे होगी ?'

माता : 'यह सबसे आवश्यक है । सत्पुरुषोंके ही संगमें रहना । सत्संग किला है । उसमें रहोगे तो काम-क्रोधादि शत्रु तुम्हारा स्पर्श नहीं कर सकेंगे ।'

शरीरमें कुछ दोष ऐसे होते हैं कि उन्हें छोड़ पाना सम्भव नहीं होता । उन्हें पचाना पड़ता है । उन्हें पाच्य कहते हैं । हेय वे हैं, जिन्हें छोड़ ही देना चाहिए ।

हेय हैं—'इच्छा द्वेषः सुखं-दुःखम् ।'

विवेच्य हैं—'महाभूतान्यहंकार...' ।

पाच्य हैं—क्षुधा-तृषादि ।

'ज्ञेय' : तुम त्याग करते हो तो किसके लिए ? यह विवेक करते हैं कि जीवनका उद्देश्य क्या है ?

मुझे कई बार दिग्भ्रम हुआ है । स्टेशनसे मेरा घर नौ मीलपर था । कई बारका ज्ञात मार्ग था । एकबार रात्रिमें ट्रेनसे उतरा, घर चला तो दिग्भ्रम हो गया । जिस मोड़पर पूर्व घूमना था, मैं पश्चिम घूम गया । १५-२० मिनट पीछे लगा कि यह तो वह मेरा पहचाना मार्ग नहीं है । अब यह जानना आवश्यक हो गया कि इस समय मैं कहाँ हूँ । वहीं बैठ गया और सोचने लगा । कुछ पता नहीं था । एक दीपक थोड़ी दूर दिखलायी पड़ा । वहाँ गया और पूछा । पता लगा कि अपने मार्गसे मैं तीन मील दूर भटक गया हूँ ।

मार्ग भूल जाना न बड़ी बात है, न बुरी बात । किन्तु मार्ग भूल गये हैं, यह जब पता लगे तब उसी मार्गपर बढ़ते मत जाओ । रुको और यह जानना आवश्यक मानो कि इस समय तुम हो कहाँ ? अपनी स्थिति जानना आवश्यक है । ज्ञेयको जानो ।

'ज्ञानगम्य' : ये 'अमानित्व अदम्भित्व' आदि साधन आप्य हैं । इन्हें प्राप्त करना पड़ता है । ज्ञेय ब्रह्म है । उसका स्वरूप है ज्ञान ।

‘समासतः’ : संक्षिप्त वर्णन किया गया। विस्तृत वर्णन तो श्रुति-शास्त्र पुराणोंमें है ही।

‘मद्भक्त’ : प्रश्न यह है कि तुम भक्त हो या नहीं ? भक्तिका अर्थ है प्यास, जिज्ञासा।

मैं जब ‘कल्याण’ के सम्पादन-विभागमें गोरखपुर रहता था, तब एक-बार बाढ़पीड़ितोंकी सहायताके कार्यमें गया। हम कई लोग नौकामें बैठे थे। चारों ओर जल ही जल था। हम प्रतीक्षा करने लगे कि कोई गाँव मिले तो वहाँ कुएँसे निकालकर पानी पीयें। चारों ओर बाढ़का गूँदला जल भरा था। घण्टेभर नौका चलाते रहे, कोई गाँव नहीं मिला। आखिर मैंने वही, बाढ़का पानी अञ्जलीमें भरकर पिया। बड़ी तृप्ति मिली।

तुममें जिज्ञासा प्रबल नहीं है, अतः तुम्हें शब्दामृतका स्वाद नहीं मिल पाता।

‘मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।’—गीता १०।१३

भगवान् कहते हैं : मुझमें अनन्य योगवाली अव्यभिचारिणी भक्ति होनी चाहिए।

‘मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।’—गीता १४।२६

यहाँ ‘मद्भक्त’का अर्थ है विवेकी। एक ओर संसार है और दूसरी ओर भगवान्। भगवान् जैसे रण-निमन्त्रण देने गये अर्जुनसे पूछा था : ‘एक ओर एक अक्षौहिणी सशस्त्र नारायणी सेना रहेगी और दूसरी ओर शस्त्रहीन मैं रहूँगा। तुम्हें दोनोंमेंसे क्या लेना है ?’

इसी प्रकार एक ओर संसार है, तो दूसरी ओर भगवान्। इसमें जो भगवान्को चाहता है, वह है : ‘मद्भक्त’।

यह जो परमार्थके प्रति प्यास—सच्ची जिज्ञासा है, उससे ‘एतद् विज्ञाय’ इस तत्त्वका ज्ञान होता है, उससे।

‘मद्भावायोपपद्यते’ : उस ज्ञानसे भगवत्प्राप्ति होती है।

परमात्मा इस समय नहीं, तो या तो वह अभी तक उत्पन्न ही नहीं हुआ अथवा उत्पन्न होकर मर गया। किन्तु ऐसा नहीं, परमात्मा इसी समय है।

परमात्मा यहीं नहीं है तो कहीं और गया होगा—देश परिच्छिन्न होगा। लेकिन परमात्मा सर्वव्यापक है, अतः यहीं हैं।

परमात्मा यह नहीं है तो यह वस्तु परमात्मासे भिन्न है। तब परमात्मा व्यापक नहीं है। लेकिन परमात्मा व्यापक है, अतः यह परमात्मा ही है।

इस प्रकार परमात्मा अभी, यहीं और इसी रूपमें हैं। तब वह दीखता क्यों नहीं ?

दीखता इसलिए नहीं, कि हमारी दृष्टि ‘यह’-‘वह’की कल्पनामें उलझी है। यह कल्पना अज्ञानके कारण है। इसलिए जो कुछ अज्ञान-निवृत्तिका साधन होगा, वही परमात्माकी प्राप्तिका भी साधन होगा। अज्ञानकी निवृत्ति केवल ज्ञानसे होती है।

२०१]

[गीताका तेरहवाँ अध्याय

स्वामी रामतर्कजीने एक दृष्टान्त दिया है : किसी पर्वतमें एक भयानक गहरी गुफा थी। उसके द्वारपर कोई अनशन कर रहा था, कोई हवन कर रहा था, कोई जप या ध्यान कर रहा था। कुछ लोग प्राणायाममें लगे थे, कुछ पूजा कर रहे थे। किसीने उनसे पूछा : 'आप सब यह विविध साधनाएँ क्यों कर रहे हैं ?'

उनमें एकने उत्तर दिया : 'गुफामें जो अन्धकार है, वह राक्षस है। हम उसे भगाना चाहते हैं।'

पूछनेवाले महात्माने कहा : 'अन्धकार दूर करनेके ये उपाय नहीं हैं। लकड़ी एकत्र करके उनको जलाओ और जलती लकड़ी हाथमें लेकर मेरे साथ गुफामें चलो।'

महात्मा आगे हुए तो सब साथ चलनेके लिए प्रस्तुत हो गये। जलती लकड़ियोंका प्रकाश गुफामें पहुँचा तो उसमें जो सर्प, बिच्छू तथा भेड़िये थे सब भाग निकले। इस प्रकार अन्धकार दूर करनेका उपाय है प्रकाश करना।

'चरं चाचरमेव च' : वह परमात्मा ही चर भी है और अचर भी। उस सर्वरूपकी प्राप्तिमें प्रतिबन्धक अज्ञान ही है और वह केवल ज्ञानसे निवृत्त होता है :

'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।'

'अयनाय = परमात्मनः प्राप्तये अन्यः पन्था न विद्यते।'

परमात्माकी प्राप्तिके लिए दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

'इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं' आदि जो क्षेत्र बताया उसे सविकार कहा। उस क्षेत्रसे तादात्म्य करोगे तो कभी रागसे तादात्म्य होगा, कभी द्वेषसे। राग, सुखसे तादात्म्य होगा तो स्वर्गानुभव होगा और द्वेष, दुःखसे तादात्म्य होगा तो नरकानुभाव होगा। यह सविकार क्षेत्र सुख-दुःख दोनोंका अनुभव करानेवाला है।

इसी क्षेत्रका एक दूसरा रूप भी है। जब हम क्षेत्रको विकारकी ओर अग्रसर न करके निर्विकारताकी ओर अग्रसर करते हैं, तब हममें अमानित्व, अदम्भित्व आदि आते हैं। विवेककालमें ये अमानित्वादि भी क्षेत्र ही हैं; किन्तु इनसे हम परमात्मस्वरूपके ज्ञानके अधिकारी होते हैं। अविद्यानिवृत्ति तो तत्त्वज्ञानसे ही होती है और तत्त्वज्ञान अनुभाव्य भी नहीं होता :

'स्वयमेवानुभूतित्वाद् विद्यते नानुभाविता।'

स्वामी विद्यारण्यजीने कहा कि स्वयं अनुभूति होनेके कारण उसमें अनुभाविता नहीं है। अनुभाविता और अनुभाव्यका भेद उसमें नहीं, वह अनुभव-स्वरूप है।

'मद्भक्ति' : इस परमात्मज्ञानका अधिकारी कौन ? इसके उत्तरमें भगवान् ने कहा—मद्भक्त।

परमात्मा अद्वय है। उसकी अप्राप्ति जब कल्पित है तो उसके लिए अधिकारी भी कल्पित, साधन भी कल्पित और अनुभूति भी कल्पित होना आवश्यक है। अधिकारीके सम्बन्धमें भगवान् शङ्कराचार्य कहते हैं :

‘अस्मिन् सम्यग्-दर्शने कोऽधिक्रियते इत्युच्यते मद्भक्तः । मयि ईश्वरे सर्वज्ञे परमगुरौ समर्पितसर्वात्मभावो यत् पश्यति शृणोति स्पृशति वा, सर्वमेव भगवान् वासुदेवः इत्येवं ग्रहाविष्टबुद्धिः मद्भक्तः ।’

इस सम्यक्-दर्शनका अधिकारी कौन है ? इस सम्बन्धमें कहते हैं—‘मद्भक्त’ मुझ ईश्वर, सर्वज्ञ, परमगुरुमें समर्पित सर्वात्मभाव । जो कुछ देखता, सुनता अथवा छूता है सब भगवान् वासुदेव ही हैं, इस प्रकार की जिसकी ग्रहाविष्टके समान बुद्धि है, वह मद्भक्त है ।

ये आजके वेदान्ती लोग रुपया, दूकान, मकान, स्त्री-पुरुष, पुत्र-मित्रमें तो मिथ्यात्व-निश्चय नहीं करते जो बाधक हैं, जिनमें फँसे हैं । सबसे पहली चोट उनकी भक्ति, पूजापाठ, मालापर होती है । इन्हींमें पहले मिथ्यात्व-निश्चय करते हैं । जो छुड़ानेवाले साधन हैं, उनके ही मिथ्यात्वका निश्चय कर लेते हैं । ऐसी बुद्धि धन्य है !

एक विवाह था । उसमें लड़की कानी थी । कन्यापक्षके नाईके मनमें वेचैनी थी । वह वरपक्षके नाईको यह बात बतला देना चाहता था । पहले बोलना किसी प्रकार ठीक नहीं था । जब भाँवरें पड़ चुकीं तो वह बोल उठा :

‘जितलस रे वर कानी ।’

वरपक्षवालोंने दूल्हेको गोदमें उठाकर भाँवरे फेरी थीं । कन्यापक्षके नाईकी बात सुनकर वरपक्षका नाई बोला :

‘बर ठाढ़ होय तब जानी ।’

अर्थात् ‘तुम्हीं लोग चतुर नहीं, हम लोग भी चतुर हैं । यदि कन्या कानी है तो वर खड़े होनेमें भी असमर्थ, पंगु है ।’

ये बुद्धिमान् लोग पहले साधनको ही मिथ्या कर देते हैं । अतः जो प्रतिबन्ध, विघ्न ये सब बने रहते हैं । यदि प्रतिबन्धकी निवृत्ति नहीं हुई और साधनमें मिथ्याबुद्धि हो गयी तो भला लक्ष्यकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ? बाधकको निवृत्त करके साधन मिथ्या होता है । रसोई बनाकर अग्नि बुझायी जाती है ।

एक स्थानपर कुछ लोग यात्रामें रुके । दलके मुख्य पुरुषने कहा : ‘सामान लाओ, रोटी बनाओ; किन्तु देखो, आज वायु तेज है । रोटी बनाकर अग्नि बुझा देना । अग्नि जलती नहीं छोड़ना ।’

जिसे रोटी बनानी था, वह बोला : ‘जब अन्तमें अग्नि बुझा ही देना है, तब जलायें ही क्यों ?’

पर इस प्रकार तो सबको भूखा रहना पड़ेगा । ऐसे ही जबतक हृदयमें राग-द्वेष हैं, तबतक जिज्ञासाका उदय नहीं होगा । राग-द्वेष आकृतिनिष्ठ होते हैं,

तत्त्वनिष्ठ नहीं। किसी नाम-रूपके प्रति राग होता है तो किसी नाम-रूपके प्रति द्वेष। मनमें जबतक राग-द्वेष हैं, तबतक बुद्धि आकृतिग्रहणशीला है, तत्त्वग्रहणशीला नहीं। बुद्धिके इस आकृति-ग्रहणस्वभावको दूर करना आवश्यक है। इसके लिए उसे ईश्वरमें सर्वात्मभावसे समर्पित कर दो।

ईश्वर-विश्वास आचारदोषका निवर्तक है। वासना-निवृत्तिके लिए ईश्वर-भक्ति आवश्यक है। ईश्वर पर विश्वास हो तो सांसारिक योग-क्षेमकी चिन्ता छूट जायगी। परमार्थ है संसारका विवेक। यह विवेक चाहते हो तो ईश्वरका विचार करो।

वेदान्ती होकर अपनेको कर्ता माने तो मूर्ख है। 'मैं अकर्ता और दूसरे सब अज्ञानी, कर्ता हैं' ऐसा मानना द्विगुणित मूर्खता है। एक ओर अपनेको द्रष्टा जान संसारसे पृथक् हो जाना तो इसमें एक ही विवेक है :

‘असङ्गस्य ससङ्गेन कूटस्थस्य विकारिणा ।

आत्मनो नात्मना योगो वास्तवेनोपपद्यते ॥’

असंगका ससंगसे, कूटस्थका विकारीसे, आत्माका अनात्मासे योग वास्तवमें हो नहीं सकता।

आत्मा असंग द्रष्टा है तो ससंग इन्द्रियादिसे उसका योग सम्भव नहीं। कूटस्थका विकारी जगत्, इन्द्रियादिसे योग नहीं। यह तो ठीक; किन्तु जिसे तुमने ससंग, विकारी, अनात्मा कहकर त्याग दिया, वह क्या है? उसके ज्ञानके बिना ज्ञान अपूर्ण रहेगा। अतः समष्टि अनात्मा, समष्टि विकारी, समष्टि ससंगकी उपाधिसे ईश्वरका विचार करके 'तत्'-पदार्थका शोधन कर लो।

वही कारणोपाधिसे उपहित चैतन्य सबके अन्तःकरणमें स्थित, सबका नियन्ता, सबका ज्ञानज्ञाता है। वही ऐश्वर्यशाली, सर्वसमर्थ है। उसके प्रति सर्वात्मभावसे समर्पण करो। सर्वात्मभाव क्या है?

‘सकलमिदमहं च वासुदेवः ।’

यह सब और मैं भी वासुदेव ही हूँ। ऐसे आग्रहसे अपनी बुद्धिको आविष्ट कर लो।

कोई कुछ कहे, कुछ करे, कुछ भोगे, तुम दूसरोंकी चिन्ता क्यों करते हो? 'सब वासुदेव हैं' ऐसी बुद्धि हो गयी तो संसारसे राग-द्वेष चला गया। पापकर्म तथा वासना छूट गयी। कर्तृत्व, भोक्तृत्वकी निवृत्ति हो गयी। यह भक्ति है। यह अन्तमें पदार्थशोधन कर, 'तत्' पदार्थ और 'त्वं' पदार्थशोधन कर दोनोंकी उपाधिका निरास कर एकत्वका ज्ञान करा देती है :

‘मद्भावायोपपद्यते’—‘मद्भावः = परमात्मभावः, तस्मै मद्भावाय उपपद्यते, मोक्षं गच्छति ।’

मद्भाव अर्थात् परमात्मभावको प्राप्त होता है। तात्पर्य यह कि मुक्त हो जाता है।

‘मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।

स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥’—१४।२६

जो अव्यभिचारिणी भक्तिसे मेरा सेवन करता है, वह इन गुणोंको पार करके ब्रह्मभूत हो जाता है ।

इस श्लोकमें ‘ब्रह्मभूयाय कल्पते’ से जो बात कही गयी, वही बात ‘मद्भावायोपपद्यते’ से कही गयी है ।

‘एतद् विज्ञाय’ : इसमें ‘एतद्’ और ‘अहं’ ये दो विभाग करो । ‘अहं एतन्न’ मैं यह देह, अन्तःकरण और इनका बीज भी नहीं हूँ । मैं व्यष्टि और समष्टि दोनोंमें ‘यह’ नहीं हूँ ।

भेद पाँच प्रकारका होता है : १. जगत्-जगत्का भेद । २. जगत्-जीवका भेद । ३. जीव-जीवका भेद । ४. जगत्-ईश्वरका भेद । ५. जीव-ईश्वरका भेद । ये सब भेद दृश्य हैं । द्रष्टा इनसे पृथक् है ।

पहला पद साधनका है कि क्षेत्र से क्षेत्रज्ञका विवेक किया जाय । दूसरा पद है, परमात्मासे क्षेत्रज्ञका एकत्व किया जाय । तब ‘एतद्’ का अस्तित्व ही लुप्त हो जायगा । हृदयाकाशमें रहनेवाले जीव और महाकाशमें रहनेवाले ईश्वरको एक तो करो । ऐसा करनेवाला, इस प्रपञ्चसे जो पृथक् हो चुका है वह, मद्भूत ‘मद्भावायोपपद्यते’—मेरे भावको प्राप्त हो जाता है ।



० संगति

जड़-कारणवादमें सत्ता सवीज, संस्कारयुक्त होती है। संस्कारके अनुसार उसमें अंकुर, परिणाम होते हैं। चेतन सवीज नहीं होता। चेतन बीजका साक्षी होता है। प्रकृति बीजवती होती है। वृत्ति होगी तो चेतन होगा और बिना वृत्तिके किसीका अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। 'घटः अस्ति, पटः अस्ति' ये वृत्तियाँ चेतनसे अनुगत ही होती हैं। अतः सत्तासे चैतन्य सिद्ध नहीं होता, चैतन्यसे सत्ता सिद्ध होती है। चैतन्यसे पृथक् सत्ता होगी तो वह विषय होगी।

चैतन्य अनेकाकार हो जाय तो उसकी अनेकताका साक्षी कौन होगा? अतः चैतन्य परिणामी या विकारी नहीं होता। ऐसी अवस्थामें प्रकृति-माया प्रतीतिमात्र होती हैं। जड़ सत्तामें जो अनेकता होगी, उसे प्रकृति कहेंगे। चेतनसत्तामें जो अनेकता होगी, उसे माया कहेंगे।

‘मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम् ।’—श्वेताश्व० ४।१०

मायाको प्रकृति समझो और जिसकी माया है, उसे महेश्वर जानो।

अब इस प्रकृति और पुरुषका विवेक गीतामें आरम्भ करते हैं; क्योंकि ‘मद्भावाद्योपपद्यते’ के लिए विवेक आवश्यक है।

पुरुषका शोधन कर लिया जाय—उसे प्रकृतिसे विलक्षण रूपमें जान लिया जाय तो यह भोक्ता पुरुष नहीं है, आसक्त पुरुष नहीं है, सदसद्योनिमें जन्मवान् भी नहीं है, यह बात समझ में आ जाय। यह पता लग जाय कि यही ‘उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः’ है और इसी देहमें रहता है। इस पुरुषको परमात्मा कैसे समझा जाय, यह प्रक्रिया भगवान् प्रारम्भ कर रहे हैं :

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।

विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥ १९ ॥

प्रकृति और पुरुष दोनोंको अनादि समझो। (इनमें) विकारों और गुणोंको प्रकृतिसे उत्पन्न जानो।

‘इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते ।’—बृहदा० २।५।१९

परमात्मा मायासे नानारूप बनता है।

‘मायाभासेन जीवेशौ करोति ।’—श्रुति

माया आभासके द्वारा जीव और ईश्वरका भेद करती है।

स्वप्नमें स्वप्नसृष्टि और उसमें जीव ये निद्रादोषसे ही होते हैं। इसी प्रकार अपने स्वरूप ब्रह्ममें ये प्रकृति-पुरुष मायादोषसे ही प्रतीत होते हैं।

माया दर्शकको मोहित करती है, दिखानेवाले को मोहित नहीं करती। माया आश्रय-व्यामोहिका नहीं होती। अविद्या जिसमें रहती है, उसीको मोहित करती है। जिसमें अज्ञान है, वही अज्ञानी है। इसीसे मायापति महेश्वर माया-मुग्ध नहीं होता। लेकिन अविद्याश्रय जीव अविद्यासे व्यामुग्ध हो जाता है। अतः तुम अपनेको ईश्वरसे भिन्ना दो, तब तुम्हें कोई व्यामोह नहीं होगा।

‘तथा मत्स्यादिरूपाणि धत्ते जह्याद्यथा नटः ।’—भागवत

एक ही नट कभी एक स्त्रीका पिता, कभी पति, कभी भाई बनकर रंगमञ्चपर आये तो क्या उसे कोई मोह होता है ? इसी प्रकार मत्स्यादिरूप धारण करके भी ईश्वरको मोह नहीं होता ।

‘प्रकृति’ : प्रकृति दो प्रकारकी है : १. परा और २. अपरा । जड़प्रकृति अपरा प्रकृति है ।

‘भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।

अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥’—गीता ७।४

भगवान्ने कहा : भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार इस अष्टधा रूपमें व्यक्त यह मेरी प्रकृति है ।

यह अपरा, जड़ प्रकृति है । इसी प्रकृतिसे सम्बद्ध जीवको आभासवादकी दृष्टिसे चिदाभास कहते हैं ।

‘अपरेऽयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।

जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥’—गीता ७।५

महाबाहु अर्जुन ! यह अष्टधा तो अपरा प्रकृति है और इससे विलक्षण परा प्रकृति जीव है, जिसके द्वारा यह जगत् धारण किया जाता है । अविवेकके कारण अपरा जड़ प्रकृतिसे जो संश्लिष्ट है, वह जीव ही परा प्रकृति है ।

‘पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।’—गीता १३।२१

यह पुरुष प्रकृतिसे ही तादात्म्यापन्न होकर प्रकृतिके गुणोंका उपभोग करता है । इसी पुरुष-प्रकृति-संयोगसे सारी सृष्टि है । पुरुष भी दो प्रकारके होते हैं : १. अविवेकी और २. विवेकी या ब्रह्मज्ञानी ।

‘विद्ध्यनादी उभावपि ।’

प्रकृति और पुरुष दोनोंको अनादि समझो । वेदान्त-मतमें कहते हैं :

‘षडस्माकमनादयः ।’

हम लोग ६ अनादि मानते हैं : १. शुद्ध चेतन, २. माया, ३. वेद, ४. जीव, ५. अज्ञान और ६. इनका सम्बन्ध ।

अनादि दो प्रकारके होते हैं : १. परमार्थ सत्य और २. विवेकके लिए कल्पित अनादि । ब्रह्म परमार्थ सत्य अनादि है । उससे भिन्न सब कल्पित अनादि हैं । कल्पित अनादि होनेसे कोई नित्य नहीं होता । आकाश अनादि है तो उसमें दीखनेवाली नीलिमा भी अनादि है । किन्तु आकाश सत्य है और नीलिमा सत्य नहीं है, कल्पित है, मिथ्या है; क्योंकि नीलिमा अपने अधिष्ठान आकाशका ठीक-ठीक ज्ञान होनेसे बाधित हो जाती है ।

यहाँ पुरुषसे अज्ञानी, ज्ञानी दोनोंका ग्रहण इसलिए करना चाहिए कि पुरुषके भोक्तृत्वका वर्णन है । यह परा प्रकृतिरूप पुरुषका वर्णन है । यह अच्छी-बुरी योनियोंमें जन्म लेनेवाला, अन्तःकरण एवं उसके गुणोंमें आसक्तिके कारण अविवेकी है । प्रकृतिमें स्थित हो, प्रकृतिसे तादात्म्यापन्न होकर ही पुरुष प्रकृतिजन्य गुणोंका भोक्ता होता है । शुद्ध पुरुषका वर्णन भिन्न है :

‘उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।’

एक शुद्ध पुरुष है और एक भोक्ता पुरुष है। एक प्रकृति है और एक प्रकृति-सम्भव विकार, गुण हैं।

पञ्च महाभूत, दस इन्द्रियाँ, एक मन, पाँच विषय (तन्मात्रा) और तीन गुण ये प्रकृति के कार्य हैं।

‘पुरुषः परः’ : कहकर जब एक परपुरुषका वर्णन है, तो दूसरा अपर पुरुष हुआ। यह अपर पुरुष ही भोक्ता है और पर पुरुष द्रष्टा।

सृष्टिसे पूर्व सब परमात्मा ही था। सृष्टिका लय होने पर परमात्मा ही रहेगा। अतः सृष्टि अपने रूपमें भी परमात्मा ही है। घट बननेसे पूर्व मिट्टी थी। घट फूटने पर मिट्टी शेष रहेगी। अतः घटरूपमें भी मिट्टी ही है।

‘देहेऽस्मिन्’ : इसी देहमें यही परमात्मा है। तब क्या घटमें जलके समान इस देहमें परमात्मा है ?

ऐसा नहीं है।

तब क्या परमात्मा समुद्र जैसा और देह बूंद जैसी है ?

नहीं। परमात्मामें देहका भ्रम है। इसी देहमें यह पुरुष मायाके कार्यसे सर्वथा रहित है। वह देहका अधिष्ठान है। वही सत्य है। सत्य वही होता है जो अधिष्ठान का ज्ञान होनेपर भी उसमें उपलब्ध हो।

‘विकारांश्च’ : भासमान प्रकृति-माया है।’

‘निमित्तोपादानेऽपि कृतिर्यस्याः प्रकृष्टा।’

निमित्तोपादान होनेपर भी जिसकी कृति प्रकष्ट, है वह प्रकृति है।

जादूके खेलमें पुत्र दिखलानेके लिए न उसके माता-पिताकी आवश्यकता है, न पञ्चभूतोंकी। जादूमें वस्तु रूपान्तरित होती ही नहीं, रूपान्तरित रूपमें भासती है।

ब्रह्माजी सृष्टि करते हैं तो जीवोंका कर्म देखकर उसके अनुसार अपने संकल्पसे सृष्टि करते हैं। ब्रह्माको सृष्टि करनेके लिए कर्ता जीव, जीवके कर्म तथा पञ्चभूत चाहिए। ईश्वरको यह सब—जीव, कर्म, पञ्चभूतादि कुछ नहीं चाहिए।

अनन्तको हम इन्द्रियों और मनसे देखते हैं। मन-इन्द्रियोंकी शक्ति सीमित है, अतः अनन्तमें अतात्त्विक वस्तु दीखती है, जैसे कि सीमित नेत्रशक्तिसे आकाश देखनेपर आकाशमें नीलिमा दीखती है। ब्रह्ममें माया नहीं है। हम जो देह-इन्द्रिय-मनमें बैठकर परमात्म-दर्शनका प्रयत्न करते हैं, असीमको सीमामें लेनेके उस प्रयत्नका दोष है कि ब्रह्म हमें प्रपञ्चके रूपमें दीख रहा है। अनन्तको सीमितसे देखनेका दोष यह है कि चेतन जड़, अनन्त सान्त, अजन्मा जन्मवान्, एक अनेक और अपरिणामी परिणामी दीखता है।

‘प्रकृतिम्’ : जैसे चना वस्तु है, उसका विशेष स्वाद उसकी प्रकृति है। ऐसे ही गेहूँ-चावलकी अपनी-अपनी प्रकृति है। लेकिन चने, गेहूँ, चावलको पृथक् करके ढूँढ़ें तो क्या प्रकृति मिलेगी ? नहीं; क्योंकि वस्तुसे पृथक् उसकी प्रकृति नहीं होती।

जलकी प्रकृति है द्रवत्व । उसे जमा दो तो फिर पिघल जायगा । अग्निकी प्रकृति है उष्णता । वायुकी प्रकृति है स्पर्श कराना । आकाशकी प्रकृति है शब्दका वहन करना ।

व्यक्तियोंकी प्रकृति भी भिन्न-भिन्न होती है । स्त्री सोम-प्रकृति है और पुरुष सूर्य-प्रकृति । पुरुषकी प्रकृति त्यागप्रधान है तो स्त्रीकी प्रकृति तपःप्रधान । स्वभाव प्रकृति है और स्वरूप पुरुष । इसमें शरीरका प्राधान्य नहीं है । शरीर तो स्त्री-पुरुष दोनोंका ही प्राकृतिक विकार है ।

नेत्रकी प्रकृति है रूपको प्रकाशित करना । रूपका ज्ञान, यह स्वरूप है । यह ज्ञान नेत्र, कर्णादिमें एक ही रहता है । इस ज्ञानका स्वभाव या प्रकृति है कि जिससे मिले, उसके अनुसार भासित हो । नेत्रसे मिला तो रूप बनकर और कर्णसे मिला तो शब्द बनकर भासित हुआ ।

प्रकृति पुरुषसे सर्वथा पृथक् नहीं होती । जो जिसकी प्रकृति है, वह उसके बिना सिद्ध नहीं होती । नेत्रके सम्बन्धसे पुरुषमें रूपका आरोप हुआ । रूप और नेत्रकी सिद्धि परस्पराश्रित है । दोनोंका यौगपद्य है । अतः न रूप तत्त्व है, न नेत्र तत्त्व । तत्त्व वह ज्ञान है जिससे दोनोंकी सिद्धि होती है । नेत्रकी उपाधि और रूप विषयको छोड़कर जो ज्ञान रहता है, वह तत्त्व है । इसी प्रकार बुद्धि और बोद्धव्य, मन और मन्तव्य भी प्रकृति हैं । ये सब द्वन्द्व हैं । इन सब द्वन्द्वात्मक वस्तुओंसे तादात्म्य करके तुम अपनेको परिच्छिन्न मान रहे हो ।

अनन्तकी प्रकृति है सम्पूर्ण न देखना । स्वयंप्रकाशकी प्रकृति है देखना, प्रकाशित करना । अतः वह अपने आपको ही देखता है, किन्तु अनन्त होनेके कारण सम्पूर्ण तो देख नहीं सकता । अतः अनन्त सान्त और एक अनेक दीखता है । आपकी प्रत्यक्ता ही पराक् दीख रही है । यह अन्तःकरणरूपी दर्पणकी विशेषता है ।

‘अनादिम्’ : अनादि-अनन्त या कारण-कार्य होना सत्यत्वका लक्षण नहीं । जो अधिष्ठानज्ञानसे वाधित हो जाय, वह मिथ्या है । स्वप्नमें भगवान् विष्णुका दर्शन हुआ । भगवान् विष्णु अनादि, नित्य लगे । जागनेपर पता लगा कि वह मूर्ति तो मनके संस्कारसे उत्पन्न हुई थी ।

‘प्रकृतिम्’ : वेदान्तमें प्रकृतिको अव्याकृत कहते हैं । यह सांख्यकी प्रकृतिके समान नहीं है । चित्स्वरूप अधिष्ठानमें जो संस्कारमूलक बीजत्व व्यवहार देखकर कल्पित किया गया है, उसका नाम प्रकृति है । उसीको माया कहते हैं । प्रकारभेदका जो मूल हेतु है, उसका नाम है प्रकृति ।

‘पुरुषम्’ : प्रकृतिके समस्त प्रकारभेदोंके मूलमें अधिष्ठानरूपसे, व्यापकरूपसे विद्यमान चेतनका नाम है पुरुष । इन दोनोंका द्वैत अनादि है ।

‘विकारांश्च’ : विकार हैं पञ्चभूत, इन्द्रिय, मन और विषय तथा बीजसे जितने अङ्कुर निकलते हैं वे । ये सब प्रकृतिसे उत्पन्न हैं ।

‘गुणांश्चैव’ : सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण प्रकृतिसे उत्पन्न हैं । सब सात्त्विक, राजस और तामस सदगुण एवं दुर्गुण प्रकृतिसे ही उत्पन्न होते हैं ।

● संगति

“प्रकृति और पुरुषको अनादि बतलाकर और यह कहकर कि विकार तथा गुण प्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं, अब प्रकृति तथा पुरुषकी स्थिति बतलाते हैं कि किन बातोंमें प्रकृति कारण है तथा किनमें पुरुष ? :

कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।

पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ २० ॥

कार्य, कारण और कर्तृत्वमें प्रकृति हेतु कही जाती है और सुख-दुःखके भोगमें पुरुष हेतु कहा जाता है ।

कार्य अर्थात् देहादि । करण = बाह्यकरण इन्द्रियाँ और अन्तःकरण मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार तथा कर्तृत्व—इनमें हेतु प्रकृति कही जाती है ।

पुरुषमें कर्तापन कर्मेन्द्रियोंकी उपाधिसे आता है । हाथकी उपाधिसे कर्तापन, पादकी उपाधिसे गन्तापन तथा ज्ञानेन्द्रियोंकी उपाधिसे ज्ञातापन आता है । मनकी उपाधिसे आनुकूल्य-प्रातिकूल्य, शत्रु-मित्र आदिका ज्ञातापन आता है । बुद्धिकी उपाधिसे धर्माधर्मका ज्ञातापन आता है । चित्तकी उपाधिसे स्मर्तापन तथा अहंकारकी उपाधिसे अहंता आती है ।

व्याधि स्थूलदेहमें, आधि सूक्ष्मदेहमें तथा समाधि कारणदेहमें होती है । ये तीनों उपाधिमें होती हैं । यह सब आकृति, विकृति, संस्कृति प्रकृतिमें कल्पित हैं ।

‘भोक्तृत्वे हेतुः’ अविविक्त चैतन्य ही भोक्ता है । ‘अहं सुखी, अहं दुःखी’ यही सुख-दुःखके भोगका स्वरूप है ।

‘सुष्टूनि शोभनानि खानि इन्द्रियाणि यस्मिन् तत्सुखम् ।’

जिसमें इन्द्रियाँ सुष्टु या शोभन रहें, उसका नाम है सुख ।

‘दुष्टानि खानि इन्द्रियाणि यस्मिन् तद् दुःखम् ।’

जिसमें इन्द्रियाँ दुष्ट या विकृत हो जायँ, वह दुःख है ।

अथवा

‘सुष्टून् शोभनान् संस्कारान् स्खलति इति सुखम् ।’

जिससे शोभन संस्कार बनते हैं, वह है सुख ।

‘दुष्टान् संस्कारान् स्खलति इति दुःखम् ।’

जिससे दुष्ट या विकृत संस्कार बनते हैं, वह है दुःख ।

अनुभव-प्रणालीकी यह विशेषता है कि संसारमें सुखका पूरा निमित्त होनेपर भी सो जानेपर सुखानुभव नहीं होता । किन्तु दुःखीसे दुःखी व्यक्ति भी सो जाय तो उसे विश्रामके सुखका अनुभव होगा । क्योंकि—

‘सुखमस्यात्मनो रूपम् ।’

सुख तो इस आत्माका अपना स्वरूप है । अतः सुख आत्मगामी है और दुःख केवल मनोगामी । सुख भीतरसे बाहर आता है और दुःख बाहरसे

भीतर जाता है। दुःखको आप बाहरसे मोल लेते हैं। आत्माकी विद्यमानता ही सुख है। ये सुख-दुःख भोक्ताके होते हैं।

जबतक पुरुष अज्ञात है, तबतक उसकी संज्ञा पुरुष है। जब ज्ञात हो जाता है, तब उसकी संज्ञा ब्रह्म हो जाती है। अज्ञात ब्रह्म ही पुरुष है।

जबतक साधिष्ठान प्रकृतिका ज्ञान नहीं है, तबतक उसका नाम प्रकृति है। साधिष्ठान प्रकृतिका ज्ञान होनेपर उसका नाम 'प्रतीति' हो जाता है।

‘ज्ञाताधिष्ठाना प्रकृतिः प्रतीतिरिति उच्यते ।’

जबतक अधिष्ठानका ज्ञान नहीं था, तबतक सर्प था। अधिष्ठानज्ञान होनेपर वह रज्जु है। इसी प्रकार पुरुष और प्रकृति दोनों आविद्यक स्थितिमें कल्पित हैं। इनमें विकार, गुण, कार्यकारणभाव सब आविद्यक दशामें ही कल्पित हैं।

‘कार्यकरणकर्तृत्वे’ : कार्य शरीर, करण इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि, इनके कर्तृत्वमें अर्थात् कार्य-कारणकार परिणाममें हेतु प्रकृति है।

‘उच्यते अध्यारोप्यते ।’

प्रकृति वस्तुतः न है, न किसीमें हेतु है। वह कही जाती है—अध्यारोपित की जाती है। जबतक अपनी अपरिच्छिन्नताका बोध नहीं है, तब तक प्रकृति सत्य है।

‘पुरुष’ : जैसे चतुष्कोण लौहखण्डको अग्निसे लाल किया तो लौहखण्डका चतुष्कोणत्व अग्निपर आरोपित हो गया और चतुष्कोण लौहखण्ड पर अग्नित्वारोप हो गया। वस्तुतः अग्निमें कोणत्व नहीं है और लौहखण्ड में दाहकत्व। इसीका नाम परस्पराध्यास है। देहकी परिच्छिन्नताका आरोप आत्मामें और आत्माकी चेतनताका आरोप देहमें हो गया है। इसी परस्पराध्यासके कारण पुरुष सुख-दुःखके भोगमें हेतु है।

आत्माकी प्रधानतासे भोग होता है। कार्य-करण पृथक्-पृथक् होते हैं; किन्तु इनका भोक्ता एक ही होता है।

‘योऽहं चक्षुर्भ्यामद्राक्षं सोऽहं श्रोत्राभ्यां शृणोमि ।’

जो मैं नेत्रोंसे देखता हूँ, वही मैं कानोंसे सुनता हूँ।

प्रकृति नेत्र, कर्ण आदि अनेकरूपा बनी है; किन्तु पुरुष एक ही है :

‘चेतयामि अहं सुखदुःखादीनुपलभे ।’

मैं ही शरीरको चेतन बनाता हूँ और मैं ही सुख-दुःखादि उपलब्ध करता हूँ।

‘यदिह कार्यकरणसुखदुःखस्वरूपहेतुफलात्मना प्रकृतिर्न परिणमेत तदा पुरुषः किमुपलभेत ? अनुपलब्धा वा प्रकृतिः कुत्र उपयुज्येत ?’

यदि कार्य-करण, सुख-दुःखस्वरूप हेतु प्रकृति परिणामको न प्राप्त होती तो पुरुष क्या उपलब्ध करता ? अथवा इसका उपलब्ध करनेवाला पुरुष ही न होता तो प्रकृतिका उपयोग क्या होता ? वह किसके काम आती ?

‘तस्मादुपलभ्योपलब्धसंयोगः संसारकारणम् ।’ —नीलकण्ठी व्याख्या
इसलिए उपलभ्य और उपलब्धाका संयोग ही संसारका कारण है। ★

• संगति

...पुरुष सुख-दुःखके भोतृत्वमें हेतु है तो सदा हेतु बना रहेगा। फिर तो सुख-दुःख-भोगसे उसका छुटकारा ही नहीं होगा? ऐसी आशङ्काको दूर करनेके लिए कहते हैं कि पुरुष स्वभावसे सुख-दुःखके भोगमें हेतु नहीं है। यह बात उसमें अघ्यासजन्य है :

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।

कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ २१ ॥

पुरुष प्रकृतिमें स्थित है, अतः प्रकृतिके गुणोंका भोग करता है। इसके सत् या असत् योनिमें जन्मका कारण गुणोंका यह सङ्ग ही है।

‘प्रकृतिस्थो हि’ : यह मजा भूलेपर बैठनेका है। प्रकृतिमें स्थित होकर मन-बुद्धि-इन्द्रियोंसे, देहसे तादात्म्य करके पुरुष प्रकृतिके गुणोंका भोक्ता, सुख-दुःखका भोक्ता बन गया है। अन्यथा ‘पुरुषः परः’ यह पुरुष तो सुख-दुःख तथा प्रकृतिसे परे है।

गाँवोंमें पहले इस बातकी निन्दा होती थी कि ‘अमुककी बेटी या अमुककी बहू जब देखो तब द्वारपर खड़ी या बैठी रहती है।’ इसे उसके अनाचारिणी होनेका लक्षण माना जाता था। शरीरमें ये नेत्र, कर्ण, नासिका, रसना, त्वचा, मन और बुद्धि खिड़कियाँ हैं। इनपर बैठे रहना कोई भली बात नहीं है। इनपर कबतक बैठे रहोगे? जब आकर तुम दूसरेके, प्रकृतिके घरमें बैठ गये, तो वह जो देगी, भोजन करना पड़ेगा।

संन्यासी होनेके पूर्व मैं ‘कल्याण’-परिवारमें था। वहाँ (गोरखपुर) से एकबार श्री उड़ियाबाबाजी महाराजके समीप कर्णवास गया। बाबाने सुनाया : ‘एक महात्मा लंगोटी मात्र रखता था। बड़ा विरक्त था। शिक्षा माँगकर पेट भर लेता और वनमें रहता।’

एक दिन मौज आयी तो नगरमें गया और पुकारने लगा : ‘कहीं कब्र है, कब्र?’

लोग उसे पागल समझने लगे। एक समझदार सद्गृहस्थ आये और बोले : ‘कहीं मुर्दा है?’

‘यह मुर्दा है!’—उस महात्माने अपने शरीरकी ओर संकेत करके कहा।

गृहस्थने अपने घरकी ओर संकेत किया : ‘यह कब्र है।’

महात्मा उस घरमें रहने लगे। वे मौन रहते थे। समयपर उन्हें भोजन मिल जाता था। उन्हें बारह वर्ष उस घरमें रहते हो गये तो एक रात्रि चोर आये। घरके लोग सो रहे थे; किन्तु महात्मा जाग रहे थे। चोरोंने घरका सब माल बाँधा और चल पड़े।

महात्माके मनमें आया : 'मैं इस गृहस्थके घर बारह वर्षसे सेवा ले रहा हूँ। मेरे देखते इसका धन चला जाय, यह ठीक नहीं है।'

अपना मौनव्रत तो उन्होंने नहीं तोड़ा। चुपचाप चोरोंके पीछे लग गये। चोरोंने ले जाकर सब धन एक सूखे कुँएमें डाल दिया। महात्मा देखकर लौट आये। प्रातःकाल घरवालोंको संकेतसे ले जाकर उन्होंने वह कुआँ दिखा दिया। सब धन मिल गया। इसके पश्चात् गृहस्थने पूछा : 'कब्र सच्ची या मुर्दा ?'

महात्मा बोल पड़ा : 'कब्र सच्ची, मुर्दा भूठा।'

उसी दिन वे वहाँसे चले गये। विरक्त पुरुष भी किसी एकके घर रहने लगता है तो उसकी ओर मनका झुकाव होता ही है। यह पुरुष प्रकृतिके घरमें रहने लगा है। रहते-रहते अपने असंग रूपको भूल गया।

'मैं कर्ता हूँ, मैंने यह किया है। मैं लम्बा या नाटा, काला या गोरा, दुबला या मोटा हूँ' ये सब कल्पनाएँ पुरुषने प्रकृतिसे तादात्म्य करके ग्रहण की हैं। कर्ता हाथ है, पर मैं अपनेको कर्ता मानता हूँ।

'अहं करोमीति वृथाभिमानः।'

'मैं करनेवाला हूँ' यह अभिमान व्यर्थ है। शरीरमें उष्णता न हो, रक्त न दौड़े, श्वास लेनेके लिए वायु न हो तो आप कुछ कर सकते हैं? समष्टिसे पृथक् होकर व्यक्ति कैसे काम कर सकता है? समष्टिके अनुग्रहसे ही काम होता है। समष्टिके अनुग्रहके बिना कोई अंगुलितक नहीं हिला सकता। अतः ईश्वरको भूलकर 'मैंने यह किया' यह अहंकार सर्वथा भ्रम है।

आप कहते हैं : 'हमारे मनमें आयेगा सो करेंगे।' आपकी बात ठीक है। अब यह बता दीजिये कि 'आपके मनमें एक घण्टे बाद क्या आयेगा ?'

'यह पता नहीं।'

'तब एक अज्ञात दिशासे, एक अज्ञात प्रेरणा आयेगी और वह आपसे अपने अनुसार कर्म करायेगी। इसमें 'मैं करूँगा' यह अभिमान व्यर्थ है या नहीं ?'

मनुष्य भ्रान्त समाचार सुनकर भी सुखी-दुःखी होता है। सुख-दुःख मनका खेल है।

गीतामें यहाँ सांख्यमतका प्रतिपादन नहीं है। सांख्यमतमें पुरुष स्वयं भोक्ता है। लेकिन यहाँ कहा जा रहा है कि पुरुष प्रकृतिस्थ होकर ही भोक्ता है।

'पुरुषो भोक्ता न भवति, भोक्तृत्वे हेतुर्भवति।'

प्रकृतिः कर्त्री न भवति, कर्तृत्वे हेतुर्भवति ॥'

पुरुष भोक्ता नहीं होता, भोक्तृत्वमें कारण होता है। प्रकृति कर्त्री नहीं होती, कर्तृत्वमें कारण होती है।

'कर्तृत्वभोक्तृत्वलक्षणः संसारः।'

कर्तृत्व और भोक्तृत्व ही संसारका लक्षण है।

जब ज्ञान हो जायगा तब संसारसे मुक्त हो जायँगे। इस मुक्त होनेके विषयमें अज्ञानीकी कल्पना है कि ज्ञान होनेपर हमारे सामने पृथिवी, समुद्र,

पर्वत, प्राणी आदि कुछ नहीं होगा। लेकिन पृथिवी, समुद्रादिका नाम संसार नहीं है। कर्तापन और भोक्तापनका नाम संसार है। कर्तापन-भोक्तापनके अभावका नाम मोक्ष है। यह कर्तापन-भोक्तापनका अभाव ज्ञानसे होता है। ज्ञानसे दृश्यका विनाश नहीं होता।

कर्तृत्व-लक्षण है प्रकृति और भोक्तृत्व-लक्षण है पुरुष। इस पुरुष-प्रकृतिके अध्यास-लक्षण सम्बन्धके कारण अपनेमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व आरोपित हैं।

कोई-कोई इन्द्र स्वर्गका भोग करते हुए भी मुक्त होते हैं। धर्मराज नरकका शासन करते हुए मुक्त हैं। ब्रह्मा सृष्टि करते हुए, विष्णु पालन करते हुए और रुद्र संहार करते हुए भी मुक्त हैं। अपना स्वरूप तो मुक्त ही है। किन्तु प्रकृति कभी शान्त, कभी घोर तो कभी मूढ़ होती है। प्रकृतिसे तादात्म्य करके 'मैं शान्त, मैं चञ्चल, मैं मूढ़' ऐसा मानता हूँ।

प्रकाश अन्तःकरणका सात्त्विक परिणाम है, चञ्चलता राजस परिणाम और मोह तामस परिणाम। ये सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण तुम्हारी मुट्ठीमें नहीं हैं। आकाशमें कब आँधी आये, कब न आये—यह किसीके वशमें है? जब तुम अपने स्वरूपको न जानकर प्रकृतिसे, केवल प्रतीतिसे तादात्म्य कर लेते हो तब 'भुङ्क्ते प्रकृतिज्ञानं गुणान्'—प्रकृतिके गुणोंका भोग करते हो। प्रकृति जो देती है, भोगना पड़ता है।

'कारणं गुणसङ्गोऽस्य' : न तो प्रकृतिमें पुरुषको बाँधनेकी सामर्थ्य है और न पुरुषमें प्रकृतिके साथ बन्धनकी ही योग्यता है। पुरुष ज्ञानमात्र होनेके कारण प्रकृतिके साथ बँध नहीं सकता। प्रकृति जड़, दृश्य, परिवर्तनशील होनेके कारण पुरुषको बाँध नहीं सकती। तब यह बन्धन क्या है? पुरुषके चित्तमें जो गुण-संग है—'हमें यह मिलना चाहिए, हमें यह नहीं मिलना चाहिए!' यही बन्धन है।

एक मनुष्यके मनमें आता है—'हमें ऐसा ही वस्त्र पहनना है।' वैसा वस्त्र तो इतने रुपयेमें आता है, तब इतने रुपये कमाना चाहिए। इतने रुपये ईमानदारीसे शीघ्र एकत्र नहीं होते तो बेईमानी, चोरी करो और फिर पकड़े गये तो कारागार।

जब आग्रह होता है 'ऐसा ही भोग मिले' तब बन्धन होता है। 'ऐसा ही भोजन, ऐसे ही वस्त्र, ऐसा ही भवन, ऐसी ही साज-सज्जा प्राप्त हो' यह आग्रह ही बन्धन है!

माता-पिताको अपने पुत्र-पुत्रीमें दोष नहीं दीखते। दूसरोंके लड़के-लड़कियोंमें, परिवारमें दोष दीखते हैं।' यही गुणोंमें आसक्ति है। यही बन्धन है। शरीरको अमुक प्रकारसे रखने और चित्तको अमुक प्रकारसे रखनेका आग्रह ही दुःखका हेतु है।

'दुःख न आये' यह आग्रह ही दुःखका हेतु है। 'नींद नहीं आती' इस चिन्ताके कारण कुछ लोगोंको नींद नहीं आती। एक सम्पन्न पुरुष दुःखी दीखे। उनके पास लाखों रुपये हैं; किन्तु वे दुःखी इसीलिए थे कि पहले करोड़पति थे,

अब केवल लखपति हैं। पहले 'मन ऐसा था, तन ऐसा था, धन ऐसा था, परिवार ऐसा था' यह सोच-सोचकर लोग दुःखी रहते हैं अथवा 'ऐसा हो जाय' इस चिन्तामें दुःखी रहते हैं।

जब हम संसारमें कोई आग्रह कर लेते हैं—'यह ऐसा ही होना या रहना चाहिए' तब दुःखको बुलाते हैं। 'दूसरोंकी हानि हो या लाभ, हमारा यह हो'—विषयका यह आग्रह, 'हमारी इन्द्रियोंमें शक्ति बनी रहे' यह आग्रह, 'अभीष्ट भोग मिलता रहे' यह आग्रह संसारी पुरुषोंको होता है। साधकका आग्रह और होता है—'हमारी वृत्ति इष्टाकार ही रहे।' ये आग्रह सदा पूरे नहीं हो सकते, अतः पुरुष दुःखी होता है।

जिसने प्रकृतिपर छोड़ दिया कि 'जो होना हो, वह हो' वही सुखी है। जैसे सिनेमाके पर्देपर दृश्य परिवर्तित होते रहते हैं—वहाँ हास्य-रुदन, निन्दा-प्रशंसा चलती रहती है; किन्तु दर्शकको सबमें देखनेका सुख है, वैसे ही संसारके द्रष्टा बने रहनेमें ही सुख है।

'हमारी यह वृत्ति बनी रहे' ऐसा तुम्हारा आग्रह है। वृत्ति कैसे बनी रहेगी? नींद नहीं आयेगी? प्रकृतिका स्वभाव ही है कि कभी शान्त, कभी विक्षिप्त तो कभी मूढ होती है। इसमें कभी स्मृति आती है तो कभी विस्मृति। प्रतीतिको नियन्त्रित करके रखना चाहता है, वस्तुतः वही अज्ञानी है। जो प्रतीतिका नियन्त्रण भी प्रातीतिक है और नियन्ता भी प्रातीतिक। जब प्रतीति सत्य ही नहीं, तो उसका क्या नियन्त्रण और क्या नियन्ता, दोनों प्रतीतिमात्र हैं।

कारणं गुणसङ्गोऽस्य : जब समस्त शरीरोंमें एक ही आत्मा है तो जैसे ज्ञानी मुक्त होता है, वैसे ही अज्ञानी भी मुक्त क्यों नहीं होता? अथवा जैसे अज्ञानी बद्ध होता है, ज्ञानी भी बद्ध क्यों नहीं होता?

इसका उत्तर है कि शरीरमें रहनामात्र बन्धनका कारण नहीं है। आविद्यक आसक्ति बन्धनका कारण है।

'सदसद्योनिजन्मसु' : कभी तुमने गीधको अच्छा समझा था, तो तुम गीध हुए। कभी तुमने सोचा था, 'गीधको मांस-भक्षणकी स्वतन्त्रता उत्तम है।'।

कभी तुमने शत्रुको मारनेके लिए सर्प होना पसन्द किया था—इसलिए तुम सर्प हुए।

तुम अपनी जिह्वाके डंकसे शब्दका विष दूसरोंके कानमें डालकर सन्तुष्ट होते रहे हो, इसलिए तुम्हें बिच्छू होना पड़ा। जब तुम मनुष्य रहते सर्प या बिच्छूका धर्म अपना लेते हो, तब तुम्हें वह योनि प्राप्त हो तो आश्चर्य क्या?

सद्योनि देवतादि हैं तो असद्योनि दानव, पशु-पक्षी, कीट-पतंगादि हैं। सदसद्-मिश्रयोनि मनुष्य हैं। इसमें जन्मका कारण है तत्तत् विषयोंमें आसक्ति। वस्तुतः पुरुष सदसद् योनियोंमें जानेवाली वस्तु नहीं है। पुरुष किसी योनिमें आवद्ध नहीं होता। किसी योनिमें उसे आवद्ध करनेकी सामर्थ्य भी नहीं है।

एक सुपठित सभ्य नगरवासी एकबार आदिवासियोंकी भोपड़ीके चक्कर काटते देखा गया। वह वहाँ क्यों चक्कर काटता था ? एक आदिवासी लड़कीमें उसकी आसक्ति हो गयी थी। न वह वहाँ मँडराने योग्य था, न वह भोपड़ी उसे पचा सकती थी। इसी प्रकार ये आत्मदेव जहाँ-जहाँ आसक्ति कर लेते हैं, वहाँ-वहाँ चक्कर काटते हैं। ये न वहाँ चक्कर काटने योग्य हैं, न ये विषय इनको पचा सकते हैं। लेकिन ये अपनी ही आसक्तिसे विवश हैं। आसक्ति ही इन्हें अच्छी-बुरी योनियोंमें ले जानेवाली है।

‘उपाध्यसंस्पृष्टत्वम् ईश्वरत्वम् ।’

उपाधिसे, प्रतीतिसे संश्लिष्ट न होना, उपाधिमें आसक्त न होना ही ईश्वरत्व है। और उपाधिसे संश्लिष्ट हो जाना ही जीवका लक्षण है।

‘पुरुषः प्रकृतिस्थो हि’ : प्रकृतिस्थ अर्थात् देहस्थ, देहसे तादात्म्यापन्न होकर ही पुरुष प्रकृतिके गुणोंका भोक्ता बनता है। ज्ञानी और अज्ञानी दोनों ही शरीरधारी होते हैं। दोनों भोक्ता होते हैं। ज्ञानी भी मुखसे खाता है, पैरसे चलता है, लेकिन एक अन्तर है :

नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।

पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन् अश्नन् गच्छन् स्वपन् श्वसन् ।’—गीता ५।८

तत्त्ववेत्ता पुरुष देखते हुए, सुनते हुए, छूते हुए, सूँघते हुए, खाते हुए, चलते हुए, सोते हुए श्वास लेते हुए अर्थात् सब काम करते हुए भी ‘मैं कुछ भी नहीं करता’ ऐसा मानता है।

बचपनमें मैंने गाँवमें एक व्यक्तिको प्रेताविष्ट देखा। उस समय उसे मारा-पीटा जाता तो प्रेत चिल्लाता : मुझे मत मारो !’

प्रेत भगानेवाला कहता : ‘अब कभी मत आना ।’

जबतक प्रेत उस शरीरसे तादात्म्यापन्न रहता, तबतक सारी चोट उसीपर पड़ती थी। लोहेको अग्निमें तपाकर दाग लगाते थे। लाल मिर्च अग्निमें डालकर धुआं देते थे। जिसका शरीर था, उसे कुछ पता नहीं लगता था। होशमें आनेपर उसे कुछ स्मरण नहीं रहता था।

इसी प्रकार आत्मदेव जबतक देहसे तादात्म्य करके बैठे हैं, तबतक देहके रोग-शोक, देहके सम्बन्धी, देहका मानापमान इनका अपना बन गया है। देहसे सम्बन्ध छूटा तो देहके भोग भी छूट गये।

‘अविद्वानिव विद्वानपि ।’

अज्ञानीके समान ज्ञानी भी देहमें ही रहता है; किन्तु अज्ञानी देहको ‘मैं-मेरा’ मानकर बँधा है। देहासक्त होनेके कारण सदसद्-योनियोंमें जन्म पाता है पर तत्त्वज्ञानीको यह भ्रम नहीं है कि ‘मैं देह में हूँ अथवा देह मेरी है।’ इसलिए वह मुक्त है।



● संगति

... अज्ञानीकी ही भाँति ज्ञानी भी देहमें ही रहता है, दैहिक व्यवहार करता है, खाता-पीता, चलता-बैठता, जागता-सोता है। किन्तु वह सदसद्बोनिमें जन्म नहीं लेता। ऐसा क्यों होता है ? भगवान् बताते हैं :

उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।

परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥२२॥

इस देहमें ही उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता महेश्वर रहता है। वह परपुरुष परमात्मा भी कहा गया है।

‘अस्मिन् देहे वर्तमानोऽपि पुरुषः परो भवति ।’

इस देहमें रहते हुए भी पुरुष इस देहसे परे हो जाता है। अथवा—

‘अस्मिन् देहे वर्तमानः परः शुद्धः पुरुषः निरुपाधिकत्वात् स एव परमात्मा इति चाप्युक्तः ।’

इस देहमें रहते हुए जो पर शुद्ध पुरुष है, निरुपाधिक होनेके कारण उसी-को उपनिषदोंमें परमात्मा कहा गया है।

‘अस्मिन् देहे वर्तमानः पुरुषः देहो न भवति, देहात् परो भवति ।’

इस देह में रहते हुए भी पुरुष देह नहीं हो जाता, देहसे परे रहता है। यह विवेकदृष्टि है।

‘दिह् उपचये’ : देहका अर्थ है ढेर। यह शरीर कूड़ेका ढेर है। संसारमें जितनी अपवित्रता है, सब देहसे निकलती है। शरीरसे रक्त, स्वेद, बाल, नख, श्लेष्म, मल-मूत्र, हड्डी, चर्म जो भी निकले, सब अपवित्र होते हैं। इस शरीरको ‘मैं’ मानना, अपनेको गन्दगीका ढेर मानना है। इस विश्वमें सबसे बड़ा पवित्र वह है।

‘असंस्पृष्टः शरीरेण येन विश्वमिदं ततम् ।’

जिसने शरीरका स्पर्श नहीं किया है; किन्तु जिसके द्वारा विश्व व्याप्त है, वह है आत्मा।

शरीरमें अर्थाध्यास और संसर्गाध्यास दोनों होता है। ‘शरीर ही मैं हूँ’ यह अर्थाध्यास है। ‘शरीर मेरा है’ यह संसर्गाध्यास है।

‘देहेऽस्मिन् पुरुषः परः’—भगवान् कहते हैं : ‘मनुष्यो ! तुम इसी शरीरमें परमात्माको पहचानो !’

‘पुरुषः परः’—यह पुरुषोत्तम है। व्याकरणमें ‘वह जा रहा है’ यह अन्य पुरुष है। ‘तुम जा रहे हो’ यह मध्यम पुरुष है और ‘मैं जा रहा हूँ’ यह उत्तम पुरुष है। पुरुषोत्तम अर्थात् उत्तमपुरुष ‘अहं’ है।

२१७]

[गीताका तेरहवाँ अध्याय]

‘उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।’ —गीता १५।१७

‘यत् क्षरं भवति तदपि अन्यत्, यदक्षरं भवति तदपि अन्यत्, अहमुभयोः साक्षी उत्तमः पुरुषः ।’

जो क्षर है, वह भी अन्य है और जो अक्षर है, वह भी अन्य । मैं दोनोंका साक्षी उत्तम पुरुष हूँ ।

यही बात यहाँ ‘देहेऽस्मिन् पुरुषः परः’ द्वारा कही गयी है ।

‘पूर्णत्वात् पुरुषः’—पूर्ण होनेसे उसे पुरुष कहते हैं ।

‘पुरीशयत्वात् पुरुषः’ : शरीररूपी पुरीमें शयन—निवास करनेके कारण उसे पुरुष कहते हैं ।

‘नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ।’ —गीता ५।१३

इस नौ द्वारवाली पुरीमें रहते हुए देही न कुछ करता है, न कराता है ।

इसीलिए तत्त्ववित् अपनेको मानता है कि ‘नैव किञ्चित् करोमीति’ : मैं कुछ करता नहीं हूँ ।

‘उपद्रष्टा’ : इस देहमें रहकर आत्मा देहसे परे कैसे है ? इसका उत्तर देते हैं : उपद्रष्टा । ‘उप सामीप्ये’ वह अत्यन्त समीप है । व्यवधान-रहित सामीप्य है उससे ।

‘मुझको क्या ढूँढ़े बन्दे, मैं तो तेरे पास ।’

‘उपद्रष्टा’ : व्यवधान-रहित अर्थात् आत्मा ही द्रष्टा है ।

यज्ञमें एक ऋत्विक् होता है । यजमान, यजमानपत्नी, होता, उद्गाता आदि अपना-अपना काम करते हैं; किन्तु ऋत्विक् उपद्रष्टा होता है । वह केवल देखता रहता है । इसी प्रकार शरीरमें नेत्र रूपको, कान शब्दको, नाक गन्धको, जीभ रसको, त्वचा स्पर्शको प्रकाशित करती है । पैर चलते हैं, हाथ पकड़ता है, वाणी बोलती है, उपस्थ मूत्र एवं गुद मलत्याग करते हैं । मन संकल्प विकल्प करता है, बुद्धि सोचती है, चित्त संस्कार रखता है, अहंकार देहकी सम्हाल रखता है । किन्तु इसमें आत्मा उपद्रष्टा है, वह केवल देखता रहता है ।

‘अस्मिन् देहे पुरुषः परः कस्मात् ? उपद्रष्टृत्वात् ।’

इस देहमें रहते हुए भी पुरुष देहसे परे क्यों है ? उपद्रष्टा होनेके कारण ।

‘सांख्यैः योगैः द्रष्टृत्वात् ।’

जिसे सांख्य और योगदर्शन उपद्रष्टा कहते हैं, वह परम पुरुष इस देहमें ही रहता है । जैसे पुस्तकको नेत्र देखते हैं, नेत्रोंको मन देखता है, मनको ‘मैं’ देखता है, वैसे ही ‘मैं’ को कौन देखता है ? तो साक्षी देखता है ।

‘रूपं दृश्यं लोचनं दृक् दृश्यं दृक् तु मानसम् ।

दृश्या धीवृत्तयः साक्षी दृगेव ॥’

रूप दृश्य है और नेत्र द्रष्टा हैं । नेत्र दृश्य हैं और मन द्रष्टा है । मन दृश्य है और ‘मैं’ द्रष्टा हैं । लेकिन साक्षी तो दृष्टमात्र है । उसे देखनेवाला कोई नहीं । वह किसीका दृश्य नहीं है ।

तब द्रष्टा न कहकर उपद्रष्टा क्यों कहते हैं ?

‘उप = समीपे व्यवधानरहिते सन् द्रष्टा ।’

द्रष्टा दूर रहकर देखनेवाला होता है। यह व्यवधानरहित द्रष्टा, आपा होकर ही देख रहा है, यह ‘उपद्रष्टा’ से सूचित किया गया है।

‘अनुमन्ता च’ : यह उपद्रष्टा अनुमति देनेवाला है। नेत्र देखना चाहें तो तो देखें। कान सुनना चाहें तो सुनें। यह किसीको रोकता नहीं।

मनमें वैराग्य हो जाय तो घरमें कैसे रहें, इसे श्रीमद्भागवतमें बतलाया है :

‘विरक्तो रक्तवत् तत्र नृलोके नरतां न्यसेत् ।’

विरक्त रहता हुआ, मनमें राग न रखते हुए आसक्तके समान व्यवहार करे और अपनी मनुष्यता मानव-समाजमें ही रख दे।

‘यद् वदन्ति यदिच्छन्ति चानुमोदेत निर्ममः ।’

पत्नी-पुत्र, भाई-बन्धु, माता-पिता आदिपर अपनी न चलाये। इनमें ममता न रखे। वे जो कहें और जो चाहें, उसका अनुमोदन करे।

कोई कहे : ‘आज आकाशमें हाथी चलते देखा है’ तो तुम उसका खण्डन मत करो। अनुमोदन कर दो : ‘होगा, तुम्हारा मन हो तो उसपर सवारी कर आना। हमारी इच्छा उसे देखनेकी नहीं है।’

कोई घरमें कहे : ‘आज तुम पलंगपर नहीं, पृथ्वीपर सोना ।’

‘अच्छी बात !’—अनुमोदन कर दो।

एक सदगृहस्थने अपने घरमें बच्चोंके लिए नियम बनाया : जो दैनिक प्रार्थना नहीं करेगा, उसे उस दिन रोटी नहीं मिलेगी।

विवश होकर प्रार्थना तो सब प्रतिदिन करते थे; किन्तु बड़े होकर क्या वे धर्मात्मा बनेंगे ? नहीं। वे बड़े आग्रही बनेंगे। वे सदगृहस्थ भी बड़े धर्मात्मा नहीं, बड़े आग्रही और ममतावान् हैं।

कोई कहता है : ‘हम धनोपार्जन करेंगे।’

तुम कहो : ‘बहुत अच्छा। लक्ष्मीजी तो भगवान्की पत्नी हैं। उनकी सेवा करो।’

कोई कहता है : ‘हमारे मनमें तो काम है। हम उसकी पूर्ति करेंगे।’

तुम कहो : ‘अच्छी बात है। काम तो भगवान्का पुत्र है, तुम उसीकी सेवा करो। मनका संकल्प-विकल्प उसीका रूप है।’

कोई कहता है : ‘मुझे अमुकपर क्रोध है। मैं पहले उससे बदला लूंगा।’

तुम कहो : ‘उत्तम बात है। क्रोध तो भगवान् रुद्र हैं। उनकी सेवामें लगे।’

आत्मा किसीको करनेसे नहीं रोकता। वह कर्ता नहीं, अनुमन्ता है। मतिके पीछे बैठकर उसे सत्तास्फूर्ति दे रहा है।

जो संसारको सत्य समझते हैं, उनका अपनी मान्यतामें दृढ़ आग्रह होता है। जैसे कोई मनुष्य समझे कि बच्चा कुएँमें गिरनेवाला है तो दौड़कर उसे रोकेगा। ईश्वर क्यों बच्चेको कुएँमें गिरनेसे नहीं रोकता ? कुएँमें गिरकर

ब्रह्मा मनुष्यसे तो दूर हो जाता है; किन्तु ईश्वरके तो पास ही रहता है। वह मनुष्यदेहमें रहे या न रहे, ईश्वरसे तो दूर नहीं होता।

जीव पाप करता है तो ईश्वर इसकी भी अनुमति देता है। पाप करके जीव नरक जायगा। वहाँ अधिक तापसे शुद्ध होगा, तब पापकी वासनासे निवृत्त होगा। ईश्वर जानता है कि जीव नष्ट तो हो नहीं सकता।

मैं पहले एक वैष्णवाचार्यके समीप गया था। वे कहते थे : 'काम, क्रोधादि सब ईश्वर ही करवाता है।'

'स एव साधु कर्म कारयति यं उन्निनीषते।

स एवासाधु कर्म कारयति यमघो निनीषते ॥'

वह ईश्वर ही जिसको ऊपर उठाना चाहता है, उससे सत्कर्म कराता है और जिसे नीचे गिराना चाहता है, उससे अपकर्म कराता है।

तब क्या ईश्वर किसीसे प्रसन्न और किसीसे अप्रसन्न रहता है ? नहीं—

'आनुकूल्यप्रातिकूल्याभ्यां व्यवस्था ।'

यह व्यवस्था ऐसी है कि जो ईश्वरके अनुकूल होकर चलना चाहते हैं, उनसे सत्कर्म कराकर उन्हें अपने समीप बुला लेता है और जो उसके प्रतिकूल होकर संसारमें लगना चाहते हैं, उनसे अपकर्म कराकर उन्हें नीचे भेज देता है—

'समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥'

—गीता १।२९

भगवान् कहते हैं : 'मैं सब प्राणियोंके प्रति समान हूँ; न कोई मेरेलिए द्वेष्य है, न प्रिय। लेकिन जो भक्तिपूर्वक मेरा भजन करते हैं, वे मुझमें हैं और मैं उनमें हूँ।

लेकिन जो भजन न कर उलटे चलते हैं, उनके सम्बन्धमें भगवान् कहते हैं :

'क्षिपाभ्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ।' —गीता १६।१९

मैं बार-बार उन्हें आसुरी योनियोंमें ही फेंकता रहता हूँ।

तात्पर्य यह कि मनुष्यकी मति जिधर चलती है, ईश्वर उसीका अनुमोदन करता है।

'भर्ता' : यह भरण-पोषण करनेवाला है। जिसके ज्ञानकी एकरश्मि चिदाभास है, जिसकी शक्तिसे ही नेत्र देखते, कान सुनते, नाक सूँघती है, वही सबको ज्ञानात्मक रश्मि प्रदान करके सत्तावान् बनाता है। यही सबका आधार, उपादान है।

'भर्त्ता' : यह किसीकी भृति बन्द नहीं करता। गीतामें आया है :

'गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी ।'—गीता ९।१८

महाराष्ट्रमें अकाल पड़ा था। छत्रपति शिवाजी महाराजने लोगोंको आजीविका देनेके लिए दुर्ग बनवाना प्रारम्भ किया। दुर्ग बन रहा था। सहस्रों लोग काममें लगे थे। छत्रपति निर्माण-कार्य देखने आये तो उनके मनमें आया : 'मैं इतने लोगोंको जीविका दे रहा हूँ।'

सहसा समर्थ रामदास स्वामी वहाँ आ गये । छत्रपतिने चरणवन्दना की । श्री समर्थने एक शिला दिखलाकर उसे तोड़नेका आदेश दिया । शिला तोड़ दी गयी । भीतर एक कीड़ा निकला । कीड़ेके मुखमें चावलका एक दाना था और पासमें था थोड़ा पानी । श्रीसमर्थने पूछा : 'शिवा ! इस कीटका भरण-पोषण कौन करता है ?'

शिवाजीका अभिमान नष्ट हो गया । वे समर्थके चरणोंपर गिर पड़े ।

एक दूसरा दृष्टान्त है । एक अरबोंकी सम्पदावाले पुरुष थे । उनका नियम था कि एक साधुको भोजन कराये बिना भोजन नहीं करते थे । एक दिन बहुत देर प्रतीक्षा करनेपर एक हृष्ट-पुष्ट फक्कड़ जैसा व्यक्ति मिला । उसे आदरपूर्वक बुलाकर, हाथ-मुख धुलाकर उन्होंने आसनपर बैठाया और भोजन परोसा । उसने भोजन प्रारम्भ कर दिया ।

उस अमीरने पूछा : 'आपने ईश्वरको धन्यवाद दिये बिना भोजन प्रारम्भ किया ?'

वह बोला : 'मैं तो ईश्वर, अनीश्वर कुछ नहीं मानता ।'

अमीर : 'उफ ! तो तुम नास्तिक हो ?'

वह : 'हाँ । तुम कहो तो खायें, कहो तो न खायें ।'

अमीर : 'तुम जैसे नास्तिकके लिए मेरे यहाँ रोटी नहीं है ।'

वह उठा और चला गया । रातमें अमीरने स्वप्नमें फरिश्ता देखा । फरिश्तेने पूछा : 'आज तुमने जिसे रोटी खाते उठा दिया, उसकी उम्र कितनी होगी ?'

अमीर : 'पचास-पचपन तो होगी ।'

फरिश्ता : 'वह अबतक भूखा रहा या कुछ खाता-पीता रहा ?'

अमीर : 'वह बड़ा हट्टा-कट्टा था । खूब खाता-पीता रहा होगा ।'

फरिश्ता : 'उसे अबतक कौन खिलाता रहा ?'

अमीर : 'दूसरा कौन खिलायेगा । जो सबको खिलाता है, वही उसको भी खिलाता होगा ।'

फरिश्ता : 'संसारका स्वामी जिसे पचास-पचपन वर्षसे खिलाता है, उसे तुम एक दिन खिला नहीं सके और अपनेको उसका वन्दा कहते हो ? तुम्हें शर्म आनी चाहिए ।'

आस्तिक-नास्तिक, दैत्य-दानव सबका भरण-पोषण वही कर रहा है :

‘तुलसी बिरवा वाग में, सींचत हू कुम्हिलायँ ।

राम-भरोसे जे रहैं, पर्वत पर हरियाँय ॥’

सर्वथा एकान्त वनमें, जहाँ कोई न हो वहाँ ईश्वर आहार पहुँचाता है । वह स्वयं चिद्रूप रहकर चिदाभासका पालन-पोषण कर रहा है ।

‘भोक्ता’ : भोक्ताका अर्थ है उपलब्धा । अपनेमें कल्पित अविद्यान्धकारको वह खा लेता है, अतः भोक्ता है । जैसे कहते हैं :

‘रविस्तमांसि भुङ्क्ते ।’

सूर्य अन्धकारको खा लेता है। इसी प्रकार—

‘अविद्याकृतं सर्वं भुङ्क्ते ।’

अविद्याकृत समस्त रचनाको वह खा लेता है।

‘अत्ता चराचरग्रहणात् ।’—ब्रह्मसूत्र

चराचरको (प्रलयमें) निगल लेनेके कारण वह भोक्ता है। अपने ज्ञान-स्वरूपसे वह द्वैत भ्रमका ध्वंस कर देता है।

‘महेश्वरः’—‘भोक्तृत्वात् विनाशकत्वात् महेश्वरः ।’

भोक्ता होनेके कारण, विनाशक होनेके कारण वह महेश्वर है।

ईश्वर वह है जो अपने प्रकृति-मंडलके वश न हो। जैसे राजाके साथ रानी, राजपुत्र, मन्त्री, सेनापति, कोषाध्यक्ष और सेवकवर्ग यह प्रकृति-मंडल होता है। जो राजा इनको अपने वशमें रखे, वह वस्तुतः राजा है। पर जो रानी, राजपुत्र या मन्त्री आदिके कहने-सुननेके अनुसार चले, वह वस्तुतः राजा नहीं। जो किसीका कहा माननेको विवश न हो, उचित-अनुचितका विचार करके अपना निर्णय लागू कर सके, वह समर्थ है।

‘उपाध्यसंस्पृष्टत्वम् ईश्वरत्वम् ।’

ईश्वरत्वका लक्षण है, उपाधिसे संश्लिष्ट न होना :

‘असङ्गो ह्ययं पुरुषः ।’

यह पुरुष असंग है। यह प्रकृतिसे परतन्त्र नहीं है। यह मन, बुद्धि, इन्द्रियोंके वशमें नहीं है। सबसे बड़ा ऐश्वर्य है परतन्त्र न होना। यह सबका परमाधिष्ठान है, अतः यही महेश्वर है।

‘परमात्मेति चाप्युक्तः’—यहीं इसी देहमें रहते परम पुरुष परमात्मा है :

‘आत्मनः परमं रूपं परमात्मा ।’

आत्माका जो परम रूप है, वही परमात्मा है।

इस देहमें जो निरुपाधिक पुरुष है, उसीके ये उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता, महेश्वर और परमात्मा नाम हैं।

‘यद्धि यस्य यो परमं रूपं भवति तस्मात्तन्न भिद्यते ।’

क्योंकि जो जिसका परम रूप होता है, वह उससे भिन्न नहीं होता। जैसे—

‘परमं मधुरम्’ : माधुर्यकी जो पराकाष्ठा है, वह माधुर्यसे भिन्न नहीं है, वैसे ही जो आत्माका परम रूप, उपाधिसंश्लेषशून्य रूप है वही परमात्मा है।

‘वेदान्तिभिः परमात्मेति चाप्युक्तः ।’

प्रेमरसरसिक वैष्णव भक्तों द्वारा जिसे भोक्ता कहा गया, शरणागति-प्रधान भक्तों द्वारा जो भर्ता कहलाया, तटस्थ ईश्वरवादियोंने जिसे अनुमन्ता कहा और योग तथा सांख्यने जिसे उपद्रष्टा बतलाया, वेदान्तियों द्वारा उसे ही परमात्मा कहा जाता है।



● संगति

...ऐसे उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता, भोक्ता, महेश्वर, परमात्माके निरूपणकी क्या आवश्यकता है जो हमारे इस देहमें ही रहता है ?

आवश्यकता यह है कि उसे जानकर तुम इस संसारके बन्धनसे—जन्म-मरणके चक्रसे छूट सको। यह आवश्यकता बतला रहे हैं :

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।

सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥ २३ ॥

जो इस प्रकार पुरुष और प्रकृतिको गुणोंके साथ जान लेता है, सर्वथा व्यवहार करता हुआ भी वह फिर जन्म नहीं लेता ।

‘य एवं उपद्रष्टृतया अनुमन्तृतया भर्तृतया भोक्तृतया महेश्वरतया परमात्मतया पुरुषं वेत्ति ।’

जो इस प्रकार उपद्रष्टारूपमें, अनुमन्तारूपमें, भर्तारूपमें, भोक्तारूपमें, महेश्वररूपमें और परमात्मरूपमें पुरुषको जान लेता है अर्थात् यह जान लेता है कि क्षेत्रज्ञ ब्रह्म ही है ।

‘क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि’

भगवान्ने प्रारम्भमें ही कहा : मुझे ही ‘क्षेत्रज्ञ जानो ।’ अतः जो क्षेत्रज्ञका परम ब्रह्मसे ऐक्य जान लेता है । और—

‘प्रकृतिं च गुणैः सह’—गुणैः सह अविद्याकल्पितां प्रकृतिं च वेत्ति ।

गुणोंके साथ अविद्या कल्पित प्रकृतिको भी जानता है उनकी जानकारी पूरी है ।

जब हम इस कार्यरूप संसारको देखते हैं तब इसकी कारणावस्थाकी कल्पना होती है । यह कल्पना अपने स्वयंप्रकाश सर्वाधिष्ठान स्वरूपके अज्ञानसे होती है । जबतक अपनेमें परिच्छिन्नताकी कल्पना है, तभीतक उपाधि एवं औपाधिक प्रपञ्च सत्य है । जब अपनेमें परिच्छिन्नताकी अविद्यक कल्पनाका बाध हो जाता है, तब कार्य-कारणभाव भी निवृत्त हो जाता है ।

‘गुणैः सह’ : ये सत्त्व, रज और तम प्रकृतिके गुण हैं । शरीरके हड्डी, मांस, चर्मादि तथा पृथ्वी, पर्वत, नदी, वृक्षादि समस्त स्थूलशरीरों एवं पदार्थोंका जो कारण है, उसे तमस् कहते हैं । शरीरमें क्रिया तथा संसारमें गतिका जो कारण है, उसे रजस् कहते हैं । शब्द, स्पर्शादिका जो ज्ञान है, उसके मूल कारणको सत्त्व कहते हैं । ये सत्त्व, रज और तम तीनों चिदरहित सत्तामें कल्पित है । लेकिन चिदरहित सत्ता तो अपने स्वरूपमें है ही नहीं । अतः मूढत्व (तमस्), विक्षिप्तता (रजस्) और शान्तत्व (सत्त्व) की कल्पना ही निराधार है ।

‘सर्वथा वर्तमानोऽपि’ : जहाँ ऐसा ज्ञान हो गया, वहाँ फिर यह प्रश्न नहीं

उठता कि देहका मृत्युकाल या जीवनकाल कैसा है ? जो नरकमें है, वही स्वर्गमें है। जो सृष्टिकालमें है, वही प्रलयकालमें है।

तुम मल्लाहके वशमें कबतक रहोगे ? जबतक कि नौकामें बैठे हो।

‘भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।’

ईश्वर अपनी मायासे सब प्राणियोंको वैसे ही घुमा रहा है, जैसे वे यन्त्रपर बैठे हों।

लेकिन किन प्राणियोंको ? जो यन्त्रपर बैठे हैं। यन्त्रसे तादात्म्य छूटा तो कर्म, कर्मफल और कर्मनियन्ताका भी पारतन्त्र्य छूट गया।

‘सर्वथा वर्तमानोऽपि’ : सभी अवस्थाओंमें—दरिद्रता और धनप्राचुर्यमें, भोग मिले तो और न मिले तो, घरमें रहो तब भी और वनमें रहो तब भी, तुम नित्य, शुद्ध, बुद्ध आत्मा हो।

‘कृष्णो भोगी शुकस्त्यागी नृपौ जनकराघवौ।

कर्मनिष्ठा वसिष्ठाद्याः सर्वे ते ज्ञानिनः समाः॥’

श्रीकृष्णचन्द्र अपरिमित भोगमें रहते हुए, शुकदेवजी परम वीतराग रहते हुए, महाराज जनक और श्रीराम शासनका सञ्चालन करते हुए तथा महर्षि वसिष्ठ-याज्ञवल्क्यादि कर्मनिष्ठा रखते हुए परम ज्ञानी हुए हैं। इन ज्ञानियोंमें कोई छोटा-बड़ा नहीं, सब समान हैं। इनके ज्ञानमें अन्तर नहीं है।

‘योगिनो भोगिनो रागिणश्चेतरे दृश्यन्ते ज्ञानिनां नैकरूपा स्थितिः।’

—स्वाराज्यसिद्धि

कोई ज्ञानी योगमें लगे रहते तो कोई भोगमें। कुछ ज्ञानी रागियोंके समान व्यवहार करते हैं। ज्ञानियोंकी व्यावहारिक स्थिति एकरूप नहीं होती। उनकी अनेक प्रकारकी स्थिति देखी जाती है।

चार व्यक्तियोंने एक साथ भांग पी। उनमें एक आसन लगाकर ध्यान करने लगा, दूसरा लम्बी तानकर सो गया, तीसरा गाने लगा और चौथा गाली बकने लगा। चारोंने एक ही भांग पी थी; किन्तु भाँगका नशा चारोंकी प्रकृतिके भेदसे चार प्रभाव प्रकट करने लगा। इसी प्रकार तत्त्वज्ञान होनेपर ज्ञानी कैसा व्यवहार करेगा, यह उसकी प्रकृतिपर निर्भर है।

तब प्रश्न उठता है कि क्या तत्त्वज्ञानका फल उच्छृंखल व्यवहार है ?

मूल श्लोकमें जो ‘अपि’ है, उसपर ध्यान दो।

‘सर्वथा वर्तमानोऽपि’—किं पुनर्मर्यादायां स्थितः।

सर्वथा व्यवहार करता हुआ भी वह मुक्त है। फिर मर्यादामें स्थित रहे तो कहना ही क्या ? जैसे—

‘हत्वाऽपि स इमान् लोकान्’ : फिर किसीको न मारे, अहिंसक रहे तो कहना ही क्या ?

वह ब्रह्माके समान सृष्टि करे, या विष्णुके समान पालन करे, अथवा रुद्रके समान संहार करे, या सनकादिके समान बालकवत् रहे—उसके बन्धन तो कट गये, क्योंकि उसकी आत्मा जन्म-मरणशील नहीं है।

‘तदधिगमे उत्तरपूर्वार्धयोरश्लेषविनाशौ ।’—ब्रह्मसूत्र

परमात्माका अधिगम, आत्मत्वेन बोध होना चाहिए । बोध होनेपर उससे पूर्वकी समस्त कर्मराशि विनष्ट, भस्म हो जाती है और आगे जो कर्म बनते हैं, उनका संस्पर्श नहीं होता ।

‘सर्वथा वर्तमानोऽपि’ : इस सम्बन्धमें श्री उड़ियाबाबा जी महाराज एक श्लोक कहते थे :

‘क्वचिच्छिष्टः क्वचिद् भ्रष्टः क्वचिद् भूतपिशाचवत् ।

नानारूपधरो योगी विचचार महीतले ॥’

था तो ज्ञानी; किन्तु कभी वह शिष्ट पुरुषके समान रहता, कभी भ्रष्टके समान आचरण करता तो कभी भूत-पिशाचग्रस्तके समान, पागल जैसा रहता । इस प्रकार वह योगी पृथ्वीपर घूमता रहता था ।

कोई देवता-दानव-मानव, कोई शास्त्रके विधि-विधान उसपर अपना प्रभाव नहीं डाल सकते । क्योंकि जिस यन्त्रको पकड़कर ईश्वर नचाता था, वह यन्त्र ही मिथ्या हो गया ।

‘यं न सन्तं न चासन्तं नाश्रुतं न बहुश्रुतम् ।

न सुवृत्तं न दुर्वृत्तं वेद कश्चित् स ब्राह्मणः ॥’

वह सत्-पुरुष है या असत्पुरुष, अपठित है या बहुश्रुत, सदाचारी है या अनाचारी—जिसके सम्बन्धमें यह कोई नहीं जानता, वह ब्रह्म-ज्ञानी है ।

‘चाण्डालः किमयं द्विजातिरथवा शूद्रोऽथवा तापसः

किं वा तर्कनिवेशपेशलमतियोगीश्वरः कोऽपि किम् ।

इत्थं तर्क-वितर्कजल्पमुखरैः सम्भाषमाणैर्जनै-

न क्रुद्धाः पथि नैव तुष्टमनसो यान्ति स्वयं योगिनः ॥’

‘यह चाण्डाल है अथवा ब्राह्मण ? यह शूद्र है या तपस्वी ? अथवा तर्क-निवेशमें निपुणबुद्धि कोई योगीश्वर है ?’ इस प्रकार तर्क-वितर्क करनेवाले लोगोंकी अपने सम्बन्धमें नाना प्रकारकी बातें सुनते हुए योगी न उन लोगोंपर क्रोध करता और न सन्तुष्ट होता है । वह तो अपनी मौजमें अपने मार्गसे चलता है ।

‘सम्पूर्णं जगदेव नन्दनवनं सर्वेऽपि कल्पद्रुमाः,

गाङ्गं वारि समस्तवारिनिवहाः पुण्याः समस्ताः क्रियाः ।’

सम्पूर्ण जगत् नन्दनवन (स्वर्ग)के समान सुखद हो गया । सब वृक्ष कल्पवृक्षके समान हो गये । सभी जल गंगाजलके समान पावन बन गये । सभी क्रियाएँ पुण्यकर्म बन गयीं । चाहे संस्कृत बोलो या ग्राम्य भाषा, सब वेदवाणीके समान हो गयी । सम्पूर्ण पृथ्वी काशी हो गयी । परम ब्रह्मका साक्षात्कार होनेपर सभी स्थितियाँ ब्रह्मस्थिति बन गयीं !

अब हम चाहे ‘हाय हाय’ करें या समाधिमें स्थित रहें, व्यवहार कैसा भी हो, मुक्त ही हैं । ‘न स भूयोऽभिजायते’—उस ब्रह्मात्मैक्यबोधवान्को फिर जन्म नहीं लेना पड़ता ।

★

● संगति

ऐसी स्थिति प्राप्त करनेके लिए क्या करना चाहिए ? इसका उत्तर है :

‘नान्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति ।

गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥’—गीता १४।१९

जो किसी कर्ताको जब गुणोंसे भिन्न नहीं देखता और अपनेको द्रष्टा तथा गुणोंसे परे जानता है, वह मेरे भावको प्राप्त होता है ।

गुणातीत होनेसे पूर्व जो साधन बतलाया था, वही एक प्रकारका उपाय प्रारम्भमें चतुर्दश अध्यायमें बतलाया । उसी अध्यायके अन्तमें यह दूसरा उपाय बतलाते हैं :

‘मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।

स गुणान् समतोत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥’—गीता १४।२६

जो अव्यभिचारी भक्तियोगसे मेरी सेवा करते हैं, वे इन गुणोंको पार करके ब्रह्मीभूत हो जाते हैं ।

पहले उपायसे जिसे अपने गुणातीत होनेका बोध नहीं हुआ, उसके लिए यह दूसरा साधन है ।

यहाँ तेरहवें अध्यायमें भी ऐसा कहा है कि अमानित्व, अदम्भित्व आदि साधन-सम्पन्न होकर जिसने क्षेत्रज्ञ और ब्रह्मका विचार किया, उसे ब्रह्मज्ञान हो गया । इस उपायसे जिसे ब्रह्मज्ञान नहीं हुआ, उसे आत्मा-अनात्माका विचार करना चाहिए । ‘प्रकृतिं च गुणैः सह’ अविद्याकल्पित जानकर, यह जानकर कि यह प्रकृति अपने स्वरूपमें अध्यस्त है, स्वरूपज्ञान प्रकृति-पुरुष-विवेकके द्वारा होगा ।

अब प्रश्न हुआ कि उपाय इतने ही हैं या और भी हैं ?

‘आत्मस्वरूपज्ञाने उत्तममध्यमाधिकार-क्रमेण उपायचतुष्टयमाह ।’

आत्मस्वरूपके ज्ञानमें उत्तम, मध्यम और अधम इन अधिकारियोंके क्रमसे चार उपाय बतलाते हैं । क्योंकि लोग अपनी-अपनी रुचि एवं अधिकारके अनुसार तत्त्वज्ञानके लिए भिन्न-भिन्न साधन अपनाते हैं :

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।

अन्ये साङ्ख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥२४॥

कोई ध्यानयोग द्वारा अपने आपसे अपने आपको देखते हैं । दूसरे सांख्यसे, योगसे और कोई कर्मयोगसे (आत्मसाक्षात्कार करते हैं) ।

‘केचिद् आत्मनि आत्मना ध्यानेन आत्मानं पश्यन्ति ।’

कोई अपने भीतर अपनेसे ही ध्यान द्वारा अपने आपको देखते हैं। सबका फल एक ही है।

‘कं पश्यन्ति ?’—किसे देखते हैं ?

‘आत्मानं पश्यन्ति ?’—आत्माको देखते हैं।

‘कं पश्यन्ति ?’—कहाँ देखते हैं ?

‘आत्मनि पश्यन्ति’—अपने आपमें देखते हैं।

‘केन साधनेन पश्यन्ति ?’—किस करणसे देखते हैं ?

‘आत्मना पश्यन्ति’—अपने आपसे देखते हैं।

‘केन करणेन पश्यन्ति ?’—किस साधनसे देखते हैं ?

‘केचित् ध्यानेन, अन्ये सांख्येन योगेन, अपरे कर्मयोगेन।’—साधन अनेक हैं : कोई ध्यानसे, कोई सांख्यसे, योगसे और कोई कर्मयोगसे आत्मसाक्षात्कार करते हैं।

‘केचित् ध्यानेन साधनेन आत्मना करणेन आत्मनि अधिकरणे आत्मानं कर्मभूतं पश्यन्ति, अनुभवन्ति।’

कोई-कोई जिज्ञासु ध्यानरूप साधनसे, आत्मरूप करणद्वारा, आत्माधिकरणमें, आत्मकर्मभूत अपने आपको देखते हैं अर्थात् अनुभव करते हैं।

‘ध्यानेन’ : जैसा ध्येय होता है, उसके अनुरूप ध्यान किया जाता है। ध्यानके लिए हृदय एकान्त चाहिए।

‘गुहाहितं गङ्गरेष्ठं पुराणम्।’—कठ० २।१२

वह सर्वश्रेष्ठ पुराणपुरुष हृदय-गुहामें छिपा है।

याज्ञिक लोग यज्ञमें देवताका ध्यान करते हैं :

‘यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात् तां ध्यायेत् वषट् करिष्यन्।’

जिस देवता लिए हाथमें हवि ली हो, वषट्कार करनेके लिए उस देवताका ध्यान करे। जैसे जब हाथमें इन्द्रके लिए हवि हो तो—

‘वज्रहस्तः पुरन्दरः।’

हाथमें वज्र लिए इन्द्रका ध्यान करें। यह यज्ञाङ्गरूप ध्यान परिवर्तित होता रहेगा। जिस-जिस देवताके लिए हवि उठायेंगे, उस-उस देवताका ध्यान करेंगे। भक्तका ध्यान तीन प्रकारका होता है :

१ योगाङ्गरूपमें इष्टदेवताका ध्यान। यहाँ ध्यान इसलिए है कि ध्यान करते-करते समाधि लग जाय।

२ ज्ञानाङ्गरूपमें इष्टका ध्यान, जिससे संसारसे वैराग्य हो एवं चित्तकी शुद्धि होकर तत्त्व-ज्ञानकी योग्यता प्राप्त हो।

३ प्रेमाङ्गके रूपमें ध्यान, जिससे भगवान्में प्रेम हो और भगवत्लोककी प्राप्ति हो। यहाँ न इन तीनोंमेंसे किसी ध्यानकी बात है और न यज्ञीय कर्मरूप ध्यानकी चर्चा।

सांख्यदर्शन कहता है। ‘कर्तृत्वपूर्वक चित्तवृत्तिको एकाग्र करना आवश्यक नहीं है।’

‘रागोपहतिर्ध्यानम् ।’

कहीं राग-द्वेष न हो, यही ध्यान है। तुम जब किसीकी निन्दा करते हो तो निन्द्यके गुण-दोष प्रकट होते हैं, यह मूर्ख समझते हैं। वस्तुतः तुम अपने हृदय-को ही प्रकट करते हो। इसी प्रकार जब तुम किसीकी प्रशंसा करते हो तो उसके गुण प्रकट होते हैं, यह मानना भी मूर्खता है। वहाँ तुम अपना हृदय ही प्रकट करते हो।

प्रकृतिके राज्यमें कहीं राग-द्वेष मत होने दो।

‘सुधा सराहिय अमरता गरल सराहिय मीच ।’

विषकी प्रशंसा ही यह है कि छूने या सूँघने मात्रसे प्राणी मर जाता है। अपने-अपने स्थानपर विष, अमृत दोनों प्रशंसनीय हैं।

योगका ध्यान है :

‘तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ।’

वृत्ति एक ही विषयको बार-बार पकड़े। तैलधारावत् अथवा गंगाप्रवाहवत् एक ही वृत्तिकी धारा अपने ध्येयको विषय बनाये। यही ध्यान साकार इष्टका हो तो वह समाधिका अंग बनता है। इस साकार ध्यानको ही सर्वस्व समझ लेंगे तो वह भक्ति हो जायगी।

वेदान्तमें ध्यानकी रीति भिन्न है। उपनिषद्में वर्णन आया है :

‘ध्यायतीव वक्ः, ध्यायतीव पृथिवी ध्यायन्तीव पर्वताः ।’—छा० ७।६।१

मानो बगुला ध्यान कर रहा है। मानो पृथिवी ध्यान कर रही है। मानो पर्वत ध्यान कर रहे हैं।

बगुला मानो ध्यान कर रहा है—इससे शरीरकी स्थिरता सूचित की। पृथ्वी मानो ध्यान कर रही है—चाहे कुआँ खोदो या बाँध बनाओ, वह अविचल है। इससे मनकी स्थिरता बतलायी। यह स्थिति विघ्नसे अप्रतिहत है। पूजासे प्रसन्न नहीं, खोदनेसे क्षुब्ध नहीं। पर्वत मानो ध्यान कर रहे हैं, इसके द्वारा दृढ़ता समझायी।

श्री उड़िया वावाजी महाराज एक श्लोक कहा करते थे :

‘निरस्तसर्वसंकल्पा या शिलावदवस्थितिः ।

जाग्रच्चिद्राविनिर्मुक्ता सा स्वरूपस्थितिः परा ॥’

सब संकल्प त्याग दिये गये हैं। कोई प्रलोभन या अवमानना बहिर्मुख नहीं कर सकती। चट्टानकी भाँति शरीर स्थिर है। जैसे अन्य वस्तुको भीतर स्थान दिये बिना शिला स्थिर है—न जाग्रत् है, न निद्रा है। इसे परा-स्वरूप-स्थिति कहते हैं।

कोई क्रिया, भावना, चिन्तन या ध्यान होता है तो वह प्रतिपक्षीकी निवृत्तिके लिए होता है। मनमें आसक्ति या मोह है तो उसे हटानेके लिए ध्यान करने बैठे। अथवा मनमें चंचलता है तो निवृत्तिको बुलाया। अज्ञान मिटानेको ज्ञान चाहिए। आपको सहज स्वभावसे संसारकी चर्चा प्रिय नहीं है, तो ऐसी चर्चा हटानेको आप परमार्थ-चर्चामें लगते या एकान्त-सेवन करते हैं।

किसीको संसारमें मोह-आसक्ति है। ऐसी अवस्थामें मन एकाग्र करके वह ध्यान करेगा तो ध्यानकालमें मोह-आसक्ति प्रतीत नहीं होगी; किन्तु ध्यान टूटनेपर वह मोह-आसक्ति ज्योंकी त्यों बनी रहेगी।

मोह या आसक्ति दूर करनेके लिए वैराग्य चाहिए। विवेकसे वैराग्य होता है। अथवा ईश्वरके प्रति मोह एवं आसक्ति उत्पन्न हो तो संसारका मोह एवं आसक्ति छूटे।

यदि मन केवल चञ्चल है, मनमें आसक्ति नहीं है, तो योगकी रीतिसे ध्यान करो। 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।'।

अथवा सांख्यकी रीतिसे ध्यान करो कि कहीं राग-द्वेष न हो।

‘ध्यानं निर्विषयं मनः ।’

या फिर किसी विषयका चिन्तन मत करो। मनमें यदि असम्भावना, विपरीत-भावना हो तो ध्यानका स्वरूप भिन्न होगा। 'मैं परिच्छिन्न ब्रह्म कैसे हो सकता हूँ' इसको असम्भावना कहते हैं। विपरीत-भावना है कि 'मैं लोक-लोकान्तरमें जानेवाला, संसारी, परिच्छिन्न, जीव, कर्ता-भोक्ता, देह हूँ।'।

ऐसी अवस्थामें ऐसा ध्यान चाहिए जो विपरीत भावना, विपर्यय (उलटी बुद्धि) को मिटा दे। 'मैं ब्राह्मण हूँ, संन्यासी हूँ, हिन्दू हूँ, मनुष्य हूँ' आदि विपर्यय है। ब्राह्मण, संन्यासी, हिन्दू या मनुष्य ये विशेषण तो देहके हैं।

‘नेति नेतीति वाक्येन शेषितं यत् परं पदम् ।

निराकर्तुमशक्यत्वात् तदस्मीति सुखी भव ॥’

'नेति नेति' इस वाक्यसे सबका निरास कर देनेपर जो परमपद, निरास करनेवाला शेष रह जाता है, उसका निरास करना अशक्य है। अतः वह 'मैं हूँ' यह जानकर सुखी हो जाओ।

पहले 'नेति नेति' द्वारा अनात्माकार वृत्तिप्रवाहका तिरस्कार करो। किसी भी परिच्छिन्न पदार्थमें 'मैं' बुद्धि मत करो। निखिल विजातीय प्रत्ययोंके तिरस्कारपूर्वक, परिच्छिन्न, अनात्माकार वृत्तिप्रवाहका तिरस्कार करके अन्तःकरणमें प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न वृत्तिप्रवाह बने, इसका नाम ध्यान है। 'मैं ध्यान करनेवाला हूँ' यह अभिमान तो न हो और ब्रह्माकार-वृत्ति-प्रवाह चलता रहे, इसे ध्यान कहते हैं।

एक महात्मा कहते थे : 'कर्तृत्वभोक्तृत्वोल्लेखशून्य, वासनोन्मेषशून्य वृत्तिप्रवाहका नाम ध्यान है।'।

अपनेमें पापी-पुण्यात्मा, सुखी-दुःखी आदि कर्तृत्व-भोक्तृत्वका उल्लेख न हो और कोई वासनोल्लेख न हो, शुद्ध सात्त्विक प्रतीतिमात्र अन्तःकरणमें जो चिन्मात्र आत्मतत्त्वका प्रतिबिम्बन है, उसे ध्यान कहते हैं।

वेदान्तमें ध्यानकी दो पद्धतियाँ हैं। इनमें एक है लय-प्रक्रिया। पहले पञ्चभूतका लय करो। पृथ्वी जलमें, जल अग्निमें, अग्नि वायुमें और वायु आकाशमें लीन होता है, ऐसा चिन्तन करो। आकाश मनमें, मन अहंतत्त्वमें,

२२६.]

[गीताका तेरहवाँ अध्याय

अहंतत्त्व महत्तत्त्वमें, महत्तत्त्व अव्याकृतमें तथा अव्याकृतका सच्चिदानन्दधन ब्रह्मा अधिष्ठानतत्त्वमें लय-चिन्तन करो।

जब तुमने पंचभूतके लयका चिन्तन किया, तो देह पंचभूतमें गया। अन्तः-करणका समष्टि उपाधिमें लय हुआ। कार्योपाधि कारणोपाधिमें लीन हो गयी। तब अव्याकृत, पूर्णदेश, पूर्णकाल और पूर्णवस्तुकी बीजात्मक समष्टि उसके आश्रय-भूत सच्चिदानन्दधन तुम हो। तुम्हारी अद्वितीयतामें अव्याकृत कल्पनामात्र है। श्रीमधुसूदन सरस्वती अपनी गीता-व्याख्यामें इस ध्यानका अर्थ यों करते हैं :

‘ध्यानेन = श्रवणमननपरिपाकजन्येन आत्मचिन्तनेन।’

श्रवण-मननके परिपाकसे उत्पन्न आत्मचिन्तनरूप वृत्तिका नाम ध्यान है। पहले श्रुति द्वारा आत्माके स्वरूपका श्रवण करो। तब उस श्रुत तत्त्वका मनन करो।

‘उभयकोट्यवगाहिनी संशयात्मिका बुद्धिः सर्पिणी।’

‘यह ठीक है या वह ठीक’ इस प्रकार दोनों किनारोंकी ओर दौड़नेवाली संशयात्मिका बुद्धि सर्पिणी है। इसीलिए भगवान् ने कहा है :

‘संशयात्मा विनश्यति।’

इस संशयात्मिका बुद्धिरूपिणी सर्पिणीके विषको दूर करनेवाला मन्त्र है, मनन। मनन करनेसे संशयरूपी विष दूर होता है।

संशय दूर हो गया है; किन्तु श्रवण काम नहीं दे रहा है, ब्रह्माकार-वृत्तिका उदय नहीं हो रहा है। ऐसा क्यों? इसलिए कि श्रवण-मननके पूर्व जो विपर्यय था, उसके संस्कार दृढ़ हैं। इसकी निवृत्तिके लिए ध्यान अर्थात् आत्मचिन्तन चाहिए। बोधकी अदृढताके निवृत्त्यर्थ आत्मचिन्तनका नाम ध्यान है।

वेदान्तमें ध्यानकी दूसरी पद्धति है : पहले द्वैतका बाध कर लो। भेद-कल्पना, गन्धशून्य, अखण्ड, एकरस, अद्वितीय आत्मा ही ब्रह्म है। इसमें दूसरी वस्तु है ही नहीं। माया और अविद्या इसीमें कल्पित हैं। कल्पित मायामें महत्तत्त्व, महत्तत्त्वमें अहंकार, अहंकारमें पञ्चतन्मात्रा, तथा अहंकारके सात्त्विक, राजस, तथा तामस भेद कल्पित हैं। इन कल्पित अहंकारके भेदोंमें ज्ञान, क्रिया एवं द्रव्य कल्पित हैं। कल्पित द्रव्यमें ब्रह्माण्ड, ब्रह्माण्डमें पृथिवी, पृथिवीमें राष्ट्र, राष्ट्रमें प्रान्त, प्रान्तमें नगर और नगरमें शरीर कल्पित है। अखण्ड ब्रह्ममें यह सब कल्पित रूपसे ही भरा रहा है। इस प्रकार मुझमें न अनन्तरूप देश है, न काल, न और कोई वस्तुरूप प्रपञ्च। मुझमें माया या अविद्याका लेश नहीं, न इनके कार्य हैं। यह ध्यान बाधप्रक्रियारूप है।

श्रवणके पश्चात् भी अन्तःकरण शुद्ध न होनेके कारण देह-देहीभाव निवृत्त नहीं हो पाता, इसलिए अपनेको ब्रह्म जानकर दृश्य प्रपञ्चका बाध करो।

‘ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति’ : तुममें तीन अवस्थाएँ हैं, जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति। इनमेंसे जाग्रत् अवस्था स्वप्न और सुषुप्तिमें नहीं रहती। स्वप्नावस्था

जाग्रत् और सुषुप्तिमें नहीं रहती। सुषुप्ति-अवस्था जाग्रत् और स्वप्नमें नहीं रहती। लेकिन तुम तीनों अवस्थाओंमें रहते हो। अतः तुम तीनों अवस्थाओंसे पृथक् हो। यह चिन्तन ध्यान है।

स्वप्नावस्थामें जो आकाश, समुद्र, पृथ्वी, दिशाएँ, सूर्य, चन्द्र, तारे, चराचर प्राणी, उन प्राणियोंकी परम्परा, सन्तान आदि दीखते हैं, वे सब स्वप्नावस्थाके विलास हैं। वे स्वप्नद्रष्टामें नहीं हैं। इसी प्रकार जाग्रत्में जो आकाश, समुद्र, पृथ्वी, दिशाएँ, सूर्य, चन्द्र, तारे, चराचर प्राणी, उन प्राणियोंकी परम्परा, सन्तान आदि दीखते हैं, सब जाग्रत्-अवस्थाके विलास हैं। जाग्रत्के द्रष्टासे इनका कोई सम्बन्ध नहीं।

जो स्वप्नका द्रष्टा है, वही जाग्रत्का द्रष्टा है। जब स्वप्न और जाग्रत् दोनों अवस्थाएँ शान्त हो जाती हैं, तब सुषुप्तिमें प्रपञ्च नहीं रहता; किन्तु द्रष्टा तो वही रहता है। अतः द्रष्टा तीनों अवस्थाओंसे असंस्पृष्ट है। इस द्रष्टामें तीनों ही अवस्थाएँ वृत्तियोंका विलासमात्र हैं। वृत्तियोंका विलास रज्जुसर्पवत् होता है। जो वस्तु वृत्तिमें ही होती है, वह मिथ्या होती है। तुम्हारे द्रष्टा-स्वरूपमें ये सत्त्व-रज-तम, भूः-भुवः-स्वः, अकार-उकार-मकार, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति, कोटि-कोटि-ब्रह्माण्ड दृष्टिमात्र हैं, अतः ये सब मिथ्या हैं।

मिथ्यावस्तु अपने अधिष्ठानसे भिन्न नहीं होती—यह ध्यान, चिन्तन करो।

‘कोशोपाधिविचक्षायां याति ब्रह्मैव जीवताम्।’

कोशोंकी उपाधिका वर्णन करना होता है तो ब्रह्मका ही ‘जीव’ कहकर वर्णन होता है।

अन्नमय कोश अर्थात् स्थूलदेहमें अन्नमय पुरुष है। शारीरिक क्रिया अर्थात् प्राणमय कोशमें प्राणमय पुरुष है। संकल्प-विकल्पात्मकशक्ति अर्थात् मनोमय कोशमें मनोमय पुरुष है। विचारशक्ति अर्थात् विज्ञानमय कोशमें विज्ञानमय पुरुष है। देहकी क्रियादिमें जो सुखानुभव शक्ति है अर्थात् आनन्दमय कोशमें आनन्दमय पुरुष रहता है। चैतन्य न हो तो ये अन्नमय-प्राणमय आदि पुरुष कोई काम न कर सकें। अतः कोशोंको मत देखो; उनमें जो चैतन्य है, उसे देखो। इन पाँचों कोशोंको सिद्ध करनेवाले चैतन्य पाँच नहीं हैं। चैतन्य एक ही है। जब अन्नमय-प्राणमय आदि कोश कार्यशील रहते हैं, तब भी चैतन्य रहता है और जब सुषुप्तिमें ये कार्यशील नहीं रहते, तब भी चैतन्य रहता है।

‘ततः कर्ता ततो भोक्ता गुहाशयपरम्परा।’

ये पञ्चकोश गुफा हैं। आत्मरूप सिंह इन पाँच गुफाओंके भीतर छिपा है। इन पञ्चकोशोंका साक्षी आत्मा ‘मैं’ इनसे पृथक् है।

अब ये पञ्चकोश क्या हैं? तामस पञ्चभूतमें अन्नमय कोश है, राजस पञ्चभूतमें प्राणमय कोश तथा सात्त्विक पञ्चभूतमें मनोमय कोश, विज्ञानमय कोश और आनन्दमय कोश हैं। ये सत्त्व, रज, तम तीनों गुण अहंतत्त्वमें एकीभूत हैं। अहंतत्त्व महत्तत्त्वका विलास है। महत्तत्त्व अव्याकृतका विलास है। अव्याकृत अन्तर्यामीके आश्रित होकर कार्य करता है।

अन्तर्यामीमें जो शुद्ध चिन्मात्र है, अकर्ता, अभोक्ता है तथा पञ्चकोशोंमें जो बुद्ध चिन्मात्र, अकर्ता, अभोक्ता, साक्षी है, दोनों एक हैं। यह श्रुति-वचन है। इस प्रकारका चिन्तन ध्यान है।

वचनमें मैं प्रायः महात्माओंके समीप संतसंगके लिए जाता था। एक महात्माने लय-प्रक्रियाका ध्यान इस प्रकार बतलाया : 'पादतलसे मलद्वारतक का शरीर पृथ्वीतत्त्व है। उससे ऊपर सूत्रेन्द्रियतक जलतत्त्व है। उससे ऊपर नाभितक अग्नि-तत्त्व है। नाभिसे हृदयतक वायुतत्त्व है। हृदयसे कण्ठतक आकाशतत्त्व है। कण्ठसे आज्ञाचक्र (भ्रूमध्य) तक मनस्तत्त्व है। भ्रूमध्यसे ऊपर बुद्धितत्त्व, उसके ऊपर जीव और उसके ऊपर परमात्मा है।

'जब रात्रिमें सोने लगे तो पलंगपर लेटकर ध्यान करो कि गुदातक पैर आदि पृथ्वीतत्त्व जलमें लीन हो गया। जलका भाग अग्निमें, अग्निका भाग वायुमें, वायुका भाग आकाशमें, आकाश मनमें, मन बुद्धिमें, बुद्धि जीवमें और जीव परमात्मामें लीन हो गया।'

'जब प्रातःकाल नींद टूटे तो सहसा मत उठ बैठो। ध्यान करो कि परमात्मासे जीव, जीवसे बुद्धि, बुद्धिसे मन, मनसे आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल और जलसे पृथ्वीतत्त्व तथा इनके भागका शरीर निकला।' यह लयकी तन्त्र-प्रक्रिया है। इसके अभ्याससे थोड़े दिनोंमें सुषुप्ति, समाधि बन जायगी।

‘आत्मन्येवात्मानं पश्येत्।’—श्रुति

अपने आपसे अपने आपको देखे। लेकिन इसकी प्रक्रिया तो भिन्न है।

‘अहं द्रष्टा चक्षुषा करणेन मञ्चेऽधिकरणे पुस्तकं विषयं पश्यामि।’

'मैं द्रष्टा चक्षुरूपी करणसे मञ्चरूपी अधिकरणमें पुस्तकरूपी विषयको देखता हूँ' इस प्रकार लोकमें जिस किसी वस्तुको देखते हैं तो वह वस्तु एक स्थानमें दीखती है।

‘प्रतिमायां विष्णुं ध्यायामि।’

प्रतिमामें विष्णुका ध्यान करता हूँ। इस प्रकार जो आधारभूत प्रतिमा है, वह देशप्रधान है। ध्येय अपनेसे अन्य है। देखनेके करण, नेत्रादि अपनेसे पृथक् हैं। ध्यान करना है तो नेत्रसे देखी हुई वस्तु मूर्ति, चित्रादि या कर्षसे सुने हुए रूपका मनरूपी करण द्वारा ध्यान होगा। द्रष्टा, ध्याता इनसे विलक्षण होगा।

आत्मानुभूतिकी दशामें दर्शन और दृश्यमें भेद नहीं होता।

‘यत्र तु सर्वमात्मैवाभूत् तत्र केन कं पश्येत्।’

जहाँ सब अपना आपा ही हो गया, वहाँ किसे, किसके द्वारा देखेगा ?

वहाँ न आत्मा दृश्यरूपमें है, न उसका कोई अधिकरण है, न देखनेका साधन है। जो देखता है, जो दीखता है, जिसमें दीखता है, और जिससे दीखता है, वह सब अपना आपा ही है।

‘आत्मन्येव न तु अनात्मनि, आत्मनैव न तु अनात्मना, आत्मानमेव न तु अनात्मानं पश्येत् ।’

अपने आपमें ही, अन्यमें नहीं; अपने आपके ही द्वारा, अन्यके द्वारा नहीं; अपने आपको ही, अन्यको नहीं, देखें—अनुभव करें ।’

‘आत्मन्येव’ : अन्य देशमें नहीं—अन्तर्देश या बहिर्देशमें नहीं, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदिमें नहीं—शरीरके देशविशेष, चक्रादिमें नहीं । वृत्तिद्वारा अन्य देशमें जाकर आत्माका ध्यान नहीं होता । देश तो आत्मामें कल्पित, विवर्त है ।

‘आत्मानं पश्यन्ति, न तु घटादिकम् ।’

आत्माको देखते हैं, घटादिको नहीं । इसमें दृश्यका निषेध कर दिया ।

‘आत्मनैव’ : इन्द्रियवृत्ति, मनोवृत्ति, बुद्धिवृत्तिसे काम नहीं लेते । इस प्रकार करणका भी निषेध कर दिया ।

तब क्या वह सुषुप्तिके समान साक्षिभास्य होगा ? नहीं ‘आत्मानं पश्यति’ अपने आपको ही देखते हैं । अन्यके द्वारा अन्य नहीं देखा गया ।

‘पश्यन्ति’ : दृश्य-दर्शन नहीं है । मनोवृत्तिरूपी करण नहीं है । अन्य वस्तु नहीं है । इसका अर्थ है :

‘यत्र दर्शनं द्रष्टृ च पृथक् न भवतः ।

यहाँ द्रष्टा और दर्शन पृथक् नहीं हैं । यह दर्शन नहीं है । अदर्शनकी निवृत्तिके लिए एक विवर्तात्मक दर्शन है ।

‘स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम ।’ —गीता १०।१५

‘पुरुषोत्तम ! तुम अपने आपसे ही अपने आपको जानते हो ।’

‘यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ।’ —गीता ६।२०

जिस (स्थितिमें) अपने आपको अपने आपसे देखता हुआ सन्तुष्ट होता है ।

‘श्रद्धावित्तो भूत्वा आत्मन्येवात्मानं पश्येत् ।’ —श्रुति

श्रद्धाका धनी होकर अपने आपसे अपने आपको देखें ।

श्री उड़िया बाबाजी महाराजसे मैंने पूछा : ‘वृत्ति ब्रह्माकार कैसे हो सकती है, क्योंकि वृत्ति छोटी है और ब्रह्म बड़ा । जब ब्रह्ममें आकार ही नहीं है तो वृत्तिमें कौन-सा आकार आयेगा ?’

बाबाने बतलाया : ‘वृत्ति स्वयं ब्रह्ममें विवर्त है । वृत्तिमें योग्यता नहीं है कि वह ब्रह्मको विषय बनाये । ब्रह्ममें वृत्तिका विषय बननेकी योग्यता नहीं है । ब्रह्ममें ध्यानकी विषयताका निषेध ब्रह्मके अनात्मत्वका निषेध है । वृत्तिमें ध्यानकी करणताका निषेध है ।

अन्तःकरण सम्पर्क-शून्य, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति एवं पञ्चकोश-कल्पनासे अनास्कन्दित, देशकी कल्पनासे अपक्रान्त, द्वैतकल्पनासे सर्वथा विनिर्मुक्त अपना आपा ही है । उसमें दर्शन ‘पश्यन्ति’ विवर्त ही है ।

‘मुञ्च ध्यानं हि सर्वत्र मा किञ्चिद् हृदि धारय ।
 आत्मा त्वं मुरु एवासि किं विमृश्य करिष्यसि ॥
 अयमेव हि ते बन्धः समाधिमनुतिष्ठसि ।
 अयमेव हि ते बन्धो द्रष्टारं पश्यसीतरम् ॥’

अरे, सर्वत्र ध्यान करना छोड़ दो। कुछ भी हृदयमें मत धारण करो। तुम आत्मा हो, नित्य मुक्त ही हो। विवेक करके क्या करोगे? तुम्हारा यही बन्धन है कि ‘अहं अन्तःकरणी, ममान्तःकरणम्’—मैं अन्तःकरणवाला हूँ, अन्तःकरण मेरा हूँ, इस प्रकार अन्तःकरणसे तादात्म्य करके समाधि लगाते हो। तुम्हारा यही बन्धन है कि द्रष्टाको अपनेसे भिन्न देखते हो।

श्री उड़िया बाबाजी महाराजने अन्तिम बात यह कही थी : ‘अपने ऊपर कर्तृत्व लादकर कुछ करना जीववृत्ति है।’

एक पुराने महात्मा थे—बड़े अलमस्त फकीर। वे प्रायः उपदेश नहीं करते थे, सबको गुरु कहते। एकवार बोले : ‘गुरु ! कुछ नहीं किया तब तो इतना दीखता है। फिर कुछ करोगे तो यह घटेगा नहीं, बढ़ ही जायगा।’

आपके अनेक कर्तव्य हैं। घरके, परिवारके, दूकानके, जातिके, धर्मके, राष्ट्रके, और मानवताके प्रति आपके कर्तव्य हैं। जबतक आप संसारमें अपनेको कर्तव्य-मुक्त नहीं समझते, कोई मित्र आपको लाख समझाये, परमार्थमें भी आप अपनेको कर्तव्य-मुक्त नहीं समझ सकते। अतः विरक्त होना चाहिए। ‘संसारमें हमारा कोई कर्तव्य है’ इस भ्रान्तिसे मुक्त पुरुष ही ज्ञानका अधिकारी है। वही अधिकारी है, जो समझता है कि परमार्थ, आत्मोद्धार ही हमारा कर्तव्य है।

मैं १७-१८ वर्षकी आयुमें एक महात्माके समीप गया। वे बोले : ‘पण्डित जी ! संसारमें कुछ करना हो, पाना हो, भोगना हो, बनाना हो तो पहले वह सब कर आओ। रही अविद्या दूर करनेकी बात, सो अविद्या तो है ही नहीं। यह काम तो हम एक क्षणमें कर देंगे। लेकिन यह तब होगा जब संसारमें कोई कर्तव्य प्रतीत न हो। जितना भगड़ा है, सब इसका भगड़ा है कि तुम पकड़ी हुई दुनियाको छोड़ नहीं रहे हो। परमार्थमें कोई भगड़ा ही नहीं है।’

‘ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।’

इसमें अनात्मामें अनात्मासे अनात्माके ध्यानका निषेध ही ध्यान है—ऐसा कहा गया है। मैंने २०-२१ वर्षकी आयुमें दो पुस्तकें लिखी थीं १. विज्ञान-सूत्राणि २. तत्त्वरसायनम्। इनमेंसे ‘विज्ञानसूत्राणि’ में सूत्र थे। ध्यानके प्रसंगमें उसका एक सूत्र था :

‘अचिन्तनं चिन्तनम् ।’

आत्मचिन्तन क्या है ? कुछ चिन्तन न करना ही आत्मचिन्तन है। अविद्याको यदि मिटाना नहीं है, वह मिट चुकी है तो विचार भी विक्षेप ही है।

‘भाति तद् भातु नाम भूषणं मायिकस्य तत् ।’

यह तो जादूकी प्रशंसा है कि उससे बिना हुए कुछ दीखता है । अतः यदि प्रपञ्च प्रतीत होता है तो हो । उसकी प्रतीति तो मायाका भूषण है ।

एक महात्मा श्रीजड़ियावावाजी महाराजके साथ कर्णवासमें रहते थे । एक दिन आकर श्रीमहाराजसे बोले : ‘आज मुझे आत्मदर्शन हो गया ।’

हम सबको कुतूहल हुआ : ‘कैसे हुआ ?’

पूछनेपर उन्होंने बतलाया : ‘मैं गुफामें ध्यान कर रहा था । सहसा लगा कि गुफाकी भित्तियाँ छत, भूमि कुछ नहीं हैं और मेरा शरीर भी नहीं है । केवल प्रकाश ही प्रकाश है, विश्व है ही नहीं ।’

‘यह प्रकाश तो दृश्य हुआ । यह आत्मा कैसे है ? विषय, करण, देश, काल आदिका चिन्तन छोड़कर देशातीत, कालातीत, द्रव्यातीत और देश-व्याप्य; कालव्याप्य, द्रव्यव्याप्य, देश-काल-द्रव्यके अस्तित्वसे शून्य स्वयं निर्विकार आत्मतत्त्व है ।

‘ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति’ : इसमें ध्याता, ध्यान, ध्येयको त्रिपुटी नहीं है । ‘आत्मानमात्मना’ यही सूचित करने आया है । यह आत्मज्ञानका साधन है ।

‘अन्येऽधिकारिणः मध्यमाः साङ्ख्येन योगेन आत्मना आत्मनि आत्मानं पश्यन्ति ।’

दूसरे मध्यम अधिकारी सांख्य-योगके द्वारा अपने आपमें अपने आपसे अपने आपको देखते हैं ।

‘अपरे च कर्मयोगेन आत्मना आत्मनि आत्मानं पश्यन्ति ।’

दूसरे कोई कर्मयोगके द्वारा अपने द्वारा अपने आपमें अपने आपको देखते हैं ।

‘पश्यन्ति’ : कर्म आत्माके साथ है, अतः सबके साथ इसका अन्वय ऐसा ही होगा ।

अब प्रश्न है कि सांख्ययोगके द्वारा आत्मदर्शन कैसे होगा ? सांख्ययोग ‘त्वं’ पदार्थका शोधन है । हम क्या-क्या देखते हैं ? शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन्हें कहाँ देखते हैं ? आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वीमें किनके द्वारा देखते हैं ? कर्ण, त्वचा, नेत्र, रसना और नासिका द्वारा इनमें वासना हो तो कर्मेन्द्रियोंके द्वारा इनको पानेका प्रयत्न करते हैं । मनमें इनकी वासना एकत्र होती है । हम मनमें ‘अहं’ करके बैठे हैं । अतः मनसे अहंको पृथक् करो ।

‘अहं’ बुद्धिमात्र है । बुद्धि अव्याकृतसे पृथक् नहीं है । मैं आत्मा, द्रष्टा हूँ । मैं द्रष्टा वितत देश और क्रम संवित्के प्रकाशक कालका भी प्रकाशक हूँ ।

जैसे यह मकान है । यह कहाँ है ? देशमें है । हम यह बात समझ सकते हैं कि मकान न रहे, तब भी देश (स्थान) रहेगा ही । अतः मकानका भाव-अभाव दोनों देशमें है, यह हम कल्पना कर सकते हैं; किन्तु यह कल्पना नहीं कर सकते कि देश न रहे, तब भी मकान रहेगा ।

हम मकानकी कल्पना करेंगे, तब समकालिकताकी कल्पना साथ रहेगी। मकानके ये खम्भे किसी कालमें बने थे और एक निश्चित कालतक रहेंगे। अतः ये इस समय एक साथ दीख रहे हैं। इनका भूत-भविष्य-वर्तमान कालमें है। खम्भे न हों तो भी काल (समय) रहेगा, यह कल्पना हम कर सकते हैं; किन्तु कालके बिना खम्भोंकी कल्पना सम्भव नहीं है।

अतः द्रव्यमात्रमें जन्यता अनुस्यूत रहती है। द्रव्य तो कार्य-कारणरूप दो अवस्थाओंको प्राप्त होता है; किन्तु देश और कालमें कार्य-कारणरूपता केवल द्रव्यकी उपाधिसे आती है।

जब हम देश और कालके अभावकी कल्पना नहीं कर सकते, तब कालका गुण अनादित्व और नित्यत्व तथा देशका गुण पूर्व-पश्चिमादिके परिच्छेदसे राहित्य-विभुत्व अपने प्रकाशक-अधिष्ठानमें ही रहेंगे। अतः इनका अधिष्ठान पूर्व-पश्चिमादि देश-परिच्छेदकी कल्पनासे विनिर्मुक्त; किन्तु परिपूर्ण और काल भूत-भविष्य-वर्तमानकी कल्पनासे विनिर्मुक्त; किन्तु अनन्त होगा।

अतः ब्रह्मरूप अधिष्ठानमें देश-काल दोनों सावयव रूपसे कल्पित हैं और निरवयव रूपसे अपने अधिष्ठान ब्रह्मसे पृथक् नहीं हैं।

द्रव्यकी उपाधिसे ही देश-कालमें सावयवता आयी है। द्रव्यका अभाव करके देश-कालकी कल्पनाका अधिष्ठान ब्रह्म ही है। देश-कालकी कल्पनाका प्रकाशक भी ब्रह्म ही है।

द्रव्यको उपाधिको 'अहं'के रूपमें ग्रहण करनेसे ही आत्मा परिच्छिन्न प्रतीत होता है। द्रव्यकी उपाधिको अपने साथ जोड़ना ही सम्पूर्ण अनर्थोंका मूल है। अतः सांख्य-योगके द्वारा विवेक करो। अपनेको द्रव्यका ही नहीं, देश-कालके द्रष्टाके रूपमें विवेक करो। यह देश-कालका द्रष्टा विभु होगा। इस द्रष्टामें जो अनेकत्व सांख्य कहता है, वह अनेकत्व भी दृश्य ही होगा। इस प्रकार जब सांख्यसे द्रष्टाका विवेक हो जाता है, तब वेदान्त स्पष्ट बतलाता है—'यह सांख्यके द्वारा विविक्ष आत्मा ही अद्वितीय ब्रह्म है। इसमें अन्य वस्तु नहीं है।'

'अन्ये सांख्येन योगेन'—अन्ये मध्यमाधिकारिणः।

यहाँ 'अन्ये'का तात्पर्य है : मध्यम अधिकारी। मध्यम अधिकारीको अपने भीतर शक्ति बढ़ानी चाहिए, क्योंकि सूक्ष्म विषयको ग्रहण करने तथा उसमें स्थिर होनेके लिए समर्थ बुद्धि चाहिए।

'सम्यक् ख्यायतेऽनया इति संख्या।'

जिससे कोई वस्तु भलीभांति प्रकट कर दी जाय, उसे संख्या कहते हैं। संख्या-प्रधान जो विचार-प्रणाली है उसे 'सांख्य' कहते हैं। सांख्य संसारके तत्त्वोंकी गणना करके बतलाता है।

'तत्कारणं सांख्ययोगादिगम्यम्।'—श्रुति

उस जगत्कारणका पता कैसे लगे ? सांख्य और योगादिसे उसका पता लगता है।

‘सांख्येन सर्वभावानां प्रतिलोमानुलोमतः ।’—भांगवत

सब पदार्थोंका विचार करो कि उनका लय किसमें होता है और उदय किससे होता है । तब उनका तात्त्विकरूप समझमें आयेगा ।

सांख्यमें तत्त्व चार प्रकारके माने जाते हैं :

१. कार्यतत्त्व : पञ्चमहाभूत । ये किसीके कारण नहीं हैं । इनका फिर कोई कार्य नहीं होता । यह विकारकी पराकाष्ठा है । शरीरादि पञ्चमहाभूतसे पैदा नहीं होते, केवल इनकी आकृति कल्पित होती है । जैसे घड़ा मिट्टीमें कल्पित आकारमात्र है । मिट्टी परिणाम-प्राप्त होकर घड़ा नहीं बनती ।

२. कारणतत्त्व : प्रकृति । प्रकृतिका कोई कारण नहीं है । सांख्यके मतमें प्रकृति अनादि और नित्य है ।

३. कारण-कार्य तत्त्व : महत्तत्त्व, अहंकार और पंचतन्मात्रा । इनमें महत्तत्त्वका कारण प्रकृति और कार्य अहंकार है । अहंकारका कारण महत्तत्त्व तथा कार्य पञ्चतन्मात्रा हैं । पंचतन्मात्राओंका कारण अहंकार तथा कार्य पञ्चमहाभूत हैं ।

४. ‘न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ।’ चौथा तत्त्व है : पुरुष । यह न प्रकृति है, न विकृति । यह कार्य-कारण दोनोंका द्रष्टा है । इस द्रष्टाका ही विवेक करना है ।

‘अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ।’

इसमें तीन साधनोंकी चर्चा है या चारकी ? कोई-कोई मानते हैं कि चार साधनोंकी चर्चा है : १. ध्यानेन २. सांख्येन ३. योगेन ४. कर्मयोगेन । कोई-कोई ‘सांख्येन-योगेन’ को एक ही मानते हैं ।

अब प्रश्न आता है कि ये तीनों या चारों पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र साधन हैं या एक ही साधनके ये तीन या चार अंग हैं ?

कई महापुरुष इन्हें एक ही साधनके अंग मानते हैं । उनका कहना है कि पहले कर्मयोग करो अर्थात् कर्मके द्वारा ईश्वरकी आराधना करो । मनुष्य देह, परिवार, जाति, भाषा, सम्प्रदाय, प्रान्तीयता, राष्ट्रीयता आदिके घेरेमें दृढ़ आग्रह करके अपनेको परिच्छिन्न मान बैठा है । इसे दूर करनेके लिए कर्मयोग करो । कर्म तो सभी करते हैं :

‘न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।’

कोई भी प्राणी एक क्षण भी कर्म किये बिना नहीं रहता ।

लेकिन कर्मयोग करना कितनोंको आता है ? चिड़िया वनमें पहले स्वयं खा लेती है, तब वृक्षोंके लिए चारा ले आती है । दूसरी चिड़ियोंके वृक्षोंको चारा नहीं देती । यह पशु-पक्षियोंका स्वभाव ही है । मनुष्य भी यदि अपने शरीर और परिवारके ही भरण-पोषणमें लगा रहता है तो उसमें मनुष्यता क्या है ?

मनुष्य केवल कर्म और भोगके लिए नहीं उत्पन्न हुआ है । ‘कर्मयोगेन’ उसके लिए उचित है कि वह कर्मके द्वारा योग करे । अपने कर्मका फल अपनी ओर आकर्षित न करके विश्वात्माके प्रति समर्पित करे ।

‘अनेन कर्मणा विश्वात्मा तृप्यताम् ।’

मेरे इस कर्मसे विश्वात्मा तृप्त हो ।

मनुष्य कर्म करे इस दृष्टिसे कि इससे संसारमें किसीका भी अहित न हो । विश्वात्माकी तुष्टिके लिए कर्म करे ।

‘हे पक्षियो ! मैं तुम्हें दाना डालता हूँ । हे पशुओ ! मैं तुम्हें घास देता हूँ । हे मनुष्यो ! मैं तुम्हें अन्न देता हूँ । हे देवताओ ! यज्ञके द्वारा मैं तुम्हें हविष्य देता हूँ ।’ ऐसा पृथक्-पृथक् संकल्प न करके, सबके हृदयमें अन्तर्यामी रूपसे विराजमान जो ईश्वर है, उसके प्रति अपना कर्म समर्पित करते रहना कर्मयोग है; उस ईश्वरके लिए कर्म करना । किसी व्यक्ति, परिवार, वर्ग, समाज वर्ण-आश्रम, गाँव-जिला-प्रान्त-राष्ट्र या सम्प्रदायके लिए कर्म नहीं करना ।

‘मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ।’—गीता

भगवान्ने कहा : ‘मेरेलिए कर्म करते हुए भी तुम सिद्धि-परमार्थको प्राप्त कर लोगे ।’

सर्वान्तर्यामी, सर्वनियन्ताके लिए कर्म करो । भले ही हम करोड़ों रुपये दान करें; किन्तु यदि हम उससे यश अथवा स्वर्ग पाना चाहते हैं तो यह कर्म योग नहीं है । कर्मयोग यह है कि अपने भागका जो कर्म, धर्म हो वह हम करें; किन्तु अपने लिए न करके सर्वान्तर्यामी परमपुरुषके लिए करें ।

इस कर्मयोगसे वासनाएँ निवृत्त होंगी । कर्ता-भोक्तापनका अभिमान शिथिल होगा । हृदय शुद्ध होगा । ‘परमेश्वर क्या है ? सत्य क्या है ?’ यह जिज्ञासा उदित होगी । जो व्यक्ति देह, परिवार, जाति आदिकी संकीर्ण-वासनासे ऊपर उठकर कर्म करता है, उसमें विविदिषा, जिज्ञासाका उदय होता है ।

जब जिज्ञासाका उदय होगा, तब वह परमात्माके विषयमें विचार करेगा । इस प्रकार कर्मयोग उसे योगमें पहुँचा देगा । कर्मयोग द्वारा वासना क्षीण होनेसे मनकी चञ्चलता मिटेगी । वह शान्तचित्त होगा । तब उसे मनके द्रष्टाका विवेक समझाया जा सकेगा । इस प्रकार कर्मयोग उसे सांख्ययोगका अधिकारी बना देगा ।

‘सांख्येन योगेन’ : प्रमाणगत असम्भावना दूर करनेके लिए श्रवण-मनन होता है । जब अन्तःकरण कर्मयोगसे शुद्ध हुआ तो यह जिज्ञासा हुई कि जिस ईश्वरके लिए हमने कर्म किया, उस ईश्वरका स्वरूप क्या है ?

इस जिज्ञासाका उदय होनेपर दो मार्ग हैं : १. मनके निरोधकी प्रधानतासे योग और २. विचारकी प्रधानतासे सांख्य । श्रीरमण महर्षि कहते हैं :

‘दिशि हृदि मनसा त्वां चिन्वता मज्जता वा
पवनचलनरोधाद् ब्रह्मरूपो भव त्वम् ।
हृदयकुहरमध्ये निर्विकारे निरीहे
अहमहमिति साक्षाद् ब्रह्मरूपेण भाति ॥’

हृदयमें तुम डूब जाओ—वृत्तिनिरोध करलो अथवा मनके द्वारा अन्वेषण

करो। वृत्तिनिरोध करना हो तो प्राणायाम द्वारा श्वास-निरोध करके अपने ब्रह्म-स्वरूपमें स्थित हो जाओ। अन्वेषण करना हो तो देखो कि सबके हृदयमें 'अहं', 'अहं' रूपसे वह साक्षात् ब्रह्म ही भासमान है।

'अहं', 'अहं' के विचारमें नाम-रूप-आकृतिका विचार मत करो। विचार करो कि इस 'अहं' का अधिष्ठान कौन है ?

‘योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।’—यो० सू० १।२

योग क्या है ? चित्तवृत्तियोंका निरोध।

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।’—यो० सू० १।३

इस चित्तवृत्ति निरोधसे क्या होगा ? तब द्रष्टा अपने स्वरूपमें स्थित हो जायगा।

योग मनोनिरोध-प्रधान है। वृत्तिधाराके नैश्चल्यका नाम योग है। इसमें नैश्चल्यकालमें द्रष्टा अपने स्वरूपमें स्थित रहता है :

‘वृत्तिसारूप्यमितरत्र।’—यो० सू० १।४

वृत्तिके चंचल होनेपर द्रष्टा अपनी स्वरूपावस्थितिको नहीं देख पाता। वह वृत्तिसे तादात्म्यापन्न हो जाता है।

सांख्यमें वृत्ति-नैश्चल्य अपेक्षित नहीं है। सांख्यमें वृत्तिनिरोध और वृत्ति-चांचल्य दोनोंमें द्रष्टा द्रष्टा ही रहता।

संसारके सब चराचर देह पंचमहाभूतमें कल्पित हैं। पंचमहाभूतोंका लय पंचतन्मात्राओंमें, पंचतन्मात्राओंका लय अहंकारमें, अहंकारका लय महत्तत्त्वमें और महत्तत्त्वका लय प्रकृतिमें होता है। इन सबके लीन होनेपर भी 'मैं' लीन नहीं होता।

सांख्यशास्त्र दो प्रकारका संसार मानता है : १. प्राकृतिक और २. प्रातीतिक। इसी बातको श्री वल्लभाचार्यजी इस प्रकार कहते हैं—‘एक संसार है और एक जगत् है। स्त्री-पुरुष आदि देह पंचमहाभूतोंकी धारामें बने हैं। यह प्राकृतिक सृष्टि-जगत् है। ‘यह मेरा पति, यह मेरी पत्नी’ यह प्रातीतिक सृष्टि है। यह संसार है।

‘पृथ्वी-समुद्र-पर्वत, सूर्य-चन्द्र-तारे, पंचमहाभूत, मनुष्य-पशु-पक्षी, वृक्ष-भवन-खेत, स्वर्णादि धातुएँ प्राकृतिक सृष्टि हैं। यह जगत् है। इसमें ‘मैं-मेरा’ कर लेना—यह संसार है। यह अहंता-ममताका सम्बन्ध प्रातीतिक होनेसे अविवेकजन्य है।’

‘जगत् प्राकृतिक निर्माण है। यह किसीको दुःख नहीं देता। दुःख देता है ‘मैं-मेरा’ भावरूप संसार। संसारमें दुःख है, जगत्में नहीं।’

‘सम्पूर्ण जगत् प्रकृतिका विलास है’ यह मत सांख्यका है और श्रीवल्लभाचार्यके मतमें ‘सम्पूर्ण जगत् परमात्माका विहार है।’

पुरुष इसमें अपनेको पृथक् न जानकर प्रकृति एवं प्राकृत कार्योंमें ‘मैं-मेरा’ करके आवद्ध हो गया है। इसीसे सुखी-दुःखी, कर्ता-भोक्ता, स्वर्ग-नरक जाने-

वाला हो रहा है। प्राकृत सृष्टिमें दुःख नहीं है। अविवेककृत 'ग्रहंता-ममता' रूप सम्बन्धसे दुःख है।

वेदान्तके मतमें सृष्टि दो प्रकारकी है। ईशसृष्टि और जीवसृष्टि। ईशसृष्टिमें सुख-दुःख नहीं है। ईश्वरने चन्द्र-सूर्य-तारे, पृथ्वी-नदियाँ-समुद्र-पर्वत, वृक्ष-पशु-पक्षी, स्त्री-पुरुष बनाये हैं। इस ईशसृष्टिमें 'यह देह मैं, ये सम्बन्धी मेरे यह धन-भवन मेरा और शेष दूसरोंका।' यह जीवने अपनी एक सृष्टि बना ली है। यह जीव-सृष्टि ईश्वराज्ञानमूलक है। इस जीवसृष्टिमें ही दुःख है।

इसका अर्थ हुआ कि हमारे दुःखका उत्तरदायी न ईश्वर है, न प्रकृति। इसके उत्तरदायी स्वयं हम हैं। हमारी भूल ही इसकी उत्तरदायिनी है।

एक महात्मा कहते थे : 'मनुष्य द्विगुण दुःखी है। एक तो आनन्दवंचित होनेसे, दूसरे उसे अज्ञानी बता दिया।'

कोई अज्ञानी हुए बिना न तो कभी दुःखी हो सकता है और न अपनेको जन्मने-मरनेवाला शरीर मान सकता है।

सांख्यके द्वारा यह विवेक होता है कि—जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति, सृष्टि-स्थिति-प्रलय, इन तीनोंका द्रष्टा मैं हूँ। अतः मैं इनसे तटस्थ हूँ।

तब जिज्ञासा होती है : 'मैं कौन हूँ ?'

इस जिज्ञासासे अर्थात् सांख्ययोगसे 'ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति'का अधिकारी हो जाता है। तब श्रवण-मनन-निदिध्यासनसे प्राप्त ज्ञानके द्वारा 'आत्मनि हृदये' अपनेमें अर्थात् हृदयमें 'आत्मना स्वेनैव' अपने आपसे ही 'आत्मानं परमेश्वरं पश्यन्ति अनुभवन्ति' अपने आपको ही सर्वद्रष्टा, चिन्मात्र आत्माको परमात्माके रूपमें अनुभव करता है। इस प्रकार ये साधन परस्पर समन्वित हैं। पृथक्-पृथक् साधन नहीं हैं।

श्री वाचस्पति मिश्र कहते हैं : 'जिस समय अखण्डार्थधीका उदय होता है, ब्रह्मात्मैक्यबोधसे अविद्याकी निवृत्ति होती है, उस समय वह वृत्ति भी तो स्वयं अविद्याकी ही होती है। वह अविद्यारूप ही है। अतः वह अविद्याको कैसे निवृत्त करेगी ? इसलिए अविद्याकी वृत्ति अविद्याको निवृत्त नहीं करती। वृत्त्यारूढ चैतन्य अविद्याको निवृत्त करता है। वह वृत्त्यारूढ चैतन्य 'आत्मना आत्मनि आत्मानं पश्यति।'

यह अज्ञान हिरण्यकशिपु है। यह न दिनमें मरता है और न रातमें। न बाहर मरता है और न भीतर। न मनुष्यसे मरता है और न पशुसे।

**'वृत्त्यारूढेन आत्मना अनारूढम् अखण्डम् आत्मानम्
आत्मनि देश-काल-वस्तुपरिच्छेदव्यतिरिक्तं पश्यन्ति अनुभवन्ति।'**

वृत्त्यारूढ चैतन्यके द्वारा अनारूढ अखण्ड आत्मस्वरूप देश-काल-वस्तु-परिच्छेदसे रहित अपने आपमें ही अनुभव किया जाता है।

वहाँ कर्मयोग, योग अथवा सांख्यका विवेक कहाँ ? इनकी तो वहाँ पहुँच ही नहीं है। निदिध्यासात्मिका वृत्ति-विपर्ययनिर्वतक अथवा मनन-श्रवणमें कर्म-

योग, योग अथवा सांख्यकी पहुँच नहीं है। उससे पूर्व जिज्ञासावृत्तिमें भी इनकी पहुँच नहीं है। उससे पूर्व शम-दमादि षट्सम्पत्तिमें भी कर्मकी पहुँच नहीं है। शम-दमादि साधन-सम्पत्तिकी उत्पत्तिके पूर्व अन्तःकरणमें वासनाएँ भरी हैं, उन्हें निवृत्त करके अन्तःकरणको ईश्वराभिमुख करनेमें कर्मयोगकी उपयोगिता है।

‘कर्मयोगेन चापरे’ : यहाँ प्रश्न उठता है कि कर्मयोग केवल अन्तःकरण-शुद्धिका ही साधन है या वह ज्ञान भी दे सकता है ?

एक ओर श्रुति यह कह रही है :

‘न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानुशुः ।’—महानारायण १०

कर्मसे अर्थात् धर्म पुरुषार्थसे अमृतत्व नहीं मिलता; क्योंकि इसमें लोकैषणा रहती है। ‘प्रजया’ अर्थात् काम पुरुषार्थसे भी अमृतत्व नहीं मिलता; क्योंकि इसमें पुत्रैषणा रहती है। ‘धनेन’ अर्थात् अर्थ पुरुषार्थसे भी अमृतत्व नहीं मिलता। इसमें वित्तैषणा मिली रहती है। केवल त्यागसे ही कोई-कोई अमृतत्वका उपभोग करते हैं। त्रैवर्गिक आयाससे ज्ञान नहीं हो सकता। चतुर्थ पुरुषार्थ मोक्ष त्रिवर्गसे प्राप्य नहीं है।

केवल त्यागसे अमृतत्व मिलता है तो :

‘कस्य त्यागेन ?’

किसके त्यागसे ?

‘कर्मत्यागेन = लोकैषणात्यागेन, प्रजात्यागेन = पुत्रैषणात्यागेन, धन-त्यागेन = वित्तैषणात्यागेन ।’

कर्मत्याग अर्थात् लोकैषणाके त्यागसे, प्रजात्याग अर्थात् पुत्रैषणाके त्यागसे और धनत्याग अर्थात् वित्तैषणाके त्यागसे कोई-कोई अमृतत्व प्राप्त करते हैं।

तब तो अपने आप संन्यास प्राप्त हो गया; किन्तु दूसरी ओर श्रुति यह भी तो कहती है :

‘तमेके ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन ।’

उस आत्मतत्त्वकी जिज्ञासा कोई-कोई वेदज्ञ यज्ञसे, दानसे और तपस्यासे करते हैं।

इस श्रुतिका तात्पर्य है कि यज्ञ, दान, तपादिसे जिज्ञासा उत्पन्न होती है।

इस सम्बन्धमें भामती-प्रस्थान तो कर्मयोगको अन्तःकरणकी शुद्धिका ही साधन मानता है। किन्तु विवरण-प्रस्थानवा मत थोड़ा भिन्न है। वे कहते हैं जैसे कोई कहे :

‘अश्वेन जिगमिषति’

घोड़ेसे जाना चाहता है। इसमें मुख्य अर्थ ‘जाना’ है, केवल ‘जानेकी इच्छा’ मुख्यार्थ नहीं है। इसी प्रकार श्रुतिमें जो ‘विविदिषन्ति’ है, उसका भी मुख्यार्थ ‘विन्दन्ति’—जानते हैं, यही है।

अब प्रश्न उठा कि यज्ञसे कैसे जानते हैं ?

यज्ञ करेंगे तो वेदपर श्रद्धा होगी । यज्ञसे स्वर्ग मिलता है, यह श्रद्धा होगी । इससे स्वर्गमें जानेवाले देहातिरिक्त आत्माका ज्ञान होगा । इस प्रकार यज्ञसे देहमें अनात्मबुद्धि, देहपतनके पश्चात् आत्माके अस्तित्वपर आस्था तथा श्रुतिके तात्पर्य-निर्णयकी प्रक्रियाका ज्ञान—इतनी बातें हो गयीं ।

इससे लोकमें देहको लेकर होनेवाली प्रवृत्तिका निवारण हुआ । आत्मा देहसे भिन्न है, इस चिन्तनमें प्रवृत्ति हुई ।

अब इस विवेकका उदय होगा कि 'यज्ञका फलदाता कौन है ?'

यज्ञका फलदाता ईश्वर है ।

तब जिज्ञासा होगी : 'ईश्वर कैसा है ?'

कर्मकी प्रतिक्रिया नैष्कर्म्य है । कर्म करते-करते नैष्कर्म्यावस्था प्राप्त होती ही है । कर्तृत्व स्वतः शिथिल हो जाता है ।

जैसे 'त्वं' पदार्थके शोधनमें विवेकका प्राधान्य है, वैसे ही 'तत्' पदार्थके शोधनमें भक्तिका प्राधान्य है ।

‘मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।

कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् ।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ॥’

—गीता १०।९-१०

जिनका चित्त मुझमें लगा है, जिनका जीवन-प्राण मैं बन गया हूँ, ऐसे लोग परस्पर एक दूसरेका उद्बोधन करते हैं, सदा मेरा वर्णन करते हैं और इसीसे सन्तुष्ट होते हैं, इसीमें आनन्द मानते हैं । इस रीतिसे प्रीतिपूर्वक मेरा भजन करते हुए जो निरन्तर मुझमें ही लगे हैं, उन्हें मैं वह बुद्धियोग, ज्ञान देता हूँ जिससे वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं ।

कर्मयोगके सम्बन्धमें प्रश्न है कि वह किसके लिए किया गया ?

‘योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये ।’—गीता ५।११

योगी लोग आसक्ति त्यागकर अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए कर्म करते हैं । उन्हें उससे अन्तःकरणकी शुद्धि प्राप्त होती है ।

‘स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ।’—गीता १८।४६

अपने कर्मसे उस अन्तर्यामी परमात्माकी अर्चना करके मनुष्य सिद्धि, मानव-जीवनका साफल्य या मोक्ष प्राप्त करता है ।

देशभक्ति, मातृभक्ति, पितृभक्ति, समाज-सेवादिके साथ 'योग' शब्द नहीं है । जब भक्ति ईश्वरके प्रति की जाती है, तब उसे भक्तियोग कहते हैं । घट-पट आदिके ज्ञानको 'ज्ञानयोग' नहीं कहते । ईश्वरके ज्ञानको 'ज्ञानयोग' कहते हैं । इसी प्रकार सांसारिक कर्मोंको 'कर्मयोग' नहीं कहते । कर्म जब ईश्वरकी प्रसन्नताके लिए किये जाते हैं, तब उन्हें कर्मयोग कहते हैं ।

ईश्वरप्रसादसम्पत्त्यर्थं कृतं कर्म कर्मयोगः ।'

कर्मयोग वही कर्म है, जिसके करनेमें कर्ताका यह भाव हो कि 'इससे ईश्वर प्रसन्न हो ।'

वस्तुतः आत्मा-परमात्मामें भेद नहीं है। बीचमें आगन्तुक पदार्थ आ गये हैं। जब कर्म ईश्वरार्पित किया जाता है, तब संकीर्ण भावनाएँ दूर होने लगती हैं। भगवान् ने कहा है :

‘ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ।’—१०।१०

मैं वह बुद्धियोग देता हूँ, जिससे वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं।

‘तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः ।

नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥’—गीता १०।११

उनपर अनुग्रह करनेके लिए ही मैं उनके अज्ञानके अन्धकारको उनके आत्मभावमें स्थित होकर प्रकाशमय ज्ञानप्रदीपसे नष्ट कर देता हूँ।

ईश्वर भी ज्ञानदीपके द्वारा ही अविद्याकी निवृत्ति करता है। वह ज्ञानदीप कैसा ? ‘भास्वता’ अर्थात् प्रतिबन्धशून्य है। उस ज्ञानदीपको बुझानेकी सामर्थ्य किसीमें नहीं है। इसका तात्पर्य है कि कर्मयोगसे सुप्रसन्न ईश्वर अन्तःकरणमें अन्तर्यामी होकर तत्त्वज्ञान देता है।



● संगति

...ये सब बातें जिसकी समझमें नहीं आतीं, जिसमें अपनी बुद्धि नहीं है, वह क्या करे ?

अपने पास बुद्धि न हो तो बुद्धिमान्पर श्रद्धा करो। जब स्वयंको मार्गका पता नहीं होता तो हम किसीसे पूछते हैं। वह कोई ऐसा मोड़ बतलाता है, जिसे हम स्मरण नहीं रख पाते तो उसे साथ ले लेते हैं।

आपको कोई संत मिला ? किसीपर आपका विश्वास है ? है तो उसके अनुभवका लाभ क्यों नहीं उठाते ?

वह व्यक्ति बहुत दयनीय है, जिसका किसीपर विश्वास नहीं है। श्रद्धा करना पाप तो है नहीं। लोग कहते हैं : 'हम श्रद्धा तो करते हैं; किन्तु अन्ध-श्रद्धा नहीं करते।'

तुम औरोंपर न सही, अपनी बुद्धिपर तो अन्धश्रद्धा करते हो। तुम अपनी बुद्धिसे ही सम्मोहित हो रहे हो। यथार्थ-ज्ञानमें अपनी बुद्धिका यह अभिमान ही बाधा डाल रहा है। श्रद्धा पाप नहीं, संशय पाप है :

‘नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।’—गी० ४।४०

संशयग्रस्त-चित्त व्यक्तिका हित न इस लोकमें है, न परलोकमें। उसे कहीं सुख नहीं है।

‘संशयात्मा चिन्श्यति।’

संशयग्रस्त-चित्त व्यक्तिका विनाश होता है।

यदि आप मार्ग नहीं जानते, तो पूछिये। जन्मसे ही सब सीखकर कोई उत्पन्न नहीं होता। जो कुछ आपने सीखा, लोगोंसे ही सीखा है। अतः यदि ईश्वर-सम्बन्धी ज्ञानमें न्यूनता है, तो उसे दूसरे जानकारोंसे सीखते क्यों नहीं ?

‘नाश्रद्धानाय हचिर्युपन्ति देवाः।—ऋग्वेद

अश्रद्धालु पुरुषका पालन-पोषण देवता नहीं करते।

‘श्रद्धया सत्यमाप्यते।’—श्रुति

‘प्रातः श्रद्धां हवामहे श्रद्धां मध्यंदिने परे।’

हम प्रातः श्रद्धाका आह्वान करते हैं। सायंकाल आवाहन करते हैं कि ‘श्रद्धा देवी, आओ !’

यह अन्धेको मार्ग बतलानेवाली हैं। यह अविवेकीपर कृपा करके उसका पालन-पोषण करनेवाली हैं।

एक ग्रन्थमें पूछा गया :

‘इह सन्तो न वसन्ति सतो वा त्वं नानुवर्तसे।

यथैवं विपरीतास्ते बुद्धिराचारवर्जिता ॥’

क्या यहाँ कोई सत्पुरुष नहीं रहते ? अथवा तुम सत्पुरुषोंका अनुवर्तन नहीं करते, जो तुम्हारी बुद्धि ऐसी उल्टी है और तुम सदाचार-हीन हो ।

बच्चोंपर लोग बचपनमें तो सदाचार, अनुशासन-पालनके संस्कार नहीं डालते । कहते हैं : 'बड़ा होगा तो स्वतः सीखेगा ।'

सीखेगा सही; किन्तु जब अग्निमें हाथ डालकर अपने हाथ जला लेगा, अपनी हानि कर लेगा तब !

अतः जिनमें अपनी बुद्धि नहीं है, वे आत्मोद्धारके लिए क्या करते हैं, यह बतलाते हैं :

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वाऽन्येभ्यः उपासते ।

तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥ २५ ॥

जो दूसरे इस प्रकार (पहले बतलाये साधनोंमें-से किसीके द्वारा) नहीं जानते, दूसरोंसे सुनकर उपासना करते हैं । वे श्रवण-परायण (सुने तत्त्वमें श्रद्धा रखनेवाले) भी मृत्युको पार कर ही जाते हैं ।

'अन्ये त्वेवमजानन्तः' : जो न ब्रह्मको जानते, न मायाको और न मायाके अधिष्ठानको जानते हैं तथा जो न ध्यान कर सकते, न सांख्य या योग अथवा कर्मयोगका आचरण कर सकते हैं ।

'श्रुत्वाऽन्येभ्यः उपासते' : वे किसीसे श्रवण करके सुने हुए तत्त्वकी उपासना करते हैं । उसमें अपने चित्तको स्थित करते हैं ।

'तेऽपि चातितरन्त्येव' : कहना तो इतना ही पर्याप्त था कि 'ते मृत्युं तरन्ति' : वे मृत्युको पार कर जाते हैं; किन्तु 'अपि' 'च' और 'एव' यह सूचित करनेके लिए है कि यह साधक गौण है ।

फल अव्यभिचारी है 'अतितरन्ति एव' : पार कर ही जाते हैं; क्योंकि असत्में उनका अहंभाव नहीं रहता ।

असत्में 'मैं' कर लेना ही मृत्यु है । जो मरनेवाला घोड़ा था (देह) उससे उतर गये—जड़से 'मैं' पृथक् कर लिया : मूर्खता छूट गयी । दुःखके आधार-से 'मैं' हट गया तो परमानन्दकी प्राप्ति हो गयी । 'मैं' सच्चिदानन्द हो गया ।

परिच्छिन्नमेंसे 'मैं' हटा और श्रुतिपरायण होनेसे अद्वितीय ब्रह्म हो गया । श्रद्धायुक्त अन्तःकरणसे श्रुतपदार्थ 'तत्त्वमसि'के परायण हो जाओ तो इस 'अहं-ग्रहोपासना'से भी मृत्युका अतिक्रमण हो जायगा ।



● संगति

...अब इस प्रसङ्गका उपसंहार करते हैं :

यावत्सञ्जायते किञ्चित् सत्त्वं स्थावरजङ्गमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥२६॥

भरतवंशमें श्रेष्ठ अर्जुन ! अचर या चर जो कुछ उत्पन्न होता है, उसे क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके संयोगसे हुआ जानो ।

‘सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्’ : सृष्टिमें जहाँ भी सत्ता प्रतीत होगी, वह जड़ प्रतीत होगी या चेतन, अचर होगा या चर होगा ।

‘संजायते किञ्चित्’ : लेकिन उसे उत्पन्न होना चाहिए । जो उत्पन्न नहीं होता, उस अद्वितीय तत्त्वका तो तुम्हें अपने रूपमें अनुभव करना है । अपनेसे पृथक् जो कुछ भी अचर या चर उत्पन्न होता या हुआ प्रतीत होता है, वह क्या है ?

‘क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् तद्विद्धि’ : उसमें क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका संयोग है, ऐसा समझो ।

क्षेत्रज्ञ द्रष्टाके बिना तो दृश्यकी स्थिति ही नहीं है । तुम नहीं होगे तो दृश्य होगा किसके लिए, और तुम द्रष्टा भी इसीलिए हो कि दृश्य है । चिज्जड़ग्रन्थि— एक अद्वितीय नित्य-शुद्ध-बुद्ध आत्मतत्त्वमें ‘स्थावर-जङ्गम’की प्रतीति मायासे ही है । यह प्रतीति ही क्षेत्र है । अतः क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके संयोगके बिना प्रतीति हो नहीं सकती ।



● संगति

...स्थावर-जंगम-सत्त्वमात्र—जहाँ जो कुछ उत्पन्न हुआ, उत्पन्न है या उत्पन्न होगा, वह है तो क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके संयोगसे ही; किन्तु इसे इसे प्रकार जानना तथ्य-दर्शन या परमार्थ-सत्यका दर्शन नहीं है। तब परमार्थ-सत्यका दर्शन क्या है ? कहते हैं :

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।

विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥२७॥

सब विनाशशील प्राणियोंमें अविनाशी रूपसे समान-स्थित परमेश्वरको जो देखता है, वह (परमार्थ-सत्य) देखता है ।

केवल परमार्थ-तत्त्व अविनाशी है। वह विषममें सम है, अनेकमें एक है, उत्पत्ति-विनाशशीलमें अजन्मा है, तो गतिशीलमें स्थिर है, पराधीनमें स्वाधीन ।

‘सर्वेषु भूतेषु’ : ये सब भूत—प्राणि-पदार्थ विषम हैं। ये छोटे-बड़े, मोटे-दुबले, लम्बे-ठिगने, अधिक-कम आदि अनेक विषमताओंसे युक्त हैं; किन्तु इनमें वह परमेश्वर सम है। उसमें कहीं कोई तारतम्य नहीं है।

ये स्थावर-जंगम सब भूत अस्थिर हैं। ये नित्य परिवर्तनशील हैं; किन्तु वह परमेश्वर ‘तिष्ठन्तं’ स्थिर, निर्विकार और एक रस है।

‘विनश्यत्स्वविनश्यन्तं’ : ये सब भूत नाशवान् हैं। प्रतिक्षण प्रत्येक कण उत्पन्न होता और नष्ट हो रहा है। जन्म और मृत्यु साथ-साथ पदसे पद मिलाकर चल रहे हैं; किन्तु इनमें स्थित परमेश्वर अविनाशी है।

‘यः पश्यति स पश्यति’ : उस परमात्माको जो देखता है : दृढ़मात्र है, उसे जो आत्मरूपसे देखता-अनुभव करता है, वही देखता है, ठीक-से देखता है।



● संगति

...अब इस प्रत्यग् ब्रह्मदर्शी, अपने आत्मासे अभिन्न ब्रह्म देखनेवालेकी स्तुति करते हैं ।

प्रशंसा प्रेरणा देनेके लिए होती है । अन्यथा प्रशंसनीय तो कुछ है नहीं । तत्त्व एक है, लेकिन आत्मज्ञानमें सबको प्रवृत्त होना चाहिए । जिज्ञासाकी उत्पत्तिके लिए ज्ञानीकी प्रशंसा करते हैं :

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।

न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥२८॥

सर्वत्र समानरूपसे अवस्थित ईश्वरको देखता है, तो अपने आपसे अपने आपकी हिंसा नहीं करता । इससे परम गति पाता है ।

‘हि’ = यतः समं सर्वत्रावस्थितम् ईश्वरं पश्यन् आत्मनात्मानं न हिनस्ति ततः परां गतिं याति ।’

क्योंकि सम सर्वत्र अवस्थित ईश्वरको देखते हुए अपने आपसे अपने आपकी हिंसा नहीं करता : इसलिए परमगतिको प्राप्त करता है ।

‘समं’ : सबमें एक-सा देखो ।

‘अशरीरं शरीरेषु अनवस्थेष्ववस्थितम् ।’

शरीर कल्पित हैं; वह अकल्पित है । सभी स्थावर-जंगम अनवस्थ, स्थितिहीन हैं, पर वह अचल, अडिग, स्थिर है ।

‘न हिनस्त्यात्मनात्मानं’ : आत्मघाती कौन है ? जो इस परमात्माको नहीं जानता ।

आत्मा तो अविनाशी है, अतः आत्महिंसा तो प्राप्त ही नहीं है, अतः उसका निषेध कैसे करते हो ? कोई अपने आपका नाश तो चाहता नहीं है ।

‘प्राप्तौ सत्यां निषेधः ।’

कोई बात कहींसे प्राप्त हो, होना सम्भव हो तो उसका निषेध होता है । प्राप्त ही नहीं तो निषेध कैसा ?

अपनी हिंसा प्राप्त है । साक्षादपरोक्ष अपना आत्मा साक्षी, ब्रह्म, अविनाशी, अपरिच्छिन्न, अद्वय, चैतन्य है । इसकी हिंसा है : इसे विनाशी, परिच्छिन्न, अनेक, जड़ मानना । जैसे विद्वान्को मूर्ख और धनीको कङ्काल कहना उसकी हिंसा, उसका तिरस्कार है । मनुस्मृतिने कहा है :

‘न तस्मात् पापकृत्तमः ।’

उससे बड़ा पापी कोई है ही नहीं, जो अपने नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त आत्माको न जानकर अपनेको जन्मने-मरनेवाला मानता है। श्रुतिने कहा :

‘असूर्या नाम ते लोकाः अन्धेन तमसावृताः ।

तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥’—ईशा० ३

वे प्रकाशहीन लोक घोर अन्धकारसे ढँके हैं। वे मरकर वहाँ जाते हैं : जो आत्मघाती लोग हैं।

ज्ञानस्वरूप अपनेको अज्ञानी जानना आत्महिंसा है। किसीसे राग-द्वेष कर लेना कि उसके बिना हम जी नहीं सकते, यह आत्महिंसा है।

परिपूर्ण स्वरूप अपनेको परिच्छिन्न जानना आत्महिंसा है।

यह शत्रु हमें मार डालेगा—ऐसा भय करना, सत्स्वरूप अपनेको मरणधर्मा मानना आत्महिंसा है।

कोई ऐसी वस्तु, व्यक्ति या स्थिति नहीं है, जिसके बिना आत्मा रह न सके। कोई ऐसी वस्तु या व्यक्ति भी नहीं है जो आत्माको नष्ट कर सके।

अपनेमें अपूर्णताकी भावनासे दूसरेके प्रति राग होता है।

अपनेमें भयकी भावनासे दूसरेके प्रति द्वेष होता है।

अपनेको देह मानना आत्महिंसा है।

ईश्वर-दर्शनका फल यह है कि ‘न हिनस्त्यात्मनात्मानं’ अपने आप अपनी हिंसा नहीं करता।

‘समं पश्यन् हि सर्वत्र’ : काल एक ही होता है। उसमें मिनट, घण्टा, दिन-रात, सप्ताह-पक्ष, मास-ऋतु, संवत्सर, युग-मन्वन्तर, कल्प-महाकल्प ये भेद कल्पित हैं—औपाधिक हैं। काल निरवयव है, यह बात सर्वदर्शन-प्रतिपन्न है। निरंशकालमें सूर्य, चन्द्र, पृथिव्यादिकी उपाधिसे ये क्षण, घण्टा, प्रहर, दिन, मासादि कल्पित हैं।

पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिणादि दिग्भेदको भी सभी दर्शनकार औपाधिक मानते हैं। हमारे शरीरको उपाधिसे पूर्व-पश्चिमादि भेद होता है। मध्यमें द्रव्यकी उपाधिसे ही निरवयव देशमें भेद-कल्पना की जाती है।

नाक, कान, मुख या शरीरके भीतरके आकाशमें क्या भेद है ? मैत्रके भीतरका आकाश और चैत्रके भीतरका आकाश, यह भेद आकाशमें नहीं है। उपाधि-भेदसे ही आकाशमें भेदकी कल्पना की जाती है।

जब तुम निराकार आकाशमें, निरवयव कालमें, निरवयव देशमें भेदको औपाधिक मानते हो, तब ज्ञानस्वरूप चैतन्यमें—जिससे भेद-अभेद दोनोंकी सिद्धि होती है—भेद कैसे मानते हो ? उसमें भेद कहाँसे आयेगा ? उसमें भेदकल्पना भी औपाधिक ही है।

‘भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।’—गीता ८।१९

समझो कि श्मशानके समीप एक भूतोंका गाँव है। उसमें सब भूत ही रहते हैं—नाटे-लम्बे, मोटे-पतले, काले-गोरे, सींगवाले ! किसी-किसीके अनेक पैर या अनेक सिर ! उनका परस्पर विवाह होता है। उनके बेटे-बेटियाँ होती हैं। रात्रिके अन्धकारमें यह भूतोंका गाँव बार-बार प्रकट होता है और बार-बार लीन हो जाता है।

यह प्रपञ्च—दृश्य जगत् भूतग्राम ही है। यह ‘रात्रौ अज्ञानदशायां’ रात्रिमें अर्थात् अज्ञान-दशामें बार-बार प्रकट होकर लीन होता है।

‘सन्सूलाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः ।’

इस देश-काल-वस्तुका मूल सत्य है। देश-काल-वस्तुका अधिष्ठान सत्य है। देश-काल-वस्तुका प्रतिष्ठान सत्य है। इसमें जो भेद-प्रतीति है, वह सर्वथा बुद्धिकी उपाधिसे है। आकाश, दिक्, काल, मैं-तू, यह-वह, कार्य-कारण आदि समस्त भेद बुद्धिकी उपाधिसे प्रतीत होता है। ‘तत्त्वमसि’ आदि महावाक्योंसे इस भेदकी निवृत्ति करके अपनेको अपरिच्छिन्न, अद्वितीय ब्रह्म जान लो।

‘समं पश्यन् हि सर्वत्र’ : आजके वेदान्ती कहते हैं : ‘हमें ज्ञान हो गया। हमारी आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त है। हमारे अन्तःकरणमें राग-द्वेष, काम-क्रोध आयेँ या जायँ। लेकिन दूसरे लोग अज्ञानी हैं। वे राग-द्वेष, पाप-पुण्य करते हैं तो स्वर्ग-नरक जाते हैं।

ऐसी बात करना या सोचना अज्ञानकी पराकाष्ठा है।

‘समं पश्यन्—विषयेषु समम्’ : नासिका सूँघनेवाली है, कर्ण सुननेवाले हैं, जीभ रस लेनेवाली है, त्वचा छूनेवाली है, नेत्र देखनेवाले हैं। इन सब शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध विषयोंमें सम देखें। इनमें जो देश, काल, सत्ता, माया, ईश्वर है, वह सबमें सम है। परमार्थ-स्वरूप जो परमात्मा है, वह भी इनमें सम है।

‘समं पश्यन् हि सर्वत्र’ : यदि आप समको देखोगे तो ‘मा’ को देखोगे। ‘मा = प्रमा—यथार्थज्ञान, लक्ष्मी, शोभा ।’ यह यथार्थज्ञानरूप प्रमा तभी प्राप्त होगी, जब समत्वका दर्शन होगा।

‘सर्वत्र समवस्थितम्’ : एक अवस्थिति होती है और एक समवस्थिति। ‘अवस्थितं कुत्रचिदवस्थितं’ अवस्थितिका अर्थ है, कहीं स्थित होना :

‘सर्वत्र अवस्थितं समवस्थितम् ।’

सर्वत्र स्थित होना समवस्थित होना है।

‘सर्वस्मिन् देशे—देशाभावे च,

सर्वस्मिन् काले—कालाभावे च

सर्वस्मिन् वस्तुनि—वस्त्वाभावे च अवस्थितम् ।’

समवस्थितका अर्थ है—सब देशों और देशाभावमें भी, सब कालों और कालाभावमें भी, सब वस्तुओं और वस्त्वाभावमें भी अवस्थित।

सर्वत्रका क्या अर्थ है ?

सर्वत्र देशे : सब देशोंमें—देशके भीतर ईश्वर है ?

सर्वत्र काले : सब कालके भीतर ईश्वर है ?

सर्ववस्तुनि : सब वस्तुओंके भीतर ईश्वर है ?

ऐसा नहीं । ईश्वरमें ही सब देश, सब काल और सब वस्तुएँ कल्पित हैं ।

‘यथा सर्पे रज्जुः सर्वत्र समवस्थिता तथा देशे काले वस्तुनि च समवस्थितम् ईश्वरं पश्यन् ।’

जैसे अपनेमें प्रतीयमान सर्पमें रज्जु सर्वत्र समवस्थित है, वैसे देश, काल, वस्तुमें समवस्थित ईश्वरको देखें ।

‘समवस्थितं’ : सर्वत्र अद्यस्त रूपसे नहीं, अधिष्ठान रूपसे, त्रिकालाबाध्य रूपसे परमात्मा स्थित है ।

‘ईश्वरम्-ईशितुं शीलम् अस्य इति ईश्वरम् ।’

ईश्वर वह, जिसका सहज स्वभाव नियन्त्रण करता हो ।

दृष्टिमें नियन्त्रण-शक्ति होती है । चतुर माताएँ बच्चोंको नेत्रके संकेतसे नियन्त्रित रख सकती हैं । प्रपञ्च पराधीन, सापेक्ष सत्ता है तो आत्मा निरपेक्ष सत्ता । बिना चैतन्यके जड़ सत्ताभास नहीं सकती; किन्तु बिना जड़के भी चैतन्य जड़ताके अभावको प्रकाशित करता है ।

ईश्वरका अर्थ है—‘उपाध्यतन्त्रवशित्वम्’ अपनी उपाधियोंको अपने वशमें रखे । प्रकृति, महत्तत्त्वादि सब उसके वशमें रहते हैं ।

‘संसृष्टेषु उपाधिषु स्वयमसंसृष्टः ईश्वरः ।’

संसृष्ट उपाधियोंमें जो स्वयं असंसृष्ट, असम्पृक्त है, वह ईश्वर है ।

‘न हिनस्त्यात्मनात्मानम्’ : मनुष्यको दूसरा नहीं मारता । वह अपनी कल्पनासे स्वतः मरता है । जब इस प्रकारका ज्ञान हो जाता है तब वह अपने आपसे अपना हनन नहीं करता ।

‘ततो याति परां गतिम्’ : जहाँ अपने स्वरूपका ज्ञान हुआ, वहाँ परम गति तो अपना स्वरूप ही है । अब कहीं जाने-आनेकी आवश्यकता नहीं । तुम स्वयं स्वर्ग-नरकके अधिष्ठान, मोक्षस्वरूप हो । यही सर्वोत्कृष्ट निरतिशय गति है । बुद्धिकी गति भी यहाँ नहीं है ।



७ संगति

पूर्व श्लोकमें 'परा गति' का प्रतिपादन हुआ कि इससे ऊँची गति नहीं है। अब एक प्रश्न है कि जब तक कर्म विद्यमान हैं, तब तक कर्ममूलक वैषम्य भी रहेगा—'स्वगुणकर्मवैषम्यभिन्नेषु आत्मसु' सब जीव सत्त्व, रज और तम इस त्रिगुणके अनुसार अपने-अपने कर्म पृथक्-पृथक् कर रहे हैं तो क्या उन कर्मोंके अनुसार उनमें पृथक्त्व होगा ?

दूसरा प्रश्न : मान लो कि कर्मके कारण पृथक्त्व न हो तो भी यह भूतसृष्टि पृथक् ही रहेगी। अतः जड़-चेतनकी विषमता तो रहेगी। यह कर्ममूलक एवं द्रव्यमूलक विषमता बनी रहेगी तो परमात्माका समदर्शन—अनुभवका विषय कैसे होगा ? इन दोनों शंकाओंका समाधान अगले दोनों श्लोकोंमें है।

कहा यह जा रहा है कि आत्माका किसी वस्तुसे, किसी भोगसे कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार संसर्गाध्यासका निषेध किया जा रहा है; क्योंकि जब सर्वत्र सम, समवस्थित ईश्वरको देखनेसे परमगतिकी प्राप्ति बतलायी गयी तो यह प्रश्न आया कि भले किसीने समवस्थित सर्वत्र सम ईश्वरको देख लिया; किन्तु उसका मोक्ष कैसे कहते हो ? उसके पूर्वकृत कर्मोंका क्या होगा ? उसे यदि कर्मफल भोगना होगा तो उसका जन्म भी होगा। फिर उसे परम गतिकी प्राप्ति कैसे हुई ?

इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि वस्तुतः आत्मा कर्ता है ही नहीं। कर्म तो सब प्रकृति ही करती है। आत्मामें कर्तृत्वका आरोप अज्ञानसे हुआ है। अतः ज्ञान होनेपर आत्मामें कर्तृत्व बुद्धि नहीं रहती। अतः कर्मके फलको भोगनेको बाध्यता भी रह नहीं जाती।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।

यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ २९ ॥

जो सब कर्मोंको प्रकृतिके द्वारा ही किया जाता—देखता है और आत्माको अकर्ता देखता है, वही ठीक देखता है।

'यः कर्माणि सर्वशः प्रकृत्यैव च क्रियमाणानि पश्यति न तु आत्मानम्, आत्मानं च अकर्तारं पश्यति स पश्यति ।'

जो समस्त कर्मोंको प्रकृतिके ही द्वारा किया जाता देखता है : अपने द्वारा नहीं और अपनेको अकर्ता देखता है, वही देखता है।

मार्गमें पड़ी वस्तुको जो किसीकी नहीं है, हम अपनी मान रहे हैं। यह वात वस्तु, व्यक्ति, देहसे होनेवाले कर्मों तथा मन, बुद्धि, इन्द्रिय, शरीरादि सबके विषयमें है।

जो वस्तु अपनी नहीं है, उसे अपनी मानना संसर्गाध्यास है। जो वस्तु है ही नहीं : उसका अस्तित्व मानना अर्थाध्यास है। पहिले सीपमें चाँदी मानना अर्थाध्यास है और फिर उस चाँदीको अपनी मानना संसर्गाध्यास हुआ।

‘मैं-मेरा’ यह अध्यास है। इसकी कोई जड़ ही नहीं है। अमेरिका, इङ्गलैण्ड आदि देशोंके बड़े नगरोंमें भवनके ऊपरके आकाशको भवन बनानेके लिए बेचा जाता है। ‘यह मेरी छतके ऊपरका आकाश है, अतः मेरा है।’ यह मान्यता कैसी है ? आकाश तो सम्पूर्ण सृष्टिका एक ही है। उसमें ‘मेरा पन’ बुद्धिकी मान्यताके अतिरिक्त और क्या है, जिससे आकाश तुम्हारा हो गया ?

इसी प्रकार ‘मेरी भूमि; क्योंकि मेरे पिता-पितामह इसे ‘मेरी’ मानते आये अथवा जिससे मैंने खरीदा, वह इसे ‘मेरी’ मानता था। मैंने इसका मूल्य दिया।’ पर धरतीमें ‘मेरापन’ क्या ?

मिट्टी-पानी, अग्नि-वायु और आकाश किसी व्यक्तिके नहीं होते। तब इन्हींसे बना शरीर किसी व्यक्तिका कैसे होगा ? अतः वस्तुओंको ‘मेरा’ मानना, वस्तुसे बने व्यक्तियोंको ‘मेरा’ मानना, और फिर उनमें जाति, सम्प्रदाय, वर्ण, आश्रम, प्रान्त, देशको ‘मेरा’ मानना केवल कल्पना है।

वस्तुतः शरीर ही ‘मेरा’ नहीं है। यह पञ्चभूतमें खचित है। इसमें अन्तःकरण भी ‘मेरा’ नहीं है। ‘मैं’ न शरीर हूँ, न अन्तःकरण। मैं इनका साक्षी हूँ। ऐसी अवस्थामें शरीरसे होनेवाले या मनसे होनेवाले कर्म ‘मेरे’ कैसे हो सकते हैं। शरीर ‘मैं-मेरा’ नहीं। अन्तःकरण ‘मैं-मेरा’ नहीं। इनमें ‘अहं’ करनेवाला अहंकार ‘मैं-मेरा’ नहीं। तब इनके द्वारा किया कर्म मेरा, मैं उसका कर्ता और उन कर्मोंके अनुसार सुखाकार एवं दुःखाकार वृत्तियोंका मैं भोक्ता तथा कर्मानुसार स्वर्ग-नरक जानेवाला अर्थात् कर्म-विशेषके अनुसार देश-विशेष एवं काल-विशेषमें सुख-दुःखका अनुभव करनेवाला मैं हो जाऊँगा, यह कैसे सम्भव है ?

यह सम्भव तो तभी होता है, जब कर्म, कर्मके उपकरण इन्द्रियाँ तथा अन्तःकरणमें स्थित आभासको मैं अपना ‘मैं’ मान लेता हूँ। इसीके कारण स्वर्ग-नरक, समाधि-विक्षेप, सुखीपना-दुःखीपना मुझमें प्रतीत होते हैं।

गुण ही कर्म प्रकृतिके करते हैं, यह बात गीतामें कई स्थानोंपर आयी है :-

‘प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।

अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥’—३।२७

प्रकृतिके गुणोंके द्वारा समस्त कर्म किये जाते हैं; किन्तु अहंकारसे विमूढचित्त मनुष्य ‘मैं कर्ता हूँ’ ऐसा मानता है।

मनुष्यके जीवनमें कभी तमोगुणकी प्रवृत्ति बढ़ती है, कभी रजोगुणकी और कभी सत्त्वगुणकी। एक ही व्यक्ति कभी चोरी करता है, कभी दान। दान ही करना था तो चोरी क्यों की ? चोरीको पाप नहीं समझते तो दानको पुण्य क्यों समझते हो ? लेकिन बात यह है कि चोरी करनेमें तमोगुणी वृत्तिका अहं प्रबल रहता है और दान करनेमें सत्त्वगुणी वृत्तिका।

एक व्यक्ति कभी-कभी इतना शान्त होता है कि बड़ी से बड़ी भूलसे भी उसे क्रोध नहीं आता। भिन्न परिस्थितिमें वही व्यक्ति कभी-कभी तनिक सी बातमें क्रुद्ध हो उठता है।

परिस्थिति क्या परिवर्तित हुई कि चोर दाता और दाता चोर बन गया। शान्त क्रोधी और क्रोधी शान्त हो गया ? जो राज्यका त्याग करके साधु हुए थे उन्हें लंगोटीमें ममता करते देखा है और जिन्हें लंगोटीमें भी ममता नहीं थी, उन्हें ममतापूर्वक बड़े-बड़े भवन बनवाते देखा है।

व्यक्तिके जीवनमें जैसे जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति ये अवस्थाएँ परिवर्तित होती रहती हैं—वैसे ही वृत्तियाँ भी परिवर्तित होती रहती हैं। तुम क्या जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिके कर्ता हो ? जो सुषुप्तिको बुलाने लगता है, उसे नींद नहीं आती। तुम क्या स्वप्नके कर्ता हो ? स्वप्न तुम अपनी इच्छानुसार देख सकते हो ? जब तुम सुषुप्ति और स्वप्नके कर्ता नहीं हो तो जाग्रत्के कर्ता कैसे हो ?

आप बता सकते हैं कि अगले क्षण आपके मनमें क्या आयेगा ? जब मनमें आ जायेगा तब कहोगे कि 'हमने यह सङ्कल्प किया।' जब अगली इच्छाका तुम्हें पता नहीं है, तब तुम सङ्कल्पके कर्ता कैसे ? जाग्रत् तुम्हारे वशमें कहाँ है ? जैसे स्वप्नमें हम तीर्थयात्रा करेंगे या चण्डूखाने जायेंगे, इसमें अपना कर्तृत्व नहीं है, वैसे ही जाग्रत्में भी अपना कर्तृत्व नहीं है।

‘प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।’

प्रकृतिके गुण सत्त्व, रज, तम ही कर्म कराते रहते हैं। केश तुम्हारी इच्छासे श्वेत हुए ? दाँत तुम्हारी इच्छासे टूटे ? रोगोंको तुम निमन्त्रण देते हो ?

‘अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।’

कार्य-कारणकी कल्पना अहंकारवश की जाती है। यह क्यों नहीं सोचते कि स्वप्न अकारण आते हैं ? यह क्यों सोचते हो कि स्वप्न कारणवश आते हैं ?

मनमें आया क्रोध या काम और तुम उसका कारण ढूँढ़ने लगे। ‘अहंकार-विमूढात्मा’ ने उसमें कर्तृत्वका सम्बन्ध जोड़ दिया।

एक स्थानपर कहा ‘प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः’ और दूसरे स्थानपर कहा—‘प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।’ इन दोनोंमें अन्तर है। ‘गुणोंसे कार्य होते हैं’ यह सूचित करता है कि कार्य-जगत्में अहंकार आविद्यक है। ‘प्रकृतिसे कर्म होते हैं’ इससे सूचित किया कि समष्टिमें जो कर्म होते हैं, वे भी प्रकृतिके द्वारा ही होते हैं। अर्थात् ब्रह्मा सृष्टि नहीं करते। ब्रह्माके शरीरकी प्रकृति ही सृष्टि करना है। विष्णुकी शारीरिक प्रकृति ही पालन करना है और रुद्रकी शारीरिक प्रकृति ही संहार करना है।

प्रकृतिको प्रकृति इसलिए कहते हैं; कि अनन्त-अनन्त बीजोंके संस्कार धारणकी उसमें क्षमता एवं स्वभाव है :

‘प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।’

ईश्वरसे लेकर कीटपर्यन्त समस्त शरीरोंसे जितना कर्म हो रहा है, उसमें किञ्चित्मात्र भी चैतन्यका योग नहीं है। सब कर्म प्रकृतिके द्वारा ही हो रहा है। चैतन्य कूटस्थ साक्षी है।

‘अहं करोमीति वृथाभिमानः ।’

‘मैं कर्ता हूँ ।’ यह अभिमान व्यर्थ है ।

‘यथा ज्योतिरात्मा विवस्वात्तपो भिक्षा बहुधा अन्वगच्छत् ।’

‘उपाधिना क्रियते भेदरूप देवः ।’—श्रुति

जैसे ज्योतिरात्मा सूर्य अनेक घड़ोंके जलमें अनेक प्रकारसे प्रतिबिम्बित होता है, वैसे देहादिकी उपाधिसे एक आत्मामें भेदकी प्रतीति होती है।

जलके हिलनेसे प्रतिबिम्ब हिलता है, सूर्य नहीं हिलता। इसी प्रकार अन्तःकरणकी विकृतियोंसे आत्मामें विकृति नहीं आती।

सर्पको विष किसने दिया और काटनेकी शिक्षा किसने दी ? प्रकृतिने। बिच्छूको डंकमें विष देकर डंक मारना किसने सिखलाया ? प्रकृतिने। मनुष्योंमें भी इसी प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकृतिके लोग होते हैं।

‘नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ।’—गीता ५।१३

इस नौ द्वारके शरीर रूप नगरमें रहता हुआ देही, आत्मा न कुछ करता, न कराता है।

‘अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम् ।

विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम् ॥

शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः ।

न्यायं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः ॥

तत्रैवं सति कर्तारमात्मानं केवलं तु यः ।

पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः ॥’—गीता १४।१६

अधिष्ठान, कर्ता, नाना प्रकारके करण, पृथक्-पृथक् चेष्टाएँ और इनमें पाँचवाँ भाग्य ये उस सबके पाँच कारण हैं जो मनुष्य शरीर, मन या वाणीसे न्याय या अन्याय करता है। इसमें जो केवल अपनेको ही कर्ता देखता है, अकृत-बुद्धि होनेसे वह दुर्बुद्धि देख ही नहीं पाता है।

यहाँ अपनेको कर्ता देखने-माननेवालेको भगवान्ने गाली तक दे दी। उसे दुर्मति, मूर्ख नहीं, कुबुद्धि कहा। यहाँ केवल शरीरसे होनेवाले कर्मोंकी बात नहीं है। वाणीसे होनेवाले कर्म-वचन तथा मानसिक कर्म, संकल्प, विकल्पकी भी बात है।

‘यद्दृढङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।

मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥’—गीता १८।५९

भगवान्ने अर्जुनको फिड़क दिया—‘तुम जो अहंकारपूर्वक ‘नहीं लड़ूँगा’ ऐसा मानते हो, यह तुम्हारा निश्चय झूठा है। तुम्हारी प्रकृति तुम्हें (युद्धमें) लगाकर छोड़ेगी :

‘स्वभावजेन॥ कौन्तेय निवद्धः स्वेन कर्मणा ।

कतुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥’—गीता १८।६०

‘अर्जुन ! (सब प्राणी) प्राकृतिक, स्वाभाविक अपने कर्मोंसे भली प्रकार बँधे हैं । अतः तुम मोहवश जिसे करना नहीं चाहते, विवश होकर उसीको करोगे ।’

मैं एक दिन किसी कार्यसे स्टेशन गया । वहाँ एक महात्मा मिले जो पहले रेलवेमें गार्ड रह चुके थे । ट्रेन आयी । उसमें जो गार्ड था, वह नया था । उसे भंडी दिखलाना ठीक नहीं आता था । उन महात्माने भट्लाकर उसके हाथसे भंडी छीन ली और उसे सिखलाने लगे कि भंडी कैसे दिखाते हैं ।

हम लोग सन् १९३४ ई० में भूमीमें होनेवाले अखण्ड संकीर्तनमें उस समय साधक थे । एक महात्माने सबको अपने यहाँ भोजन करनेका आमन्त्रण दिया । लेकिन बोले : ‘हमारे पास सामान नहीं है ।’

सामान दिया जाने लगा तो उन्होंने दो टीन घी लिया । दूसरे दिन सब भोजन करने गये । उन्होंने साठ-सत्तर प्रकारकी सामग्री बनायी थी । पता लगा, वे पहले कहीं होटलके सञ्चालक रह चुके थे । संन्यासी होनेसे स्वभाव तो कहीं नहीं चला जाता ।

यदि आपके जीवनमें कर्म कोई समस्या उत्पन्न करता है, कुछ कर्मोंसे आपको ग्लानि और कुछसे अभिमान उत्पन्न होता है और इससे आपको दुःख है तो इस दुःखसे छूटनेके लिए आपने गीता माताकी शरण ली या नहीं ?

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।

आमयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥’—गीता १८।६१

‘अर्जुन ! ईश्वर सभी प्राणियोंके हृदय-देशमें ही रहता है और सबको यन्त्रारूढके समान अपनी मायासे घुमाता रहता है ।

‘यन्त्रारूढानि मायया’ : यह देह, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार : ये यन्त्र हैं । इसमें ‘मैं मेरा’ करके बैठे तो इनके साथ नाचते रहोगे । इस यन्त्रपर बैठोगे तो ईश्वर तुम्हें नचायेगा ।

‘यः पश्यति प्रकृत्यैव च सर्वशः कर्माणि क्रियमाणानि आत्मानमकर्तारं पश्यति स पश्यति ।’

जो देखता है कि सभी कर्म प्रकृतिके द्वारा ही किये जा रहे हैं और आत्मा को अकर्ता देखता है, वह देखता है । अन्यथा—

‘न स पश्यति दुर्मतिः ।’

वह दुर्बुद्धि देखता ही नहीं, वह अन्धा है ।



० संगति

पहले ऊपरके श्लोकमें संसर्गाध्यासका निषेध किया था। अब अगले श्लोकमें अर्धाध्यासका निषेध करते हैं; क्योंकि अभी ऐसा लगता है कि एक यन्त्र है और एक साक्षी है। मैं साक्षी हूँ और प्रकृतिका कार्य है। मैं द्रष्टा हूँ, अतः यन्त्रसे उतर गया। देह-इन्द्रियादिके तादात्म्यका त्याग कर दिया तो संसर्गाध्यास तो छूट गया : किन्तु द्वैत तो रहा ही।

‘मैं-मेरे’का सम्बन्ध प्रकृतिसे छूट गया; किन्तु प्रकृति क्या है : यह पता नहीं लगा। गीतामें स्थान-स्थानपर अद्वैतका प्रतिपादन है। यह जगत् परमात्मासे अभिन्न है, यही नहीं, आत्मासे भी अभिन्न है; क्योंकि आत्मा और परमात्मा दो नहीं हैं। अतः प्रकृति भी परमात्मा ही है, यह बतलानेके लिए अब अर्धाध्यासका निरास करते हैं। श्री सुरेश्वराचार्यजीने कहा है—

‘आत्मा कर्तादिरूपश्चेन्मा कांक्षीस्तर्हि मुक्तताम् ।

नहि स्वभावो भावानां व्यावर्ततोऽप्यवद्रव्ये ॥’

आत्मा यदि कर्ता-भोक्ता रूप हो तो जो सहज कर्ता, सहज भोक्ता है, उसका स्वभाव तो छूटेगा नहीं, अतः मुक्तिकी इच्छा ही छोड़ दो। जैसे सूर्य उष्णत्व नहीं छोड़ सकता, वैसे ही कोई भी अपने स्वभावको छोड़ नहीं सकता। अतः आत्मा न कर्ता है, न भोक्ता।

प्रश्न हुआ कि जब कर्म प्रकृति, प्रकृतिके गुण या स्वभावसे होते हैं तो हमारा कर्तव्य क्या है? जबतक आप अपनेको अकर्ता, अभोक्ता, परिच्छेदरहित ब्रह्म अनुभव नहीं कर लेते, तबतक आपका कर्तव्य है। जो ब्रह्ममें स्थित है, उसके लिए कर्तव्य नहीं है; किन्तु जो इस शरीरके कुरुक्षेत्रमें बैठा है, उसे तो ‘कुरु, कुरु’ सुनना ही पड़ेगा। ‘कुरु कर्मैव तस्मात्त्वम्’ जिस क्षेत्रमें भगवान् बार-बार ‘कुरु कुरु, करो, करो’ कहते हैं, वह कुरुक्षेत्र है।

अब कर्तव्यको समझो। गुण तीन हैं : सत्त्व, रज और तम। इनमेंसे तमोगुण पुरुषमें मद, उन्माद, प्रमाद, निद्रा, आलस्यका संचार करता है। ‘अलसः शोभाशून्यः।’ इन निद्रा, आलस्य, उन्माद, प्रमाद, मदसे युक्त व्यक्तियोंमें कर्तव्यका स्फुरण ही नहीं होता। कर्तव्यका स्फुरण होनेपर भी उसकी उपेक्षा होती है। कर्तव्यका स्फुरण न होना प्रमाद है और कर्तव्यका स्फुरण होनेपर भी उसकी उपेक्षा करना आलस्य है। ऐसे तमोगुणयुक्त पुरुषोंके लिए विधान है : ‘तुम कर्म करो!’

वे कर्ममें लगे तो तमोगुण घटा और रजोगुण आया। ये तमस्-मिश्रित रजोगुणी लोग चोरी, अनाचार, धूत, लड़ाई, दूसरोंकी हानि करनेमें लगे; तब शास्त्रकी दूसरी कक्षा आयी। उसका पाठ प्रारम्भ हुआ, ‘धर्मानुसार ही कर्म करो। धर्मके विपरीत आचरण मत करो।’

धर्म करने लगे। कुछ सत्त्वगुण आया। अब धन, पुत्र, स्त्री, स्वास्थ्य, पद, प्रतिष्ठादिकी प्राप्ति के लिए दान, यज्ञ, तप, जप आदि सकाम कर्म करते हैं। फिर शास्त्रने अगली कक्षाका पाठ दिया : 'सकाम कर्म मत करो।'

'अनिमित्तनिमित्तेन धर्मेणाराधयन् हरिम्।' —भागवत

बिना किसी निमित्त, कामनाके धर्माचरण करो और ऐसे धर्माचरणसे श्री हरिकी आराधना करो। 'सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव'—कर्मासक्ति और फलाशा दोनोंको छोड़ दो। अर्थात् रजोगुण शुद्ध कर दो। सात्त्विक कर्म करो और वह भी निष्काम भावसे करो। अन्तःकरणकी शुद्धि के लिए अथवा ईश्वरकी प्रसन्नताके लिए ही कर्म करो, क्योंकि निष्कामता ही अन्तःकरणकी शुद्धि है।

निष्कामतामें पूर्णता तब आयेगी, जब भोक्तापनकी भ्रान्ति दूर होगी। कर्ममें नैष्कर्म्य तब आयेगा, जब कर्तापनकी भ्रान्ति दूर होगी। अपनेको परमात्मासे अभिन्न जाननेपर कर्तापन तथा भोक्तापनकी भ्रान्ति दूर होगी।

सात्त्विक कर्म निष्कामभावसे करने लगे। अब महात्मा मिले तो बोले : 'बाहर कर्म क्यों करते हो ? भीतर ही कर्म करो। अर्थात् मनमें ही भगव-च्चिन्तन करो।'

वे महात्मा योगी हुए तो उन्होंने कहा : 'कल्पना, मनोराज्य करनेमें क्यों लगे हो ? चित्तवृत्तिका निरोध करो। द्रष्टा-स्वरूपमें स्थित हो। समाधि लगाओ।'

समाधि लगाने लगे तो वेदान्ती महात्मा मिले। उन्होंने समझाया : 'समाधि कर्मका फल है, अतः वह सदा नहीं रह सकती। समाधिसे व्युत्थान होगा। कर्मका फल असीम नहीं होता। जैसे सुषुप्तिसे अज्ञान नहीं मिटता, वैसे ही समाधिसे भी नहीं मिटता। समाधिमें वृत्ति ही नहीं रहती तो अविद्याको निवृत्त करनेवाला ज्ञान कैसे होगा ? अतः तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेके लिए श्रवण करो।' जैसे मैला कपड़ा पहनकर समाधि लगाओ तो समाधिसे उठनेपर देहपर वही मैला कपड़ा रहता है, वैसे ही जैसा अन्तःकरण छोड़कर समाधिमें पहुँचे, समाधिसे उठनेपर वैसा ही अन्तःकरण मिलेगा।

'तत्र प्रशान्तवाहिता संस्काराणाम्।'—योगदर्शन

समाधिमें संस्कार मिटते नहीं, प्रशान्त हो जाते हैं।

अब महावाक्यश्रवण किया। कर्तापन-भोक्तापनसे विनिर्मुक्त अपरिच्छिन्न ब्रह्मात्मैक्यबोध हो गया। कर्तव्यकी समाप्ति हो गयी।

कर्म करनेमें अच्छा कर्म, बुरा कर्म ये दो भाग हैं। अच्छे कर्ममें भी दो भाग हैं : सकाम कर्म और निष्काम कर्म। निष्काम कर्ममें दो भाग हैं : कर्तृत्वपूर्वक और अकर्तृत्वपूर्वक। अकर्तृत्वपूर्वक कर्म भी दो प्रकारके होते हैं : भावसे और बोधसे। बोधसे कर्तृत्वशान्तिमें वृत्तिका व्युत्थित रहना और समाहित रहना ये दो स्थितियाँ हैं। यह है कर्मका विवेक।

इस प्रकार कर्तृत्वकी शान्ति हो गयी। अब कर्म और भोगका सम्बन्ध आत्मासे नहीं रहा; किन्तु वस्तुओंसे तो सम्बन्ध है ?

ब्रह्मज्ञान और उसकी साधना]

[२५८]

नहीं। वस्तुओंकी, प्रकृतिकी, गुणोंकी पृथक् सत्ता नहीं है। एकसे ही सब निकला और एकमें ही सब लीन होता है। तुम कार्य-कारण दोनोंके द्रष्टा हो।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।

तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ३० ॥

जब साधक भूतोंमें स्थित पृथक् एकमें ही स्थितको और एकका ही सारा विस्तार देखता है, तब ब्रह्मको प्राप्त होता है।

‘भूतपृथग्भावम्’ : पृथ्वीमें गन्ध, जलमें रस, अग्निमें रूप, वायुमें स्पर्श, आकाशमें शब्द; इन गुणोंको हम अपनी पाँच इन्द्रियोंसे ग्रहण करते हैं, अतः भूत पाँच प्रतीत होते हैं।

सर्व ध्यानिकमेवास्य यदेतदभिशब्दितम् ।—मनुस्मृति

शब्दोंके द्वारा जो कुछ वर्णन किया जाता है, वह इस संसारका सब ‘नाम-रूप’ ध्यानिक या मानसिक ही है।

‘सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।

सम्पद्यन्नात्मयाजी वै स्वाराज्यमधिगच्छति ॥’—मनुस्मृति

सब भूतोंमें आत्माको और आत्मामें सब भूतोंको देखता हुआ आत्मयाजी, आत्मयज्ञ-सम्पन्न-पुरुष स्वाराज्य या मोक्षपद प्राप्त करता है।

इन्द्रियाँ गुणोंका ग्रहण करती हैं, इससे भूतोंके पृथग्भावकी सिद्धि होती है। इन्द्रियोंका पार्थक्य मनसे ज्ञात होता है। मनका ज्ञान द्रष्टासे होता है। मनमें ही देश, काल, वस्तु तथा इन्द्रियाकार प्रकाशित होते हैं।

‘एकस्थमनुपश्यति’ अर्थात् ‘आत्मस्थमनुपश्यति’ शास्त्र तथा गुरुके उपदेशसे सबको एकमें, अपनेमें स्थित देखा।

‘आत्मतः प्राणाः आत्मतः आशाः आत्मतः स्मरः आत्मतः आकाशः आत्मतः तेजः आत्मतः आपः आत्मतः आचिर्भावतिरोभावः आत्मतोऽन्नम् ।’—श्रुति

आत्मासे ही प्राण, आत्मासे ही दिशाएँ, आत्मासे ही कामना, आत्मासे ही आकाश, आत्मासे ही तेज, आत्मासे ही जलकी स्थिति है और आत्मासे ही इनका आविर्भाव (उत्पत्ति) तथा तिरोभाव, (लय) है। आत्मासे ही इनका पोषण होता है।

‘सृज्यासृज्यं यद्विधात् ।’

जो जिससे उत्पन्न हुआ है, उस कार्यमें कारण अन्वित रहता है।

‘तत एव च विस्तारम्’ : इसी आत्मवस्तुसे सारा विस्तार है। जैसे एक रस्सीको चार देखनेवाले माला, सर्प, भूखिद्र और दण्ड बतलाते हैं, वैसे ही ये पाँच इन्द्रियाँ एक परमात्माको शब्दादि पाँच रूपोंमें देखती हैं।

‘ब्रह्म सम्पद्यते तदा’—यदैव सम्पद्यति तदैव सम्पद्यते नात्र विलम्बः ।’

जब ऐसा देखता है, तभी ब्रह्म हो जाता है। इसमें देर नहीं होती। यह मरनेके पीछे होनेवाली अवस्था नहीं है। ★

● संगति

“अच्छा यह ज्ञान हो गया और ‘ब्रह्म सम्पद्यते’ तत्काल वह ब्रह्म हो गया; किन्तु शरीर ज्योंका त्यों बना है और शरीरसे कर्म भी हो रहे हैं, तब इस ज्ञानसे क्या लाभ ? इसका उत्तर दे रहे हैं।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः ।

शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥ ३१ ॥

अर्जुन ! यह परमात्मा शरीरमें रहते हुए भी अनादि और निर्गुण होनेसे अव्यय है। वह न कर्ता है, न लिप्त होता है।

‘अयं परमात्मा अयं अव्ययः, कस्मात् ? अनादित्वात्, पुनः कस्मात् ? निर्गुणत्वात् ।’

यह परमात्मा अविनाशी क्यों है ? अनादि होनेके कारण और निर्गुण होनेके कारण ।

‘परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ।’

इस देहमें ही स्थित देहसे जो परे पुरुष है, उसे परमात्मा भी कहा जाता है।

‘अयं परमात्मा’ : यह कोई परोक्ष नहीं है। यह साक्षादपरोक्ष अपना आत्मा है।

वह परमात्मा कैसा है ?

‘अनादित्वात्’—अनादीयमानत्वात् अगृह्यमाणत्वात् ।

अनादीयमान अर्थात् अगृह्यमाण है। गृह्यमाणको ही आदीयमान कहते हैं। जिसका इन्द्रियोंसे ग्रहण न हो, वह अनादीयमान या अनादि है। परमात्मा तो :

‘चक्षुषः चक्षुः वाचो ह वै वाचो मनसो मनः ।’—श्रुति

नेत्रका भी नेत्र, वाणीकी भी वाणी, मनका भी मन है।

‘न आदीयत इति अनादिः ।’

जो मन, वाणी आदिसे ग्रहण नहीं होता। दृश्यमें ही आदि-अन्तकी कल्पना हो सकती है। परमात्मा दृश्य नहीं है। वह सबका द्रष्टा है। अतः वह अकल्पित अनादि है। दृश्यमें जो अनादित्व है, वह कल्पित अनादित्व है।

अनादि होनेसे ही कोई अव्यय नहीं हो जाता। क्योंकि अविद्या अनादि होनेपर भी सान्त है—ज्ञान-निवर्त्य है। लेकिन कल्पित अनादित्व अव्ययत्वका हेतु नहीं होता। परमात्मा अकल्पित अनादि है, अतः अव्यय है।

नैयायिक कहता है : 'घटका प्रागभाव अनादि है; किन्तु घटके अस्तित्वमें आनेपर वह मिट जाता है। अतः अव्यय होनेमें अनादित्व साधक नहीं है।'

वेदान्तमें प्रागभावको पदार्थ नहीं मानते। वेदान्त अभावको अधिष्ठानसे भिन्न नहीं मानता। प्रागभाव तो कालपरिच्छिन्न कल्पनामात्र है। घटकी आकृति पदार्थ नहीं है, मिट्टीमें कल्पनामात्र है। इसी प्रकार प्रत्यक् चैतन्यके आत्मरूपका ज्ञान न होनेके कारण गृहीत नाम-रूपात्मक प्रपञ्चका होना, न होना दोनों स्व-प्रकाश अधिष्ठानमें कल्पित हैं, उससे भिन्न नहीं हैं।

‘अनादित्वान्न विकरोति, किं पुनः करोति ।’

अनादिमें विकार होते ही नहीं, तब उसमें क्रियाकी प्राप्ति कहाँसे होगी ? जो व्यय करे। अतः वह अव्यय है।

‘निर्गुणत्वात्-निर्विषयत्वात्, निरन्तःकरणत्वात् निरिन्द्रियत्वात् ।’

वह निर्गुण है अर्थात् उसमें अन्तःकरण, इन्द्रियाँ, विषय और त्रिगुण नहीं हैं। त्रिगुणकी साम्यावस्था प्रकृति भी उसमें नहीं।

जहाँ कारण-कार्य, प्रकृति-विकृति नहीं हैं, वहाँ व्यय कहाँसे होगा ? कारणका कार्याकार परिणाम प्राप्त होकर व्यय होता है। कार्य अपने कारणमें लीन होकर व्यय होता है। लेकिन जो निर्गुण है, जिसमें कार्याकार एवं कारणाकार, अनुलोम-प्रतिलोम परिणाम ही नहीं है, वह तो अव्यय है।

‘अव्ययः—न व्येति विपरीतं एति, स्वरूपं न परित्यजति इति अव्ययः ।

जो व्यय नहीं होता, विपरीत नहीं बनता, अपने स्वरूपको नहीं छोड़ता, उसे अव्यय कहते हैं।

‘निर्गुणत्वात्’का अर्थ है **‘निर्धर्मकत्वात्’**। निर्धर्मक होनेसे यह परमात्मा अव्यय है।

नैयायिकादि आत्मामें धर्म मानते हैं।

‘अष्टौ आत्मगुणाः स्मृताः ।’

‘आत्माके आठ गुण होते हैं।’ नैयायिक इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, सुख-दुःख और संस्कारको आत्माका धर्म कहते हैं। लेकिन गीताको यह मान्य नहीं है :

‘इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं सङ्घातश्चेतना धृतिः ।

एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥’

इसी अध्यायमें यह आ चुका है। इच्छा-द्वेष, सुख-दुःख, धर्म-अधर्म, प्रयत्न और संस्कार तथा इन सबका अभाव आत्मामें आरोपित हैं, वस्तुतः नहीं हैं। आत्मामें धर्म-धर्मिभाव नहीं है।

‘न करोति न लिप्यते’—अनादित्वान्न करोति निर्गुणत्वान्न लिप्यते ।

अनादि : जन्म-मृत्यु, वृद्धि-क्षय, स्थिति एवं परिवर्तन इन षड्भावविकारों-से रहित होनेके कारण उसमें कर्तृत्व नहीं है : कर्मसे उसका सम्बन्ध नहीं है।

निर्गुण होनेसे उसमें इन्द्रियाँ और अन्तःकरण नहीं हैं। धर्माधर्म संस्कार

अन्तःकरणमें रहते हैं, अतः उसमें नहीं हैं। धर्माधर्मकी भावना त्रिगुणात्मक है और उसमें गुण ही नहीं हैं। अतः उसे धर्माधर्म स्पर्श नहीं करते।

‘शरीरस्थोऽपि न करोति न लिप्यते।’

देहमें रहता हुआ भी यह कर्म नहीं करता, न उससे लिप्त होता है।

‘कुर्वन्नपि न लिप्यते।’

यदि अन्य दृष्टिसे—अज्ञदृष्टिसे कर्म करता दीखे भी तो उस कर्मसे वह लिप्त नहीं होता। ‘न अहं करोति’ उस कर्ममें ‘मैं करता हूँ’ यह अहंभाव नहीं करता।

‘परमात्मा’ : अपर आत्मा है धन, शरीर, अन्तःकरण, पञ्चकोश। जिससे और कोई आन्तर हो, वह ‘अपर आत्मा’ है। जिससे आन्तर कोई नहीं, वह परमात्मा है। धन, पुत्र, स्त्री, देहादिके आने-जानेपर भी एकरस साक्षी तुम परमात्मा हो। तुम्हारे ‘मैं’ का जो शोधित परम अर्थ है, वह परमात्मा है।

‘अव्ययः’—विपरीतं अयत्नं व्ययः, न व्ययः अव्ययः, न विपरीतमेति इति अव्ययः, न व्ययो यस्य सः अव्ययः।

जो विपरीत जाता हो, उसे व्यय कहते हैं। व्यय जिसमें न हो। वह है अव्यय। जिसमें उलटी गति न हो, वह अव्यय। जिसमेंसे कुछ घट न सके, वह अव्यय।

‘विकारसामान्यद्रष्टा विकाराभावस्य द्रष्टा।’

जो पृथक्-पृथक् विकारोंका, विकार-सामान्यका तथा उनके अभावका भी द्रष्टा है, वह अव्यय है।

किसी वस्तुका नाश होता है तो उसके कुछ कारण होते हैं। मिट्टी न हो तो घट कहाँसे बनेगा ? यह कारण-नाशसे कार्यनाश हुआ। आकाश न हो तो घट कैसे बनेगा ? यह आश्रय-नाशसे आश्रित-नाश हुआ। अंगूर उत्तम थे, पर सड़ गये। यह विकारी होनेसे स्वरूप-नाश हुआ। कार्य-नाशसे भी कारण-नाश होता है। एक व्यक्ति धनी था, धन नष्ट हो गया तो वह निर्धन हो गया। चरित्र नष्ट हो गया तो सदाचारी व्यक्ति भी अब सदाचारी नहीं रहा।

परमात्मा किसीके आश्रित नहीं है। वह सर्वाश्रय, सर्वाधिष्ठान, स्वयं-प्रकाश है। परमात्माका कोई अन्य कारण नहीं है। परमात्मामें विकार नहीं है। अतः परमात्मा अव्यय है।

अव्ययका हेतु है ‘अनादित्वात्’। जो उत्पन्न होता है, वह नष्ट हो जाता है। जिसकी उत्पत्ति ही नहीं, उसकी मृत्यु कैसे ?

बन्ध्यापुत्रकी न उत्पत्ति होती है, न मृत्यु। तो, क्या परमात्मा ऐसा ही कल्पित है ?

नहीं; परमात्मा नित्य है। अविद्या एवं आविद्यक प्रपञ्चकी उत्पत्ति और लय दोनों कल्पित हैं—दोनों अनिर्वचनीय हैं। ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञानसे अविद्या बाधित हो जाती है।

‘अनादित्वात्’ : जो अनादि है; वह अनन्त भी होगा। जन्मके साथ ही षड्भावविकार लगे हैं। इसमें प्रश्न उठा कि अविद्या भी तो अनादि है, तब वह सान्त कैसे ? उसका जन्म नहीं तो मरण भी कैसे होगा ?

जो वस्तु अनादि है, उसे हम कालकी धारामें अनन्त मान लेते हैं; अर्थात् वह प्रवाहरूपसे नित्य है। किन्तु कालकी धारामें नित्य होनेपर भी वह अनादि वस्तु परिपूर्ण है या नहीं? अर्थात् कालसे अपरिच्छिन्न होनेपर भी देशसे अपरिच्छिन्न है या नहीं?

न्यायशास्त्रके मतमें परमाणु भी अनादि और नित्य हैं। कालकी धारामें परमाणु अपरिच्छिन्न हैं; किन्तु देशमें परमाणु हैं परिच्छिन्न।

अब यदि परमाणु निरवयव हैं; तो दो परमाणुओंके योगसे अणु बन नहीं सकता। यदि परमाणु संयोगधर्मी हैं तो वे सावयव हैं, उनमें निरवयवत्व कल्पित है। संयोग-विभागरूप गुण होनेसे परमाणु निर्गुण नहीं हैं।

यह अव्यय आत्मा जैसे कालसे अपरिच्छिन्न अनादि-अनन्त है, वैसे ही देशसे भी अपरिच्छिन्न है। इसमें पूर्वापर विभाग नहीं है। यह सावयव नहीं है। इसमें संयोग-विभाग नहीं है। यह परमाणुके समान नहीं है 'अनादित्वात्' कहनेसे आत्माको काल-परिच्छेदसे मुक्त कहा।

'निर्गुणत्वात्': पूर्वापर विभागसे रहित होनेके कारण यह देशपरिच्छेदसे मुक्त है। इसमें पर-अपर, संयोग-विभाग, संख्या, परिमाण, पृथक्त्वादि गुण नहीं हैं। अर्थात् यह परिपूर्ण है। यह सेन्द्रियत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्त्व आदि गुणोंसे भी विनिर्मुक्त है। अतः यह परमात्मा अव्यय है।

'शरीरस्थोऽपि': कहीं अन्यत्र नहीं, इस देहमें रहता हुआ भी 'यद्यपि करोति इव'—कर्ता जैसा लगता है 'यद्यपि लिप्यत इव' लिप्त होता-सा लगता है। क्योंकि ज्ञानी-अज्ञानी दोनोंके ही शरीर होते हैं; किन्तु अज्ञानी अपनेको शरीर मानता है और ज्ञानी अपनेमें शरीर-विशेष, शरीरकी जातियाँ-मनुष्य-पशु-पक्षी आदि तथा इनका अभाव कल्पित देखता है। अतः कहीं भी 'अहं'भाव न होनेके कारण 'न करोति न लिप्यते' न कर्ता है, न लिप्त होता है।

'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ।'

इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयमें व्यवहार कर रही हैं, ऐसी उसकी धारणा होती है।

यह प्रातिभासिक प्रकृति, प्रकृतिके, गुण स्वभाव, ईश्वर, जीव उसकी दृष्टिमें होनेपर भी वह कर्ता नहीं है। स्वप्नमें कोई बुरा काम हो जाता है तो उस समय तो लगता है कि 'मैंने यह ठीक नहीं किया'; लेकिन जागनेपर उसके लिए प्रायश्चित्त नहीं करना पड़ता। क्योंकि वहाँ न शरीर था, न कर्म, न कर्ता। वहाँका धर्मशास्त्र, कर्मनियन्ता, कर्ता आदि सब जागनेपर बाधित हो गये।

स्वप्न कालान्तरमें बाधित होता है। स्वप्न-कालमें बाधित नहीं होता। जाग्रत् कालमें स्वप्न बाधित होता है। लेकिन ज्ञानसे इसी काल, इसी देश, इसी वस्तु व्यवहारमें अर्थात् देश, काल, वस्तु तथा इसमें एक देह एवं उस देहसे होनेवाले कर्मोंके भासमान होनेपर भी, प्रातिभासिक कर्ता-भोक्ताके भासमान होनेपर भी अत्मतत्त्व न वस्तुतः कर्ता है, न उससे लिप्त होता है।



● संगति

किंवत् न करोति न लिप्यते ?

...आत्मा न कर्ता है, न लिप्त होता है : इसमें कोई उपमान प्रमाण है ? कोई उदाहरण है ?

यह उदाहरण बतलानेके लिए अगले दो श्लोक हैं। एक श्लोक अधिष्ठानकी दृष्टिसे आत्माको अकर्ता बतलाता है तो दूसरा प्रकाशककी दृष्टिसे आत्माको अकर्ता बतलाता है।

शुष्केन आर्द्रं दह्यते मित्रभावात् ।'

सूखी लकड़ीके साथ गीली लकड़ी भी जल जाती है। अतः आत्मा अनादि और निर्गुण है, यह तो ठीक; किन्तु संसर्ग उसका देहसे है, तो संसर्गज गुण-दोष उसमें आते ही होंगे ?

‘संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति ।’

व्यक्तिमें संसर्गसे ही दोष या गुण होते हैं। यह आत्मा जब आदिवान्, सगुण देहके भीतर रहता है तो उसमें रहकर शुद्ध कैसे रह पाता है ?

‘यं प्राप्यातिपवित्राणि वस्त्राण्याभरणानि च ।

अशुचित्वं क्षणाद्यान्ति किमन्यदशुचिस्ततः ॥’

जिसे प्राप्त करके, स्पर्श करके पवित्र वस्त्र और आभूषण एक क्षणमें अपवित्र हो जाते हैं, स्वर्णभरण और रेशमी वस्त्र भी एक क्षण जिस शरीरपर पहन लेनेसे फिर देवताको चढ़ाने योग्य नहीं रह जाते, उस शरीरसे अधिक अपवित्र दूसरी क्या वस्तु होगी ?

सबसे अपवित्र तो यह शरीर है और आत्मदेव इस शरीरमें ही रहते हैं। तुमने कहा ‘अनादित्वात् निर्गुणत्वात् अयं अव्ययः’ यह तो सिद्ध हो गया; किन्तु ‘शरीरस्थोऽपि न करोति न लिप्यते’ सिद्ध नहीं हुआ। शरीरमें रहेगा तो कुछ लेप होगा ही ?

पर ऐसा नहीं; यह बतलानेके लिए अब उदाहरण देकर समझा रहे हैं।

यथा ‘सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।

सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥ ३२ ॥

जैसे सूक्ष्म होनेके कारण सर्वगत होनेपर भी आकाश उपलिप्त नहीं होता, वैसे ही शरीरमें सर्वत्र स्थित होनेपर भी आत्मा उपलिप्त नहीं होता।

‘यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं’ : ‘काश्ट दीप्तौ’ आकाश और प्रकाश ये दोनों शब्द एक ही धातुसे बनते हैं। प्रकाश-स्वरूप आत्मा आकाश-स्वरूप विभु है एवं आकाश-स्वरूप विभु ब्रह्म प्रकाशस्वरूप है।

दीवारमेंसे ईंटें हटानेपर जो रिक्तस्थान हो जाता है, वह शून्यता वहाँ कहींसे आ जाती है या पहलेसे है ?

वचनमें मैं पुस्तक लिये पढ़ने जा रहा था। ठाकुर श्रीप्रसिद्धनारायण सिंहजी मार्गमें मिले। वे बड़े विद्वान् थे; किन्तु मेरे पितामहके शिष्य थे। बोले : 'बाबाजी, मनुष्य घड़ा लेकर चलता है, तो घड़ेके भीतरकी पोल (आकाश) साथ-साथ चलती है या नहीं ?'

मैं बोला : 'साथ-साथ चलती है। जैसे घड़ेमें गेहूँ भर दें, पानी भर दें या धुआँ हो तो वह घड़ेके साथ-साथ चलता है।'

वे बोले : 'अच्छा, हम हाथ हिलाते हैं तो पोल हटती जाती और हाथ चलता जाता है या पोल जहाँकी तहाँ रहती और उसमें हाथ चलता है ?

वात इस बार मेरी समझमें नहीं आयी। मैं चुप रह गया। उन्होंने समझाया : 'पोल नहीं चलती, हाथ ही चलता है। इसी प्रकार घड़ेके हटानेसे उसके भीतरकी पोल नहीं हटती।'

कभी आकाशमें सूर्यका प्रकाश होता है, कभी चन्द्रमाकी ज्योत्स्ना छिटकती है। कभी आँधी और कभी बादल आते हैं। ये सब आते-जाते रहते हैं; किन्तु आकाश एकरस रहता है।

अच्छा; क्या इन आने-जानेवाली वस्तुओंसे आकाशका व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है ?

वस्तुतः आकाशमें नीलिमा, प्रकाश या अन्धकार है ही नहीं। आकाश किसीमें प्रविष्ट हुए बिना ही एकरस, शान्त है। उसमें बादल, अन्धड़ आते-जाते, बनते-मिटते हैं। किसी वस्तुके उत्पन्न होनेपर आकाश उसमें प्रविष्ट नहीं होता। वह तो पहलेसे विद्यमान है।

परमात्मा आकाशके समान है। उसमें माया मेघ जैसी है। अनन्त-कोटि-ब्रह्माण्ड उस मायारूपी मेघके बिन्दुके समान हैं। पहले मैं एक श्लोक बोला करता था :

‘कुम्भे विनश्यति चिरं समवस्थिते वा

कुम्भाम्बरस्य नहि कोऽपि विशेषलेशः।

अद्यास्तमेतु

वपुराशशितारमास्तां

नैतावतापि मम चिद्वपुषो विशेषः॥’

घड़ा अभी फूट जाय या बहुत दिन बना रहे, इसमें घटाकाशके लिए लेशमात्र भी कोई विशेषता नहीं है। इसी प्रकार शरीर आज नष्ट हो जाय अथवा आचन्द्र-तारक—प्रलयपर्यन्त बना रहे, इतने मात्रसे मुझ चित्स्वरूपमें कोई विशेषता नहीं होती।

एक घड़ेमें शराब, एकमें मूत्र, एकमें गंगाजल और एकमें अमृत भरा है तो भी घटाकाश तो सबमें एक ही है और निर्लिप्त है। मैं चिदाभास नहीं, चिदाकाश हूँ। आकाशसे न शराबका, न मूत्रका, न गंगाजलका और न अमृतका

२६५]

[गीताका तेरहवां अध्याय

सम्बन्ध है। आकाश अशुद्ध-शुद्ध नहीं होता। इसी प्रकार चिदाकाश आत्माके साथ पाप-पुण्यका कोई सम्बन्ध नहीं होता।

‘यथा सर्वगतः आकाशः न उपलिप्यते।’

जैसे सबमें रहनेवाला आकाश उपलिप्त नहीं होता।

‘कथं न उपलिप्यते ? सौक्ष्म्याद्।’

क्यों उपलिप्त नहीं होता ? सूक्ष्म होनेके कारण। वह इतना सूक्ष्म है कि संसारकी कोई वस्तु आकाशका स्पर्श नहीं कर पाती :

‘तथा सर्वत्रावस्थितो देहे’—सर्वत्र देहे अथवा सर्वत्र च देहे च अवस्थितः आत्मा।

वैसे ही सम्पूर्ण देहमें स्थित आत्मा अथवा इस देहमें भी और सर्वत्र भी वही आत्मा स्थित है।

जैसे स्वप्नके नाना शरीर स्वप्न-द्रष्टाकी दृष्टिमें ही स्थित हैं, वैसे ही आत्मद्रष्टाकी दृष्टिमें ये शीर्यमाण शरीर-क्षण-क्षण छीजनेवाले शरीर स्थित हैं। शरीरके समान ही मन, प्राण, बुद्धि, चित्त, अहं भी नहीं रहते। प्रकृति और माया भी नहीं रहती। अपने अखण्ड स्वरूपमें ये कुछ नहीं रहते।

दीखनेवाली नीलिमाका आकाशसे क्या सम्बन्ध है ? क्या संयोग-सम्बन्ध है जैसे कि वस्त्रका रंगसे होता है ? अथवा समवाय-सम्बन्ध है; जैसे सूतका वस्त्रसे होता है ?

आध्यासिक-सम्बन्ध है। नीलिमा कोई तथ्य नहीं है, केवल प्रतीत होती है। ऐसे ही स्वयंप्रकाश सर्वाधिष्ठान प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्मसे अविद्याका, मायाका, प्रपञ्चका केवल आध्यासिक-सम्बन्ध है। वास्तविक कोई सम्बन्ध नहीं है।

‘यथा सर्वगतः’ : आत्मा एक शरीरमें परिच्छिन्न नहीं है। वह सबका अधिष्ठान है। आकाशमें कोई ऊपर जाय तो क्या उसके वस्त्रमें या हाथमें नीलिमा लगेगी ?

आकाशके लिए ‘सर्वगत’ शब्द आया है और यह ‘सर्वगत’ शब्द आत्माके लिए भी आया है :

‘नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।’

नित्यः अर्थात् कालसे अपरिच्छिन्न, सर्वगतः अर्थात् देशसे अपरिच्छिन्न, स्थाणुः एकरस, अचल-निर्विकार, सनातन-शाश्वत यह आत्मा है।

‘आकाशाद् वायुः वायोरग्निरग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी पृथिव्या अन्नं अन्नादिभूतानि भूतानि जायन्ते।’—श्रुति

आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल, जलसे पृथ्वी, पृथ्वीसे अन्न और अन्नसे ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं।

वायु आकाशके भीतर उत्पन्न होता है। आकाश ज्योंका त्यों रहता है। आकाशके एक देशमें ही वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, अन्न तथा प्राणी उत्पन्न होते हैं।

आकाश अपने कार्योंमें अनुगत है। अपने कार्योंसे वह लिप्त नहीं होता। अन्न हो या न हो, प्राणी रहें या मर जायँ, पृथ्वी रहे या मिट जाय, आकाश अपने आपमें ज्योंका त्यों है। इसी प्रकार आत्मा भी अपने कार्योंमें अनुगत है और अपने कार्योंसे निर्लिप्त है।

आकाश जड़ है। जड़का कार्य जड़के विकारसे—रूपान्तरित होनेसे बनता है। आत्मा चेतन है और चेतनका कार्य उसमें विवर्तमात्र होता है।

‘सर्वत्रावस्थितो देहे’—सर्वत्र देहेषु पशुपक्ष्यादिषु हिरण्यगर्भादिषु।

कीटसे लेकर ब्रह्मपर्यन्त और तृणसे लेकर मायापर्यन्त जितने देह हैं, सबमें आत्मा व्याप्त है।

‘तथात्मा नोपलिप्यते’। चैतन्यका जड़से उपलेप नहीं हो सकता। समान-सत्ताकमें ही उपलेप होता है। शरीर मिट्टीसे बना है, अतः उसमें कीचड़ लग सकता है। असमानसत्ताकमें उपलेप नहीं होता। वायु या आकाशमें कीचड़ नहीं लग सकता। अतः चेतनमें जड़का उपलेप सम्भव नहीं।

स्वप्नमें कीचड़ लगा तो वह स्वप्नके जलसे ही धुलेगा, जाग्रत्के जलसे नहीं धुल सकता। जाग्रत्में कीचड़ लगा तो वह स्वप्नके जलसे नहीं धुल सकता। निवर्त्य-निवर्तकभाव समानसत्ताकमें ही होता है। जड़ देहमें कीचड़ लगा तो जड़ जलसे ही धुलेगा। चेतनके स्वरूपके अज्ञानसे ही चेतनमें मलावलेप भासता है, अतः चेतनके स्वरूपके ज्ञानसे ही उस मलावलेपका भ्रम निवृत्त होगा।

चेतनमें उपलेप केवल भ्रान्ति-जन्य ही है। भ्रान्ति बुद्धिमें होती है। ईश्वरमें ज्ञान है; किन्तु बुद्धि नहीं है। बुद्धि अन्तःकरणमें होती है। कार्यकी उपाधि अन्तःकरणमें जो अहंता-ममता कर बैठा है, भ्रान्ति उसे है। ईश्वरमें अन्तःकरण नहीं है।

‘सर्वगतः’ : सर्वगत आत्मा देहके धर्मसे उपलिप्त नहीं होता। रज्जुमें प्रतीयमान सर्पमें जो विष, क्रूरत्व आदि हैं, वे रज्जुको स्पर्श नहीं करते। यह विष-क्रूरत्वादि तो देखनेवालेकी वृत्तिमें हैं, रज्जुमें नहीं। इसी प्रकार अनन्त, अखण्ड, अद्वय परमात्माको न जानकर जो इस प्रपञ्चको देख रहे हैं, उपलेप उनकी वृत्तिमें है, अधिष्ठानमें नहीं।



• संगति

...प्रश्न उठा कि आकाश तो विभु है और आत्मा प्रतिशरीर भिन्न लगता है, ऐसी अवस्थामें आप आकाशके समान आत्माको कैसे कहते हैं ? इसके उत्तरमें कहते हैं कि आत्मा प्रतिशरीर भिन्न नहीं है ।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।

क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥ ३३ ॥

जैसे एक ही सूर्य इन सब सम्पूर्ण लोकोंको प्रकाशित करता है, हे अर्जुन ! वैसे ही एक ही क्षेत्रज्ञ सम्पूर्ण क्षेत्रोंको प्रकाशित करता है :

‘कृत्स्नं क्षेत्रं प्रकाशयति कृत्स्नं लोकं प्रकाशयति ।’

इस प्रकार एक ही श्लोकमें ‘कृत्स्नं’ शब्द दो बार आया है । यह शब्द महत्त्वपूर्ण है ।

आप क्षेत्रज्ञ हैं : इसका यह अर्थ नहीं है कि आप केवल एक देहके द्रष्टा-प्रकाशक हैं । क्षेत्र केवल देहको नहीं कहा गया है :

‘महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।

इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।

एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥’

यहाँ समष्टिको क्षेत्र कहा गया है । आप इस समष्टि-क्षेत्रमें आकाशके समान सर्वगत हैं और इस समष्टि-क्षेत्रके प्रकाशक हैं । आपका देह पञ्चभूतोंसे नहीं बना है : पञ्चभूतोंमें बना है । पञ्चभूतोंमें यह शरीराकार केवल मानसिक रेखाएँ खिंची हैं ।

एक महात्माने मुझसे एकवार कहा : ‘चेतनकी बात पीछे करेंगे, पहले तुम अपने आपको आकाश समझो ।’ आप अपनेको आकाशसे एक करके अनुभव तो करें । अब आप अपनेको मनुष्य, भारतीय नहीं समझ सकते । आपमें सूर्य-चन्द्र, ग्रह-नक्षत्रोंसहित कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड रक्तमें अणुओंके समान घूम रहे हैं ।

यह शरीर तत्त्व नहीं है । अपनेको मिट्टी समझो तो भी देहकी आन्तिमिट जायगी । आकाश, इन्द्रियाँ और मन भी जिसमें लीन हो जाता है, वह केवल ‘अहं’ है । यह ‘अहं’ तत्त्व भी महत्-तत्त्वमें लीन हो जाता है । और महत्तत्त्व प्रकृतिमें लीन हो जाता है । उस प्रकृतिके द्रष्टा आप क्षेत्रज्ञ हैं । समस्त कार्य एवं कारणका ज्ञाता क्षेत्रज्ञ है । तब भगवान् कहते हैं :

‘क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि ।’

‘यथा प्रकाशयत्येकः’ : दो, तीन, चार आदि संख्याओंमें जो अनुगत हैं, उसके बिना कोई संख्या हो नहीं सकती, उसे एक कहते हैं । एक अनेकको प्रकाशित करता है : ‘इण् गतौ—अन्वेति अनुगच्छति इति एकः ।’

सब संख्याओंमें जो अन्वित संख्या है, उसे एक कहते हैं :

‘सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुः न लिप्यते चाश्रुपैर्वाह्यदोषैः ।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥

—कठोपनिषद्

जैसे सब लोगोंका नेत्राधिदेव सूर्य नेत्रोंके बाहरी दोषोंसे लिप्त नहीं होता, वैसे ही सब प्राणियोंका अन्तरात्मा एक होनेपर भी लोगोंके अन्तःकरणके बाहरी सुख-दुःखसे लिप्त नहीं होता ।

लोग पृथक्-पृथक् हैं; किन्तु सबका नेत्र सूर्य है । सब सूर्यके प्रकाशमें ही देखते हैं । किसीकी नेत्रज्योति तीव्र है, किसीकी मन्द; किसीके नेत्र काने हैं, किसीके अन्धे; किसीके नेत्रमें क्रोध है, किसीके दैन्य । इससे सूर्यका कोई सम्बन्ध नहीं है । इसी प्रकार किसीका अन्तःकरण मूढ़ है, किसीका प्रबुद्ध; किसीका पक्षपाती, रागी है, किसीका विरागी । इस प्रकार भूतों तथा भूतोंके अन्तःकरणकी पृथक्तासे सर्वभूतान्तरात्मा जो सबमें एक ही है, लिप्त नहीं होता । आत्माके साथ सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि अन्तःकरणके धर्मोंका कोई सम्बन्ध नहीं है । प्रतिबिम्बगत दोष बिम्बका स्पर्श नहीं करते । दर्पण मैला है तो प्रतिबिम्ब मलिन दीखेगा; किन्तु इससे तुम्हारा मुख मलिन नहीं हो जाता । कर्ता-भोक्ता, संसारित्व, परिच्छिन्नत्व आदि दोष दर्पणमें हैं, तुममें नहीं हैं ।

अनेक घड़े हैं और सबमें जल भरा है । किसीमें मैला जल है, किसीमें स्वच्छ; किसीमें लाल जल है, किसीमें नीला; किसी घड़ेका जल हिलता है, किसीका स्थिर है । इन सब घड़ोंमें सूर्यका प्रतिबिम्ब पड़ रहा है । प्रतिबिम्ब घड़ोंके जलके कारण मलिन या स्वच्छ, लाल या नीला, हिलता या स्थिर दीख रहा है, किन्तु इससे सूर्यका कोई सम्बन्ध नहीं है ।

मलिन वस्तु देखनेसे क्या नेत्र मलिन हो जाते हैं ? दृश्यगत दोष-गुण दर्शनसे द्रष्टा दोषी या गुणवान् नहीं होता ।

यहाँ एक ही आत्माके लिए बत्तीसवें श्लोकमें आकाशका और इसका तैत्तिरीय श्लोकमें सूर्यका दृष्टान्त दिया गया है । इसका तात्पर्य है कि आत्मा आकाशवत् परिपूर्ण है तथा सूर्यवत् प्रकाशक है । सूर्य परिच्छिन्न है, अतः केवल सूर्यवत् कहनेसे आत्मामें भी परिच्छिन्नत्व प्रतीत होता । आकाशवत् कहनेसे आत्मामें जड़त्व (प्रकाशहीनत्व) की भ्रान्ति होती और उपादानता, परिणामिता आदिका भ्रम होता । इनके निषेधके लिए सूर्यका दृष्टान्त दे दिया । दोनों दृष्टान्तोंको मिलाकर यह सिद्ध हुआ कि अखण्ड प्रकाश ही आत्मा है ।

एक बार मैं किसीके घरमें बैठा था । मैंने देखा कि उसके घरकी दीवारसे दीवारसे प्रकाश निकल रहा है । मैं सोचने लगा—‘यहाँ बल्ब नहीं है, दूसरी कोई बात नहीं है, फिर यहाँसे प्रकाश कैसे निकल रहा है ।’ मैंने ध्यानसे इधर-उधर देखा तो घरमें पानीसे भरी परात (बड़ी थाली) रखी थी । उसके जलमें सूर्यका प्रतिबिम्ब पड़ रहा था । उस प्रतिबिम्बका प्रकाश दीवार पर पड़ता था । दीवारपर चमकदार रंग था । इसलिए दीवारसे प्रकाश निकल

लगता था। दीवारपर प्रकाश कहाँसे आया ? यह देखनेके लिए दृष्टि जलभरे परातपर गयी। परातमें प्रकाश कहाँसे आया ? यह देखनेके लिए दृष्टि सूर्यपर गयी। यही साधन है। हमें यह संसार दिखलायी पड़ रहा है। ये स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी, वृक्ष-लताएँ, भवन-मोटर आदि किसके प्रकाशसे प्रकाशित हो रहे हैं, यह देखनेके लिए ध्यान इन्द्रियोंपर जायेगा। यदि हमारे अन्तःकरणमें चैतन्य-प्रकाश न होता तो संसारमें हमें कुछ दिखलायी न पड़ता। अन्तःकरणमें प्रकाश कहाँसे आया ? अखण्ड प्रकाश ही अन्तःकरणकी उपाधिसे खण्ड-खण्ड होकर अन्तःकरणमें, वहाँसे इन्द्रियोंमें और इन्द्रियोंसे बाहर आकर प्रपञ्चको प्रकाशित कर रहा है। इस प्रकार प्रतिविम्ब-अनुसन्धान होता है।

आप सूर्यवत् प्रकाश-स्वरूप हैं। सूर्य निर्लेप है। एक मनुष्य सूर्यको नहीं जानता। वह प्रतिविम्बको पकड़ना चाहता है तो सूर्य उसे मिलेगा ? कोई दर्पणमें प्रतिविम्बकी नाक पकड़ना चाहे तो क्या प्रतिविम्बकी नाक पकड़ी जायगी ? नाक तब पकड़ी जायगी, जब विम्बकी नाक पकड़ी जाय।

पक्षी दर्पणमें अपने प्रतिविम्बसे लड़ते हैं, क्योंकि पक्षीको अज्ञान है। वह प्रतिविम्बको पक्षी समझता है। प्रतिविम्बसे विम्बका विवेक होता है; किन्तु प्रतिविम्बगत दोष-गुण विम्बमें आरोपित नहीं होते :

‘एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
सर्वाध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥’

एक ही देवता सम्पूर्ण प्राणियोंमें छिपा है। वह सर्वव्यापी है। समस्त प्राणियोंकी अन्तरात्मा है। वही सबका अध्यक्ष है। वह सब प्राणियोंके भीतर ही रहता हुआ, सबका साक्षी, सबको चैतन्यता देनेवाला, अद्वितीय और निर्गुण है।

सूर्यके प्रकाशमें केवल प्रकाशात्मक वस्तुओंका ही ज्ञान होता है। सूर्य केवल रूपका ही ज्ञान करानेमें समर्थ है। प्रकाशमें प्रकाशके ही अवान्तर भेद देखे जा सकते हैं। प्रकाशातिरिक्त वस्तु प्रकाशसे नहीं देखी जा सकती। सूर्यके प्रकाशमें घट नहीं दीखता। घटका केवल रूप दीखता है। इसका अर्थ है कि एक ही ज्ञानतत्त्व अध्यात्म, अधिदैव एवं अधिभूत रूपमें प्रकट हो रहा है।

जैसे शब्द-तन्मात्रा परिणामको प्राप्त होकर सत्त्व, रज, तम गुणोंके भेदसे वतारूप, करणरूप और विषयरूप ग्रहण करती है, वैसे ही चैतन्य-परिणामको ही प्राप्त होता। शब्द जड़ होनेसे परिणामी है; किन्तु चैतन्यमें परिणाम नहीं होता। वह अपरिणामी और द्रष्टा करण तथा दृश्यके रूपमें भासता है। चेतनसे सजीव, जगत् एवं ईश्वर प्रकाशित होते हैं, अतः अखण्ड चैतन्य ही जीव, जगत् तथा ईश्वरके रूपमें व्यक्त हो रहा है। चूँकि चैतन्य परिणामी नहीं होता, अतः अखण्ड चैतन्यसे भिन्न न जीव हैं, न जगत्, और न ईश्वर। एक अखण्ड चैतन्य सत्ता ही इन सब रूपोंमें भासमान है।



● संगति

...इस निरूपणमें अबतक क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ आया, दोनोंके अन्तरका वर्णन आया, ज्ञान एवं ज्ञेयका वर्णन आया; किन्तु मोक्षका वर्णन नहीं आया था। अब अगले श्लोकमें मोक्षका वर्णन करते हैं। यह ऐसे मोक्षका वर्णन नहीं है, जो मरनेपर या कहीं जाकर मिलता है। यह अभी, यहीं मिलनेवाले मोक्षका वर्णन है। भगवान् शंकराचार्य इस श्लोककी संगतिके सम्बन्धमें कहते हैं :

‘समस्ताध्यायोपसंहारार्थः प्रोक्तोऽयं श्लोकः।’

पूरे अध्यायके तात्पर्यका उपसंहार करनेके लिए यह श्लोक कहा गया है :

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।

भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ ३४ ॥

॥ ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे क्षेत्रक्षेत्रज्ञ-विभागयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥

जो इस प्रकार ज्ञानरूपी नेत्रोंसे क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञका अन्तर तथा भूत-प्रकृति एवं उससे मोक्षको जानते हैं, वे परम गतिको प्राप्त होते हैं।

‘ये ज्ञानचक्षुषा विदुः’ : जो ज्ञानके नेत्रोंसे जानते हैं; क्या ?

‘क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं भूतप्रकृतिमोक्षं च ।’

क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञका ऐसा अन्तर और भूतप्रकृतिमोक्ष ‘ते परं यान्ति’ के परमपदको जाते हैं।

‘ये’ अर्थात् जो अधिकारी पुरुष, इसका तात्पर्य है कि सब इसको नहीं जान सकते। लेकिन जान लें तो वे कोई भी हों—‘परं यान्ति’ परमगतिको जानते हैं।

मनुष्यके मनमें संस्कार जड़ जमाये बैठे हैं। बहुत-से लोग अपने शरीरके ‘अहं’ को नहीं छोड़ सकते। कोई स्त्री-पुत्रादिकी ममता नहीं छोड़ सकते। कोई जाति-सम्प्रदाय, प्रदेशादिमें आग्रह नहीं छोड़ सकते। किसीके मनमें स्वर्गादि लोकान्तर-प्राप्तिका आग्रह बद्धमूल है। कोई वेद-शास्त्र-पुराणका आग्रह नहीं छोड़ पाते। लोग अपने-अपने स्थानपर बँधे हैं। जो अपने मनमें बैठे संस्कारों

समझकर उनसे अपना पार्थक्य अनुभव नहीं कर सकता, अपने संस्कारोंके त्यागके लिए प्रस्तुत नहीं है, अपनी भ्रान्ति-कालीन धारणाकी ही पुष्टि चाहता है, उसे सत्यका ज्ञान नहीं हो सकता।

सत्यके ज्ञानके लिए अपने समस्त पूर्वाग्रहोंका त्याग करनेके लिए प्रस्तुत अधिकारी चाहिए। इसलिए क्षेत्रके निरूपणमें अधिकारीका निरूपण नहीं है; किन्तु क्षेत्रज्ञके निरूपणसे पूर्व 'अमानित्वमदम्भित्वम्' आदि अन्तःकरणशुद्धिके साधन बतलाये गये हैं। अतएव यहाँ 'ये' का अर्थ है :

‘अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।’

इससे सम्पन्न वे अधिकारी जो निश्चय करते हैं कि 'हम सत्यको स्वीकार करेंगे और हमारे जीवनमें जो असत्य होगा, उसका परित्याग करेंगे।'

जैसे पूर्वमीमांसामें यज्ञका अधिकारी श्रीशबरस्वामीने बतलाया है :

‘अर्थी समर्थः विद्वान् शास्त्रेणापर्युदस्तः।’

१. अर्थी : स्वर्ग चाहता हो। २. समर्थ : धन, स्वस्थ देह, सहायक तथा सामग्री-सम्पन्न हो। ३. विद्वान् : शास्त्रज्ञ हो। ४. शास्त्रेणापर्युदस्तः : शास्त्रके द्वारा उस यज्ञका वह अनिषिद्ध अधिकारी हो।

वेदान्तज्ञानमें अधिकारी वह है जो १. वैराग्यवान् हो। धन, परिवार, वैहिक सुख आदिका महत्त्व उसके मनमें न हो। २. यथार्थ-ज्ञानका आकांक्षी जिज्ञासु हो। यही इसमें अर्थी होना है। ३. समर्थ : सामर्थ्य हो देखनेकी :

‘दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।’

यह आत्मतत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म अग्रगामिनी बुद्धिसे सूक्ष्मदर्शियोंको दीखता, अनुभूत होता है। अतः सूक्ष्मबुद्धिसे युक्त हो। अमानित्वादि साधन-सम्पन्न हो। ४. विद्वान्-ज्ञानचक्षुष्मान् अर्थात् श्रवण-सम्पन्न हो।

‘ज्ञानचक्षुषा’ : ज्ञानचक्षु क्या ? जन्म-जन्मान्तरके अर्जित संस्कारोंसे निर्मुक्त दृष्टि चाहिए। संस्कारोंसे संस्कारित प्रक्षालित ज्ञान नहीं चाहिए। इसमें न गुणाधान-रूप संस्कार अपेक्षित हैं, न दोषापनयन-रूप संस्कार ही चाहिए। जहाँ ज्ञानमें-से सर्वथा बाह्यार्थ निकाल दिये गये हों, उस ज्ञानचक्षुसे वातें देखी जाती हैं : १. क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका अन्तर और २. भूतप्रकृतिमोक्ष।

‘क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं’ : पहले वैलक्षण्य समझना पड़ता है। घड़ा जिनमें रखा—घटाकाश, भवनाकाश, बाह्याकाश सब एक हैं। इसी प्रकार एक क्षेत्रमें भासमान ज्ञान, एक ब्रह्माण्डमें भासमान ज्ञान तथा पूर्ण प्रकृतिमण्डलमें भासमान ज्ञान एक ही है।

पहले क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, जड़-चेतन, दृश्य-द्रष्टाका भेद समझो। यह समझो कि क्षेत्रविषय और एक विषयी है। क्षेत्र सविकारी, अनित्य और बदलनेवाला है क्षेत्री निर्विकार, नित्य, निर्विषय है। देश, काल, वस्तु सब क्षेत्रकी उपाधियाँ हैं। क्षेत्रज्ञमें देश, काल, वस्तु-रूप क्षेत्रकी उपाधिसे ही दृश्य है; तत्त्वतः क्षेत्र मिथ्या है। क्षेत्रज्ञ सत्य है।

ब्रह्मज्ञान और उसकी साधना]

• [२]

इस ज्ञानका फल ?

‘भूतप्रकृतिमोक्षं च’ : क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके अन्तरको समझनेपर यह स्फुर निकल आया। भूतका अर्थ है कार्य और प्रकृति है कारण, मोक्ष अर्थात् दोनोंका अभाव। इसे जो जानते हैं ‘यान्ति ते परम्’।

श्री शङ्कराचार्य भगवान्ने कहा :

‘भूतानां प्रकृतिरविद्यालक्षणा अव्यक्ताख्या, तस्य भूतप्रकृतेर्मोक्षणमभगमनं ये विदुः जानन्ति।’

भूतोंकी अविद्यालक्षणा प्रकृतिका, जिसे अविद्या कहा जाता है, में अर्थात् उसका अभाव होना अविद्यानिवृत्तिको जो जानते हैं। अर्थात् जो जानते हैं कि विषय-विषयी, ज्ञेय-ज्ञाता, दृश्य-द्रष्टा, मिथ्या-सत्य ये भेद परमात्मनहीं हैं :

‘ते परं यान्ति’-परमार्थतत्त्वं ब्रह्म न पुनर्देहमादत्ते इत्यर्थः।

वे अपनेको परमार्थ-तत्त्व ब्रह्म अनुभव कर लेते हैं। उन्हें फिर जन्म-मरण-नरक-स्वर्गके चक्रमें नहीं पड़ना पड़ना। वे फिर देह धारण नहीं करते।

● उपसंहार

इस तेरहवें अध्यायकी समाप्ति : ‘ये विदुर्यान्ति ते परम्।’ से हुई है और आगे चौदहवें अध्यायका प्रारम्भ : ‘परं भूयः प्रवक्ष्यामि’ से हुआ है। यह तत्त्व सबसे परे है :

‘पिपर्ति इति परः।’

जो सबको सत्ता-स्फूर्ति देकर सबका पालन-पोषण करता है, वह अखण्ड, नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त अपना आत्मतत्त्व ही पर है।

॥ क्षेत्र-क्षेत्रज्ञविभागयोग नामक त्रयोदश अध्याय समाप्त ॥

5

